श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह तीसरे भाग

के

खर्च का व्यौरा

प्रति ५००

कागज ३०॥ रीम, २१) प्रति रीम =	६४०॥)
(साइज १८ × २२ = $\frac{१}{८}$, अट्ठाईस पौण्ड)	
छपाई ७) प्रति फार्म, ६१ फार्म ८ पेजी =	४२७)
जिल्द बंधाई ।) एक प्रति	१२५)
	११९२॥)

ऊपर बताये गये हिसाब के अनुसार एक पुस्तक की लागत कागज के भाव बढ़ जाने से २।=) करीब पड़ी है। ग्रन्थ तैयार कराना, प्रेस कापी लिखाना तथा प्रूफ रीडिङ्ग आदि का खर्चा इसमें नही जोड़ा गया है। इसके जोडने पर तो ग्रन्थ की कीमत ज्यादा होती है। ज्ञानप्रचार की दृष्टि से कीमत केवल २) ही रखी गई है, वह भी पुनः ज्ञानप्रचार में ही लगाई जायगी।

नोट—इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या ४५८ + ३० = कुल मिलाकर ४८८ और वजन लगभग १३ छटांक है। एक पुस्तक मंगाने मे खर्च अधिक पड़ता है। एक साथ पांच पुस्तकें रेल्वे पार्सल से मंगाने मे खर्च कम पड़ता है। मालगाड़ी से मंगाने पर खर्च और भी कम पड़ता है।



पुस्तक मिलने का पता—

अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन ग्रन्थालय,

बीकानेर (राजपूताना)

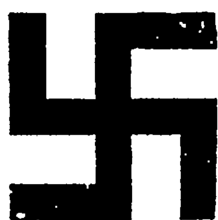


भैरोदान सेठिया

संस्थापक—

सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

(जन्म— विजयादशमी सम्वत १९२३)



श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

१ अध्यक्ष- श्री दानवीर सेठ भैरोदानजी सेठिया।

२ मन्त्री- श्री जेठमलजी सेठिया।

३ उपमन्त्री- श्री माणकचन्दजी सेठिया।
'साहित्य भूषण'

लेखक मण्डल

४ श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री B. A शास्त्राचार्य्य, न्यायतीर्थ, वेदान्तवारिधि।

५ श्री रोशनलाल चपलोत B A न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्ततीर्थ, विशारद।

६ श्री श्यामलाल जैन M. A न्यायतीर्थ, विशारद।

७ श्री घेवरचन्द्र बाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ।

संक्षिप्त विषयसूची

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह द्वितीय भाग

पर

सम्मतियाँ

'स्थानकवासी जैन' अहमदाबाद ता० ४-१-४१ ई०

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह [द्वितीय भाग] छट्ठा और सातवाँ बोल। संग्रह कर्ता - शेठ भैरोदानजी शेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर। पाकु, पुठ, मोटी साईज, पृष्ठ संख्या ४७५। मूल्य रु० १-८-०।

जैन आगमो माँ (१) द्रव्यानुयोग (२) गणितानुयोग (३) कथानुयोग अने (४) चरणकरणानुयोग एवा चार विभागो पाडवा मा आव्या छे तेमा सौथी प्रथम द्रव्यानुयोग छे जेनु जाणपणु श्रावक साधु वर्ग सौथी प्रथम करवानु होय छे। ए जाणपणा पछीज बीजा विषय मा दाखल थतां ज्ञान विकास थाय छे। द्रव्यानुयोग एटले जैन धर्म नुं तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञान ना फेलावा माटे शक्य प्रयत्नो करवा जोईए।

श्रीमान् शेठ भैरोदानजी जैन तत्त्वज्ञान जाणवा अने जनता ने जणाववा केटला उत्सुक छे ते आ प्रकाशन पर थी जणाय छे। तेओ ए प्रथम भाग प्रसिद्ध करी एकथी पांच बोल सुधीनु वृतान्त अगाउ आप्युं हतुं।

आजे छठा अने सातवा बोल नुं वृत्तान्त आ ग्रन्थ द्वारा अपाय छे। आ पुस्तक ने पांच भाग मा पूर्ण करवा इच्छा राखेल, पण जैन ज्ञान भंडार समृद्ध होवा थी जेम जेम वधारे अवलोकन थतुं जाय छे तेम तेम वधारे रत्नो सापडता जता होई हवे धारवा मां आवे छे के कदाच पूर्ण करतां दश भाग पण थाय।

ठाणांग सूत्र मां १--२--३-४--५ एवा बोलो नजरे पडे छे पण ते संपूर्ण न

होई शेठियाजीअे महा परिश्रम द्वारा अनेक विद्वान् साधुओं अने अनेक सूत्रो,भाष्यो, टीका अने चूर्णीवाला आगमो नो आश्रय लई बने तेटला वधु बोलो संग्रहवानो श्रम सेव्यो होइ आ गून्थ मात्र ६ अने ७ अेम बे ज बोल मां ४५० पृष्ठ मां पूरो कर्यो छे।

जैन धर्मनी माहीति मेलववा इच्छनार आ ग्रन्थ नुं वारीकाइ थी अवलोकन करे तो ते मोटी ज्ञान सम्पत्ति मेलवी शके।

बोलो ने टुंकाववा न इच्छतां स्वरूप पण दर्शाव्युं होइ ओछा जिज्ञासु ने पण वाचवानी प्रेरणा थाय छे। परदेशी राजा ना छ प्रश्नो,छ आरा,बौद्ध चार्वाक सांख्यादि छ दर्शनो नुं स्वरूप,मल्लिनाथादि सात जणे साथे दीक्षा लीधेल तेनुं वृत्तांत,सात निन्हव, सप्तभंगी वगेरे अेक पछी अेक अेवी अनेक रसीक अने तात्त्विक बाबतो जाणवानी सहज उत्कंठा थई आवे छे।

आवा प्रयास नी अनिवार्य आवश्यकता छे अने तेथी ज तेनुं गूर्जर भाषा मा अनुवाद करवा मा आवे तो अति जरूर नुं छे। साथे साथे दरेक धार्मिक पाठशाला मा आ ग्रन्थ पाठ्य पुस्तक तरीके चलाववा जेवुं छे। एटलुं ज नहीं पण अमे मानीए छीये के कोलेज मा भणता जैन विद्यार्थियों माटे पण युनीवरसीटी तरफ थी मान्य थाय अे इच्छवा योग्य छे।

बे रुपीया पडतर किमत होवा छता रु० १॥ राखवा मां आव्यो छे। अने तेनो उपयोग पण आवा प्रकाशन मां ज थवानो छे अे जाणी आ ग्रन्थ ने आवकार आपतां अमने हर्ष थाय छे।

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय भट्टारक श्रीमज्जैनाचार्य व्याख्यान वाचस्पति विजययतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहेब, बागरा (मारवाड़)

बीकानेर-निवासी सेठ भैरोदानजी सेठिया का संगृहीत 'श्री जैनसिद्धान्त बोल संग्रह' का प्रथम और द्वितीय भाग हमारे सन्मुख है। प्रथम भाग में नम्बर १ से ५ और द्वितीय भाग में ६ और ७ बोलो का संग्रह है। प्रत्येक बोल का संक्षेप में इतनी सुगमता से स्पष्टीकरण किया है कि जिसको आबाल वृद्ध सभी आसानी से समझ सकते हैं। जैन वाङ्मय के तात्त्विक विषय में प्रविष्ट होने और उसके स्थूल रूप को समझने के लिए सेठियाजी का संग्रह बड़ा उपयोगी है। विशेष प्रशंसास्पद बात यह है कि बोलों की सत्यता के लिए ग्रन्थों के स्थान निर्देश कर देने से इस संग्रह का सन्मान और भी अधिक बढ़ गया है। सम्पूर्ण संग्रह प्रकाशित हो जाने पर यह जैन संसार में ही नहीं. सारे भारतवासियों के लिये समादरणीय और शिक्षणीय बनने की शोभा को प्राप्त

करेगा। अस्तु ! हिन्दी संसार में एतद्विषयक संग्रह की आवश्यकता इसने पूरी की है। तारीख १५। ६।१६४१।

सिंध (हैदराबाद) सनातन धर्म सभा के प्रेसीडेन्ट, न्याय संस्कृत के प्रखर विद्वान् तथा अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन, फ्रेंच आदि बीस भाषाओं के ज्ञाता श्री सेठ किशनचन्द जी, प्रो० पुहुमल ब्रदर्स

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' के दोनों भाग पढ़ कर मुझे अपार आनन्द हुआ। जैन दर्शन के पाठकों के लिए ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी हैं। पुस्तक के संग्रह कर्ता दानवीर श्री भैरोदानजी सेठिया तथा उनके परिवार का परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। इस रचना से सेठियाजी ने जैन साहित्य की काफी सेवा की है। श्रावण शुक्ला १० संवत १६६८।

सेठ दामोदरदास जगजीवन, दाम नगर (काठियावाड़)

आपकी दोनों पुस्तकें मैं आद्यन्त देख गया। आपने बहुत प्रशंसा पात्र काम उठाया है। ये ग्रन्थ ठाणांग समवायांग के माफिक खुलासा (Reference) के लिए एक बड़ा साधन पाठक और पंडित दोनों के लिए होगा।

बहुत दिन से मैं इच्छा कर रहा था कि पारिभाषिक शब्दों का एक कोष हो। अब मेरे को दीखता है कि उस कोष की जरूरत इस ग्रन्थ से पूर्ण होगी।

साथ साथ टीका में से जो अर्थ का अवतरण किया है उसमें पंडितों ने दोनों भाषाओं और भावों पर अच्छी प्रभुता होने का परिचय कराया है। ता० १७-६ ४१

श्री पूनमचन्द जी खींवसरा सन्मानित प्रबन्धक श्री जैन वीराश्रम ब्यावर और आविष्कारक एल. पी. जैन संकेतलिपि (शार्टहैण्ड),

बोल संग्रह नामक दोनों पुस्तकें देख कर अति प्रसन्नता हुई। शास्त्र के भिन्न भिन्न स्थलों में रहे हुए बोलों का संग्रह करके सर्व साधारण जनता तक जिन वचन रूप अमृत को पहुँचाने का जो प्रयत्न आपने किया है वह बहुत प्रशंसनीय है। हरेक आदमी शास्त्रों का पठन पाठन नहीं कर सकता लेकिन इन पुस्तकों के सहारे अवश्य लाभ उठा सकता है।

बोर्डिंग व पाठशाला आदि से विद्यार्थियों को योग्य बनाने के सिवाय सर्व साधारण जनता तक को जिन प्ररूपित तत्त्व ज्ञान रूप अमृत पिलाने का जो प्रयत्न आपने किया है वह भी जैन धर्म के प्रचार के लिए आपकी अपूर्व सेवा है। १८-१०-४१

डाक्टर बनारसीदास M. A. Ph. D. प्रोफेसर ओरियन्टल कालेज लाहोर।

पुस्तक प्रथम भाग की शैली पर है। छ दर्शन तथा सात नय का स्वरूप सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है। बोलसग्रह एक प्रकार की फिलोसोफिकल डिक्सनरी है। जब सब भाग समाप्त हो जाय तो उनका एक जनरल इन्डेक्स पृथक् छपना चाहिये जिससे संग्रह को उपयोग में लाने की सुविधा हो जाय। ता० २५-८-४१।

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल, न्यायतीर्थ। मुख्याध्यापक, श्री जैन गुरुकुल ब्यावर।

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' द्वितीय भाग प्राप्त हुआ। इस कृपा के लिए अतीव आभारी हूँ। इस अपूर्व संग्रह को तैयार करने में आप जो परिश्रम उठा रहे हैं वह सराहनीय तो है ही, साथ ही जैन सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिए आशीर्वाद रूप भी है। जिस में जैन सिद्धान्तशास्त्रों के सार का सम्पूर्ण रूप से समावेश हो सके ऐसे संग्रह की अत्यन्त आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति आप श्रीमान् द्वारा हो रही है। आपके साहित्य प्रेम से तो मैं खूब परिचित हूँ, पर ज्यों ज्यों आपकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों साहित्य प्रेम भी बढ़ रहा है, यह जानकर मेरे प्रमोद का पार नहीं रहता।

मेरा विश्वास है, बोल संग्रह के सब भाग मिल कर एक अनुपम और उपयोगी चीज़ तैयार होगी।

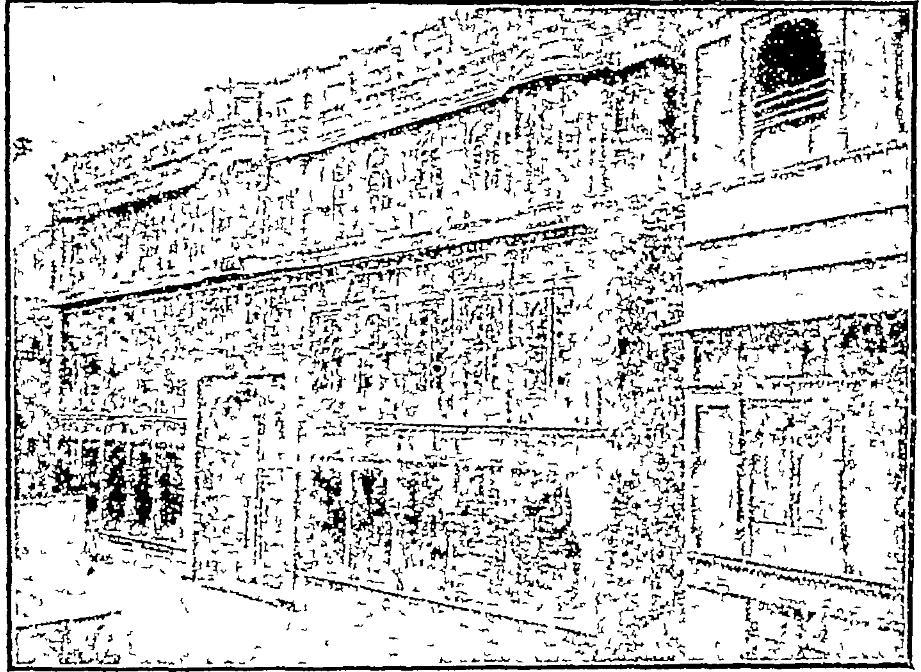
श्री आत्मानन्द प्रकाश, भावनगर।

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग) संग्रहकर्त्ता भैरोदान सेठिया। प्रकाशक सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर। कीमत एक रुपया।

आ ग्रन्थ मा ४२३ विषयों के जे चारे अनुयोग मां वहेंचायेला छे ते प्रायः आगमग्रन्थों ना आधार पर लखायेला छे अने सूत्रोनो साक्षी आपी प्रामाणिक बनावेल छे। पछी अकारादि अनुक्रमणिका पण शुरुआत मा आपी जिज्ञासुओना पठन पाठन मा सरल बनावेल छे। आवा ग्रन्थों थी वाचको विविध विषय नुं ज्ञान मेलवी शके छे। आवो संग्रह उपयोगी मानीए छीए अने मनन पूर्वक वांचवानी भलामण करीए छीए जे सुन्दर टाइप अने पाका बाईडींग थी तैयार करवा मां आवेल छे।

पुस्तक ३८ मुं अंक ८ मो मार्च। विक्रम सं० १९९७ फाल्गुण।

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर



अज्ञानं तमसां पतिं विदलयन् सत्यार्थमुद्भासयन् ।
भ्रान्तान् सत्पथ दर्शनेन सुखदे मार्गे सदा स्थापयन् ॥
ज्ञानालोक विकासनेन सततं भूलोकमालोकयन् ।
श्रीमद्भैरवदानमानपदवी पीठः सदा राजताम् ॥

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

की

संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट

(ता० १ जनवरी सन् १६४० से ३१ दिसम्बर तक)

बालपाठशाला विभाग

इस विभाग में विद्यार्थियों के पठन पाठन का प्रवन्ध है और हिन्दी, धर्म, अंग्रेजी गणित, इतिहास, भूगोल और स्वास्थ्य आदि की शिक्षा दी जाती है।

कक्षाएं इस प्रकार हैं–

(१) जूनियर (ए)	(३) सीनियर	(५) प्राइमरी
(२) जूनियर (बी)	(४) इन्फैन्ट	(६) अपर प्राइमरी

इस वर्ष रतलाम बोर्ड की 'साधारण' परीक्षा में नीचे लिखे विद्यार्थी बैठे और उत्तीर्ण हुए–

(१) भँवरलाल मथेरण	(३) चांदमल डागा	(५) मेघराज ठंठारा
(२) मूलचन्द बोथरा	(४) तिलोकचन्द सुराणा	(६) माणकचन्द सुराणा

इस वर्ष बालपाठशाला में छात्रों की संख्या २०० रही। सालाना उपस्थिति ६६ प्रति शत रही। परीक्षा परिणाम ५४ प्रति शत रहा।

विद्यालय विभाग

इस विभाग में धर्म, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि की उच्च शिक्षा दी जाती है। इस वर्ष हिन्दी में पंजाब युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में नीचे लिखे अनुसार विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए।

हिन्दी प्रभाकर

(१) भीखमचन्द सुराणा	(३) गोपालदत्त शर्मा	(५) रामेश्वरप्रसाद गुप्त
(२) राजकुमार जैन	(४) ऊधोदास शर्मा	(६) भवानीदत्त शर्मा
		(७) कानदान शर्मा

हिन्दी भूषण

(१) कवीरचन्द बैद (२) भरतचन्द गोस्वामी

हिन्दी रत्न

(१) मोतीचन्द राजानी — (२) राधारमन शर्मा
(३) दीनदयाल शर्मा — (४) रूपनारायण माथुर

इस वर्ष न्यायतीर्थ की कक्षा प्रारम्भ की गई, क्योंकि श्रीरत्नकुमार, श्रीमदनकुमार तथा श्रीकन्हैयालाल दक जो हाल ही में अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्यों के लिए संस्था मे प्रविष्ट हुए थे, वे इस परीक्षा की तैयारी करना चाहते थे। न्यायतीर्थ की परीक्षा जनवरी सन् १९४१ में होगी।

इस वर्ष विद्यालय विभाग की ओर से पण्डितों ने जाकर ३ सन्त मुनिराजों को एवं १० महासतियाजी को संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी सूत्र एवं स्तोत्र आदि का अध्ययन कराया।

सेठिया नाइटकालेज

इस वर्ष कालेज विभाग के अन्तर्गत श्रीमान पूनमचन्दजी खींवसरा ब्यावर द्वारा आविष्कृत एल० पी० जैन की संकेतलिपि (हिन्दी शार्ट हैन्ड) की कक्षाओं की आयोजना की गई। इस नई आयोजना का इतना जबर्दस्त स्वागत हुआ कि थोड़े ही समय में बहुत से शिक्षार्थी इस कक्षा में भरती होगए। यह कक्षा अच्छी प्रगति कर रही है।

आजकल जर्नालिज्म के युग में शार्टहैन्ड की कला का बड़ा महत्त्व है। इसी महत्व और समय की माग का अनुभव करके संस्था ने यह कार्य आरम्भ किया है। इस कला के अध्यापन के लिए संस्था ने खींवसराजी के सुशिष्य प० घेवरचन्दजी बाठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्तशास्त्री न्याय व्याकरण तीर्थ को जो कि हिन्दी शार्ट हैन्ड के अच्छे ज्ञाता और सुयोग्य हैं, नियुक्त किया है।

कालेज से आगरा पंजाब और राजपूताना बोर्ड की मैट्रिक एफ, ए और बी ए. परीक्षाएँ दिलवाई जाती हैं। इस वर्ष निम्न लिखित परीक्षाओं में विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए-

बी ए आगरा ५। एफ. ए २। मैट्रिक पंजाब ८। मैट्रिक राजपूताना १।

इस वर्ष संस्था की ओर से पं० रोशनलालजी चपलोत बी. ए. न्याय काव्य-सिद्धान्त तीर्थ LL B. का अध्ययन करने के लिए इन्दौर भेजे गए।

कन्या पाठशाला

इस पाठशाला में कन्याओं को हिंदी गणित धार्मिक आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है तथा सिलाई और कशीदे का काम भी सिखाया जाता है। इस वर्ष रतलाम बोर्ड की साधारण परीक्षा में ४ कन्याएँ सम्मिलित हुई और चारों ही उत्तीर्ण हुई।

इस साल श्रीमती फूलीबाई नई अध्यापिका की नियुक्ति हुई। कन्याओं की संख्या ७० रही। उपस्थिति ६४ प्रतिशत रही। परीक्षा परिणाम ६३ प्रतिशत रहा।

श्राविकाश्रम

इस वर्ष श्राविकाश्रम में केवल एक ही श्राविका ने विद्याभ्यास किया।

उपहार विभाग

इस विभाग की ओर से रु० ११७) की श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह और रु० ४८॥।≈) की अन्य पुस्तकें कुल रु० १६५॥।≈) की भेंट दी गई।

शास्त्र-भण्डार (लायब्रेरी)

इस वर्ष हिन्दी, अंग्रेजी और शास्त्र आदि विभिन्न विषयों की २२३ पुस्तकें मंगवाई गईं।

वाचनालय

इस विभाग में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक पत्र पत्रिकाएँ आती हैं।

ग्रन्थ प्रकाशन विभाग

इस वर्ष इस विभाग में नीचे लिखी पुस्तकें छपाई गई—

(१) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह प्रथम भाग।

(२) पच्चीस बोल का थोकड़ा (छठी आवृत्ति)।

(३) पाँच समिति तीन गुप्ति का थोकडा (दूसरी आवृत्ति)।

प्रिंटिंग प्रेस (मुद्रणालय)

इस वर्ष पुन: प्रेस का कार्य नये रूप से प्रारम्भ किया गया। एक नई बिजली की मशीन जिसका कि नाम मनोपोल है, ३०००) रु० में मंगवाई गई। जगात और मंगवाने का खर्चा अलग है। साथ ही नये टाइप भी मंगवाये गये। इस समय प्रेस का कार्य बहुत सुन्दर ढंग से चल रहा है।

संस्था के वर्तमान कार्य कर्त्ता

१ श्री शम्भूदयालजी सकसेना साहित्यरत्न।
२ ,, मा० शिवलालजी मेटिया।
३ ,, माणिकचन्द्रजी भट्टाचार्य एम. ए. बी. एल।
४ ,, शिवकाली सरकार एम. ए.।
५ ,, ज्योतिषचन्द्रजी घोष एम. ए. बी. एल।
६ खुशालीरामजी चनोट बी. ए. एल एल. बी.।

७ ,, इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री बी. ए. वेदान्त वारिधि शास्त्राचार्य न्यायतीर्थ ।
८ ,, रोशनलालजी जैन बी. ए. न्याय-काव्य-सिद्धान्ततीर्थ विशारद ।
९ ,, श्यामलालजी जैन एम. ए., न्यायतीर्थ विशारद ।
१० ,, घेवर चन्द्रजी बाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ ।
११ ,, पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा शास्त्री
१२ ,, धर्मसिंहजी वर्मा शास्त्री विशारद
१३ ,, हुकम चन्दजी जैन
१४ ,, रत्नकुमारजी मेहता विशारद
१५ ,, कन्हैयालालजी दक विशारद
१६ ,, मदनकुमारजी मेहता विशारद
१७ ,, भीखमचन्दजी सुराणा हिन्दी प्रभाकर
१८ ,, राजकुमारजी जैन हिन्दी प्रभाकर
१९ ,, रुगलालजी महात्मा
२० श्री फकीरचन्दजी पुरोहित
२१ ,, नंदलालजी व्यास
२२ ,, किशनलालजी व्यास
२३ ,, भीमराजजी मालू
२४ ,, मूलचन्दजी सीपाणी
२५ ,, पानमलजी आसाणी
२६ ,, मगनमलजी गुलगुलिया
२७ ,, मीनाराम माली

कन्या पाठशाला

२८ श्रीमती रामप्यारी बाई
२९ ,, फूली बाई
३० ,, गोराबाई
३१ श्री रतनी बाई
३२ ,, भगवती बाई

सेठिया प्रिंटिंग प्रेस

३३ श्री गोपीनाथजी शर्मा
३४ ,, फूसराजजी सीपाणी
३५ ,, गुलामनबी
३६ ,, रतनलालजी सुराणा
३७ ,, मगनमलजी सीपाणी
३८ ,, रामलालजी कातेला
३९ ,, मूलचन्दजी राजपूत

कलकत्ते के मकानों का किराया १६६७८॥) व व्याज रु० ३४४८) आए जिसमें १३६३॥-) बालपाठशाला, विद्यालय, नाइट कालेज, कन्या पाठशाला, ग्रन्थालय आदि में खर्च हुए। तथा श्रीमान् सेठ श्री भैरोदानजी साहब ने ५०००) रु० ज्ञानसाहित्य खाते अपने पास से नए दिए।

दो शब्द

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का तीसरा भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमें आठवें, नवें और दसवें बोलों का संग्रह है। साधुसमाचारी से सम्बन्ध रखने वाली अधिक बातें इसी में है। पाठकों की विशेष सुविधा के लिए इसमें विषयानुक्रम सूची भी पूरी दे दी गई है।

पुस्तक की शुद्धि का पूरा ध्यान रखने पर भी दृष्टि दोष से कहीं कहीं अशुद्धियाँ रह गई है। उनके लिये शुद्धिपत्र अलग दिया है। जो अशुद्धियॉ उद्धृत प्रमाण ग्रन्थों में है, उन्हें शुद्ध करके विषयानुक्रम सूची में भी दे दिया गया है। आशा है, पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे। इनके सिवाय भी कोई अशुद्धि छूट गई हो तो पाठक महोदय उसे सुधार लेने के साथ साथ हमें भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में सुधार ली जॉय। इस के लिए हम उनके आभारी होंगे।

कागजों की कीमत बहुत बढ़ गई है। छपाई का दूसरा सामान भी बहुत मँहगा हो रहा है इसलिए इसबार पुस्तक की कीमत २) रखनी पड़ी है। यह भी कागज और छपाई में होने वाले असली खर्च से बहुत कम है।

चौथे भाग की पाण्डुलिपि तैयार है। ग्यारहवें से चौदहवें बोल तक उसके पूरा हो जाने की संभावना है। पॉचवॉ भाग लिखा जा रहा है। वे भी यथा सम्भव शीघ्र पाठकों के सामने उपस्थित किये जाँयगे।

मार्गशीर्ष शुक्ला पचमी
संवत् १९९८
जैन प्रेस, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

आभार प्रदर्शन

जैन धर्म दिवाकर पंडितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करके आवश्यक संशोधन किया है। परम प्रतापी पूज्य श्री हुक्मी चन्दजी महाराज के पट्टधर पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के सुशिष्य मुनि श्री पन्ना लालजी महाराज ने भी देशनोक चतुर्मास में तथा बीकानेर में पूरा समय देकर परिश्रम-पूर्वक पुस्तक का ध्यान से निरीक्षण किया है। बहुत से नए बोल तथा कई बोलों के लिए सूत्रों के प्रमाण भी उपरोक्त मुनिवरों की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इसके लिए उपरोक्त मुनिवरों ने जो परिश्रम उठाया है, अपना अमूल्य समय तथा सत्परामर्श दिया है उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके उपकार के लिए हम सदा ऋणी रहेंगे।

७ ,, इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री बी. ए. वेदान्त वारिधि शास्त्राचार्य न्यायतीर्थ ।
८ ,, रोशनलालजी जैन बी. ए. न्याय-काव्य-सिद्धान्ततीर्थ विशारद ।
६ ,, श्यामलालजी जैन एम ए., न्यायतीर्थ विशारद ।
१० ,, घेवर चन्द्रजी बॉठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ ।
११ ,, पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा शास्त्री
१२ ,, धर्मसिंहजी वर्मा शास्त्री विशारद
१३ ,, हुकम चन्दजी जैन
१४ ,, रत्नकुमारजी मेहता विशारद
१५ ,, कन्हैयालालजी दक विशारद
१६ ,, मदनकुमारजी मेहता विशारद
१७ ,, भीखमचन्दजी सुराणा हिन्दी प्रभाकर
१८ ,, राजकुमारजी जैन हिन्दी प्रभाकर
१६ ,, रूगलालजी महात्मा
२० श्री फकीरचन्दजी पुरोहित
२१ ,, नंदलालजी व्यास
२२ ,, किशनलालजी व्यास
२३ ,, भोमराजजी मालू
२४ ,, मूलचन्दजी सीपाणी
२५ ,, पानमलजी आसाणी
२६ ,, मगनमलजी गुलगुलिया
२७ ,, मीनाराम माली

कन्या पाठशाला

२८ श्रीमती रामप्यारी बाई
२६ ,, फूली बाई
३० ,, गोराबाई
३१ श्री रतनी बाई
३२ ,, भगवती बाई

सेठिया प्रिंटिंग प्रेस

३३ श्री गोपीनाथजी शर्मा
३४ ,, फूसराजजी सीपाणी
३५ ,, गुलामनवी
३६ ,, रतनलालजी सुराणा
३७ ,, मगनमलजी सीपाणी
३८ ,, रामलालजी कातेला
३६ ,, मूलचन्दजी राजपूत

कलकत्ते के मकानों का किराया १६६७८॥) व व्याज रु० ३४४) आए जिसमें १३६९॥-) बालपाठशाला, विद्यालय, नाइट कालेज, कन्या पाठशाला ग्रन्थालय आदि में खर्च हुए। तथा श्रीमान् सेठ श्री भैरोदानजी साहब ने ५०००) रु० ज्ञानसाहित्य खाते अपने पास से नए दिए ।

दो शब्द

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का तीसरा भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमें आठवें, नवें और दसवें बोलों का संग्रह है। साधुसमाचारी से सम्बन्ध रखने वाली अधिक बातें इसी में हैं। पाठकों की विशेष सुविधा के लिए इसमें विषयानुक्रम सूची भी पूरी दे दी गई है।

पुस्तक की शुद्धि का पूरा ध्यान रखने पर भी दृष्टि दोष से कहीं कहीं अशुद्धियाँ रह गई हैं। उनके लिये शुद्धिपत्र अलग दिया है। जो अशुद्धियाँ उद्धृत प्रमाण ग्रन्थों में हैं, उन्हें शुद्ध करके विषयानुक्रम सूची में भी दे दिया गया है। आशा है, पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे। इनके सिवाय भी कोई अशुद्धि छूट गई हो तो पाठक महोदय उसे सुधार लेने के साथ साथ हमें भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में सुधार ली जाँय। इस के लिए हम उनके आभारी होंगे।

कागजों की कीमत बहुत बढ़ गई है। छपाई का दूसरा सामान भी बहुत मँहगा हो रहा है इसलिए इसबार पुस्तक की कीमत २) रखनी पड़ी है। यह भी कागज और छपाई में होने वाले असली खर्च से बहुत कम है।

चौथे भाग की पाण्डुलिपि तैयार है। ग्यारहवें से चौदहवें बोल तक उसके पूरा हो जाने की संभावना है। पाँचवाँ भाग लिखा जा रहा है। वे भी यथा सम्भव शीघ्र पाठकों के सामने उपस्थित किये जाँयगे।

मार्गशीर्ष शुक्ला पचमी
संवत् १९९८
ऊन प्रेस, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

आभार प्रदर्शन

जैन धर्म दिवाकर पंडितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करके आवश्यक संशोधन किया है। परम प्रतापी पूज्य श्री हुक्मी चन्दजी महाराज के पट्टधर पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के सुशिष्य मुनि श्री पन्ना लालजी महाराज ने भी देशनोक चतुर्मास में तथा बीकानेर में पूरा समय देकर परिश्रम-पूर्वक पुस्तक का ध्यान से निरीक्षण किया है। बहुत से नए बोल तथा कई बोलों के लिए सूत्रों के प्रमाण भी उपरोक्त मुनिवरों की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इसके लिए उपरोक्त मुनिवरों ने जो परिश्रम उठाया है, अपना अमूल्य समय तथा सत्परामर्श दिया है उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके उपकार के लिए हम सदा ऋणी रहेंगे।

जिस समय पुस्तक का दूसरा भाग छप रहा था, हमारे परम सौभाग्य से परम प्रतापी आचार्यप्रवर श्री श्री १००८ पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेब तथा युवाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहेब का अपनी विद्वान् शिष्य मण्डली के साथ बीकानेर में पधारना हुआ। श्री पूज्यजी महाराज साहेब, युवाचार्यजी तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा दूसरे भाग के सशोधन में भी पूर्ण सहायता मिली थी। तीसरे भाग में भी पूज्य श्री तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा पूरी सहायता मिली है। पुस्तक के छपते छपते या पहले जहा भी सन्देह खड़ा हुआ या कोई उलझन उपस्थित हुई तो उसके लिए आपकी सेवा में जाकर पूछने पर आपने सन्तोषजनक समाधान किया।

उपरोक्त गुरुवरों का पूर्ण उपकार मानते हुए इतना ही लिखना पर्याप्त समझते है कि आपके लगाए हुए धर्मवृक्ष का यह फल आप ही के चरणों में समर्पित है।

इनके सिवाय जिन सज्जनों ने पुस्तक को उपयोगी और रोचक बानने के लिए समय समय पर अपनी शुभ सम्मतियां और सत्परामर्श प्रदान किये है अथवा पुस्तक के संकलन, प्रूफ-सशोधन या कापी आदि करने में सहायता दी है उन सब का हम आभार मानते है।

मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी १९९८
ऊन प्रेस, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

प्रमाण के लिए उद्धृत ग्रन्थों का विवरण

ग्रन्थ का नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
अनुयोग द्वार	मलधारी हेमचन्द्र सूरि टीका।	आगमोदय समिति, सूरत।
अन्तगड़दसाओ	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति गोपीपुरा सूरत
आगमसार	देवचन्दजी कृत।	
आचारांग	शीलांकाचार्य टीका।	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत।
आचारांग	मूल और गुजराती भाषान्तर	प्रो० रवजी भाई देवराज द्वारा राजकोट प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित।
उत्तराध्ययन	शांति सूरि बृहद् वृत्ति।	आगमोदय समिति।
उत्तराध्ययननिर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी कृत।	देवचन्द लाला भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
उपासक दशांग	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।

उपासक दशांग (अंग्रेजी अनुवाद) - विब्लोथिका इण्डिका कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, सन् १८६० । अंग्रेजी अनुवाद--डाक्टर ए एफ रुडलफ हार्नले Ph. d. ट्यूबिजन् फेलो आफ कलकत्ता युनिवर्सिटी, आनरेरी फाइलोलोजिकल सेक्रेट्री टू दी ऐसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ।

ऋषि मंडलवृत्ति

औपपातिक सूत्र	अभयदेव सूरि विवरण ।	आगमोदय समिति सूरत ।
कर्त्तव्य कौमुदी	शतावधानी पं० रत्न मुनि श्री रत्नचन्दजी महाराज कृत ।	सेठिया ग्रन्थमाला, बीकानेर ।
कर्मग्रन्थ	सुखलालजी कृत हिन्दी अनुवाद ।	
कर्मग्रन्थभाग ४	श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर ।	
कर्म प्रकृति	शिवशर्माचार्य प्रणीत	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर
छन्दो मञ्जरी		
जीवाभिगम सूत्र	मलयगिरि टीका ।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड ।
ज्ञाताधर्म कथांग	शास्त्री जेठालाल हरिभाई कृत गुजराती अनुवाद ।	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर ।
ठाणांग	अभयदेवसूरि विवरण	आगमोदय समिति, सूरत ।
तत्त्वार्थाधिगम भाष्य	उमास्वामि कृत	मोतीलाल लाधाजी, पूना ।
दशवैकालिक	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति सूरत ।
दशाश्रुतस्कन्ध	उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज कृत हिंदी अनु०	गुजराती अनुवाद रायचन्द जिनागम संग्रह द्वारा प्रकाशित ।
द्रव्यलोक प्रकाश	श्री विनय विजयजी कृत	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बंबई ।
धर्म संग्रह	श्रीमन्मान विजय महोपाध्याय प्रणीत यशोविजय टिप्पणी समेत	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई ।
नन्दी सूत्र	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति सूरत ।
नव तत्व		
पंचाशक	हरिभद्र सूरि विरचित अभयदेव सूरि टीका	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।
पइण्णा दस	श्रुतस्थविर सूत्रित ।	आगमोदय समिति, सूरत ।
पन्नवणा (प्रज्ञापना)	मलयगिरि टीकानुवाद पं० भगवानदास हर्षचन्द्र कृत गुजराती अनुवाद,	जैन सोसाइटी अहमदाबाद ।
पिंगल	पिंगलाचार्य	

पिंढनिर्युक्ति	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति सूरत ।
प्रकरण रत्नाकर	श्रावक भीमसिंह माणक द्वारा संगृहीत ।	
प्रमाण मीमांसा	हेमचन्द्राचार्य प्रणीत, सुखलाल जी द्वारा सम्पादित ।	सिंधी सिरीज से प्रकाशित ।
प्रवचन सारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि, सिद्धसेन सूरि शेखर रचित वृत्ति सहित ।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बंबई ।
प्रश्न व्याकरण	अभयदेव सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत ।
भगवती	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति सूरत ।
भगवती (हस्तलिखित)	सेठिया जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ।	
भगवती (हस्तलिखित)	सवालखी ।	
योग शास्त्र	हेमचन्द्राचार्य प्रणीत	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।
राजयोग	स्वामी विवेकानन्द ।	
रायपसेणी	मलयगिरि वृत्ति	आगमोदय समिति, सूरत ।
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण कृत, मल्लधारी आचार्य हेमचन्द्राचार्य कृत वृत्ति सहित ।	आगमोदय समिति ।
वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित ।	
व्यवहार भाष्य और	माणेक मुनि द्वारा सम्पादित ।	
व्यवहार निर्युक्ति	,, ,, ,,	
शान्त सुधारस	विनय विजयजी	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।
समवायांग	अभयदेव सूरि विवरण ।	आगमोदय समिति गोपीपुरा, सूरत ।
साधु अतिक्रमण	सेठिया जैन ग्रन्थमाला, बीकानेर ।	
सेन प्रश्न उल्लास	शुभ विजय गणि संकलित ।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बंबई ।
हरिभद्रीयावश्यक	भद्रबाहु निर्युक्ति तथा भाष्य हरिभद्र सूरि ।	आगमोदय समिति सूरत ।

विषय सूची

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति(ओली)
निर्युक्ति	निर्युक्ति	७८	२१
(ठाणांग सूत्र ६४८)	(ठाणांग, सूत्र ६४८)	१२७	१८
	(ठाणांग, सूत्र ६१३)	१२६	१६
(उववाई सूत्र १६) (उत्तराध्ययन अ० ३०) (भगवती श० २५ उ०७)	ये तीनों प्रमाण पृष्ठ २०१ की ७ वीं पंक्ति में नहीं होने चाहिएं। इन्हें पृष्ठ १६६ के अन्त में पढ़ना चाहिए।		
नत्वों	तत्वों	२०१	८
क	के	२१८	१८
(प्रवचनसारोद्धार)	(प्रवचनसारोद्धारद्वार १०१)	२५१	३
कर कर	कर	२७४	८
वेचावच्च	वेयावच्च	२८३	१०
देस्वते	देखते	३६०	१५
६१८	७१८	३६१	२२
ब्यय	व्यय	३६२	१७
उद्दशो	उद्देशा	४५६	२४

अकाराद्यनुक्रमणिका

ल

व

श

स



श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

(तृतीय भाग)

मङ्गलाचरण—

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि ॥
रागद्वेष-भयामयान्तक- जरा- लोलत्व- लोभादयः ।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते ॥ १ ॥

यस्माद्गौतमशङ्करप्रभृतयः प्राप्ता विभूतिं परां ।
नाभेयादि जिनास्तु शाश्वतपदं लोकोत्तरं लेभिरे ॥
स्पष्टं यत्र विभाति विश्वमखिलं देहो यथा दर्पणे ।
तज्ज्योति प्रणमाम्यहं त्रिकरणैः स्वाभीष्टसंसिद्धये ॥२॥

भावार्थ- जिसने हाथ की अङ्गुली सहित तीन रेखाओं के समान तीनों काल सम्बन्धी तीनों लोक और अलोक को साक्षात् देख लिया है तथा जिसे राग द्वेष भय, रोग, जरा, मरण, तृष्णा, लालच आदि जीत नहीं सकते, उस महादेव (देवाधिदेव) को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

जिस ज्योति से गौतम और शङ्कर आदि उत्तम पुरुषों ने परम ऐश्वर्य प्राप्त किया तथा प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभ-देव स्वामी आदि जिनेश्वरों ने सर्वश्रेष्ठ सिद्ध पद प्राप्त किया और जिस ज्योति में समस्त विश्व दर्पण में शरीर के प्रतिविम्ब की तरह स्पष्ट झलकता है उस ज्योति को मैं मन वचन और काया से अपनी इष्ट सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥



आठवां बोल संग्रह

(बोल नम्बर ५६४–६२३)

५६४– मांगलिक पदार्थ आठ

नीचे लिखे आठ पदार्थ मांगलिक कहे गये हैं–

(१) स्वस्तिक (२) श्रीवत्स (३) नंदिकावर्त्त (४) वर्द्धमानक (५) भद्रासन (६) कलश (७) मत्स्य (८) दर्पण।

साथिये को स्वस्तिक कहते हैं। तीर्थङ्कर के वक्षस्थल में उठे हुए अवयव के आकार का चिह्नविशेष श्रीवत्स कहलाता है। प्रत्येक दिशा में नवकोण वाला साथिया विशेष नंदिकावर्त्त है। शराव (सकोरे) को वर्द्धमानक कहते हैं। भद्रासन सिंहासन विशेष है। कलश, मत्स्य, दर्पण, ये लोक प्रसिद्ध ही हैं।

(औपपातिक सूत्र ४) (राजप्रश्नीय सूत्र १४)

५६५– भगवान् पार्श्वनाथ के गणधर आठ

गण अर्थात् एक ही आचार वाले साधुओं का समुदाय, उसे धारण करने वाले को गणधर कहते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के आठ गण तथा आठ ही गणधर थे।

(१) शुभ (२) आर्यघोष (३) वशिष्ठ (४) ब्रह्मचारी (५) सोम (६) श्रीधृत (७) वीर्य (८) भद्रयशा।

(ठाणांग सू० ६१७) (समवायांग ८) (प्रवचनसारोद्धार)

५६६– भ० महावीर के पास दीक्षित आठ राजा

आठ राजाओं ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी। उनके नाम इस प्रकार हैं।

(१) वीरांगक (२) वीरयशा (३) संजय (४) एणेयक (५) राजर्षि (६) श्वेत (७) शिव (८) उदायन (वीतभय नगर

का राजा, जिसने चण्डप्रद्योत को हराया था तथा भाणेज को राज्य देकर दीक्षा ली थी)। (ठाणांग सू० ६२१)

५६७- सिद्ध भगवान् के आठ गुण

आठ कर्मों का निर्मूल नाश करके जो जीव जन्म मरण रूप संसार से छूट जाते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कर्मों के द्वारा आत्मा की ज्ञानादि शक्तियाँ दबी रहती हैं। उनके नाश से मुक्त आत्माओं में आठ गुण प्रकट होते हैं और आत्मा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है। वे आठ गुण ये हैं—

(१) केवलज्ञान– ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से आत्मा का ज्ञान-गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। इससे आत्मा समस्त पदार्थों को जानने लगता है। इसीको केवलज्ञान कहते है।

(२) केवलदर्शन– दर्शनावरणीय कर्म के नाश से आत्मा का दर्शनगुण पूर्णतया प्रकट होता है। इससे वह सभी पदार्थों को देखने लगता है। यही केवलदर्शन है।

(३) अव्याबाध सुख– वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि सातावेदनीय के उदय से सुख भी प्राप्त होता है किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है। वास्तविक और स्थायी आत्मिक सुख की प्राप्ति वेदनीय के नाश से ही होती है। जिस में कभी किसी तरह की भी बाधा न आवे ऐसे अनन्त सुख को अव्याबाधसुख कहते हैं।

(४) अक्षयस्थिति– मोक्ष में गया हुआ जीव वापिस नहीं आता, वहीं रहता है। इसीको अक्षयस्थिति कहते हैं। आयु कर्म के उदय से जीव जिस गति में जितनी आयु बाँधता है उतने काल वहाँ रह कर फिर दूसरी गति में चला जाता है। सिद्ध जीवों के आयु कर्म नष्ट हो जाने से वहाँ स्थिति की मर्यादा नहीं रहती। इस लिये वहाँ अक्षयस्थिति होती है।

(५) क्षायिक सम्यक्त्व—जीव अजीवादि पदार्थों को यथार्थ रूप में जानकर उन पर विश्वास करने को सम्यक्त्व कहते हैं। मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुण का घातक है। उसका नाश होने पर पैदा होने वाला पूर्ण सम्यक्त्व ही क्षायिकसम्यक्त्व है।
(६) अरूपीपन-- अच्छे या बुरे शरीर का बन्ध नाम कर्म के उदय से होता है। कार्मण आदि शरीरों के सम्मिश्रण से जीव रूपी हो जाता है। सिद्धों के नामकर्म नष्ट हो चुका है। उन का जीव शरीर से रहित है, इसलिये वे अरूपी हैं।
(७) अगुरुलघुत्व—अरूपी होने से सिद्ध भगवान् न हल्के होते हैं न भारी। इसी का नाम अगुरुलघुत्व है।
(८) अनन्तशक्ति— आत्मा में अनन्त शक्ति अर्थात् बल है। अन्तराय कर्म के कारण वह दबा हुआ है। इस कर्म के दूर होते ही वह प्रकट होजाता है अर्थात् आत्मा में अनन्तशक्ति व्यक्त (प्रकट) हो जाती है।

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक कर्म की प्रकृतियों को अलग अलग गिनने से सिद्धों के इकतीस गुण भी हो जाते हैं। प्रवचन-सारोद्धार में इकतीस ही गिनाए गए हैं। ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की दो, अन्तराय की चार, नामकर्म की दो, गोत्रकर्म की दो और अन्तराय की पाँच, इस प्रकार कुल इकतीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन्हीं इकतीस के क्षय से इकतीस गुण प्रकट होते हैं। इनका विस्तार इकतीसवें बोल में दिया जायगा।

(अनुयोगद्वार क्षायिकभाव) (प्रवचन सारोद्धार द्वार २७६) (समवायांग ३१)

५६८— ज्ञानाचार आठ

नए ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए जो आचरण जरूरी है उसे ज्ञानाचार कहते हैं। स्थूलदृष्टि से इसके आठ भेद हैं—

(१) कालाचार– शास्त्र में जिस समय जो सूत्र पढ़ने की आज्ञा है, उस समय उसे ही पढ़ना कालाचार है।

(२) विनयाचार–ज्ञानदाता गुरु का विनय करना विनयाचार है।

(३) वहुमानाचार– ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में भक्ति और श्रद्धा के भाव रखना वहुमानाचार है।

(४) उपधानाचार– शास्त्रों में जिस सूत्र को पढ़ने के लिए जो तप वताया गया है, उसको पढ़ते समय वही तप करना उपधानाचार है।

(५) अनिह्नवाचार– पढ़ाने वाले गुरु के नाम को नहीं छिपाना अर्थात् किसी से पढ़ कर 'मैं उससे नहीं पढ़ा' इस प्रकार मिथ्या भाषण नहीं करना अनिह्नवाचार है।

(६) व्यञ्जनाचार–सूत्र के अक्षरों का ठीक ठीक उच्चारण करना व्यञ्जनाचार है। जैसे 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठम्' की जगह 'पुण्णं मंगलमुक्किट्ठम्' वोलना व्यञ्जनाचार नहीं है क्योंकि मूल पाठ में भेद हो जाने से अर्थ में भी भेद हो जाता है और अर्थ में भेद होने से क्रिया में भेद हो जाता है। क्रिया में फर्क पड़ने से निर्जरा नहीं होती और फिर मोक्ष भी नहीं होता। अतः शुद्ध पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है।

(७) अर्थाचार– सूत्र का सत्य अर्थ करना अर्थाचार है।

(८) तदुभयाचार– सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना और समझना तदुभयाचार है। (धर्मसंग्रह देशनाधिकार)

५६९– दर्शनाचार आठ

सत्य तत्त्व और अर्थों पर श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस के चार अंग हैं– परमार्थ अर्थात् जीवादि पदार्थों का ठीक ठीक ज्ञान, परमार्थ को जानने वाले पुरुषों की सेवा, शिथिलाचारी और कुदर्शनी का त्याग तथा सम्यक्त्व अर्थात् सत्य पर दृढ श्रद्धान। सम्यग्दर्शन धारण करने वाले द्वारा आचरणीय (पालने योग्य) वातों को दर्शनाचार कहते हैं। दर्शनाचार आठ हैं–

(१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्स (४) अमूढदृष्टि (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

(१) निःशंकित– वीतराग सर्वज्ञ के वचनों में संदेह न करना अथवा शंका, भय और शोक से रहित होना अर्थात् सम्यग्दर्शन पर दृढ व्यक्ति को इस लोक और परलोक का भय नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि सुख दुःख तो अपने ही किए हुए पाप, पुण्य के फल हैं। जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। आत्मा अजर और अमर है। वह कर्म और शरीर से अलग है। इसी तरह सम्यक्त्वी को वेदनाभय भी नहीं होता, क्योंकि वेदना भी अपने ही कर्मों का फल है, वेदना शरीर का धर्म है। आत्मा को कोई वेदना नहीं होती। शरीर से आत्मा को अलग समझ लेने पर किसी तरह की वेदना नहीं होती। आत्मा को अजर अमर समझने से उसे मरण-भय नहीं होता। आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और उन गुणों को कोई चुरा नहीं सकता। यह समझने से उसे चोर भय नहीं होता। जिनधर्म सब को शरणभूत है, उसे प्राप्त करने के बाद जन्म मरण के दुःखों से अवश्य छुटकारा मिल जाता है, यह समझने से उसे अशरण भय नहीं होता। अपनी आत्मा को परमानन्दमयी समझने से अकस्माद्भय नहीं होता। आत्मा को ज्ञानमय समझकर वह सदा निर्भय रहता है।

(२) निःकांक्षित– सम्यक्त्वी जीव अपने धर्म में दृढ़ रह कर परदर्शन की आकांक्षा न करे। अथवा सुख और दुःख को कर्मों का फल समझकर सुख की आकांक्षा न करे तथा दुःख से द्वेष न करे। भावी सुख, धन, धान्य आदि की चाह न करे।

(३) निर्विचिकित्सा– धर्मफल की प्राप्ति के विषय में सन्देह

न करे। इस जगह पर कहीं कहीं अदुगंछा भी कहा जाता है। इसका अर्थ है किसी बात से घृणा न करे। सभी वस्तुओं को पुद्गलों का धर्म समझकर समभाव रक्खे।

(४) अमूढ़दृष्टि- भिन्न दर्शनों की युक्तियों या ऋद्धि को सुन कर या देखकर अपनी श्रद्धा से विचलित न हो अर्थात् आडम्बर देखकर अपनी श्रद्धा को डांवाडोल न करे अथवा किसी भी बात में घबरावे नहीं। संसार और कर्मों का वास्तविक स्वरूप समझते हुए अपने हिताहित को समझकर चले। अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि में गृद्ध न हो।

(५) उपबृंहण- गुणी पुरुषों को देख उनकी प्रशंसा करे तथा स्वयं भी उन गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे अथवा अपनी आत्मा को अनन्त गुण तथा शक्ति का भंडार समझकर उसका अपमान न करे। उसे तुच्छ, हीन और निर्बल न समझे।

(६) स्थिरीकरण-- अपने अथवा दूसरे को धर्म से गिरते देख कर उपदेशादि द्वारा धर्म में स्थिर करे।

(७) वात्सल्य- अपने धर्म तथा समानधर्म वालों से प्रेम रक्खे।

(८) प्रभावना- सत्यधर्म की उन्नति तथा प्रचार के लिए प्रयत्न करे अथवा अपनी आत्मा को उन्नत बनावे।

(पन्नवणा पद १) (उत्तरा० अ० २८) (प्रकरण रत्नाकर द्रव्यविचार भाग २)

५७०- प्रवचनमाता आठ

पाँच समिति और तीन गुप्ति को प्रवचन माता कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं-

(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदानभंडमात्रनिक्षेपणा समिति (५) उच्चारप्रश्रवण खेलसिंघाणजल्लपरिस्थापनिका समिति।

इनका स्वरूप प्रथम भाग के बोल नं० ३२३ में दिया गया है।

तीन गुप्तियाँ-(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति (३) कायगुप्ति। इनका स्वरूप भी प्रथम भाग बोल नं० १२८ (ख) में लिखा जा चुका है। (उत्तराध्ययन अध्ययन २४) (समवायांग ८)

५७१-साधु और सोने की आठ गुणों से समानता

सोने में आठ गुण होते हैं-

विसघाइ रसायणमंगलत्थविणए पयाहिणावत्ते।
गरुए अडज्झकुट्टे अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति॥

अर्थात्-(१) सोना विष के असर को दूर कर देता है। (२) रसायन अर्थात् वृद्धावस्था वगैरह को रोकता है। शरीर में शक्ति देता है। (३) मांगलिक होता है। (४) विनीत होता है, क्योंकि कड़े कंकण वगैरह में इच्छानुसार बदल जाता है। (५) अग्नि के ताप से प्रदक्षिणावृत्ति होता है। (६) भारी होता है। (७) जलाया नहीं जा सकता। (८) अकुत्स्य अर्थात् निन्दनीय नहीं होता, अथवा बुरी गन्ध वाला नहीं होता।

इसी तरह साधु के भी आठ गुण हैं-

इय मोहविसं घायई सिवोवएसा रसायणं होंति।
गुणओ य मंगलत्थं कुणति विणीओ य जोग्गो त्ति॥
मग्गाणुसारिपयाहिण गंभीरो गरुयओ तहा होइ।
कोहग्गिणा अडज्झो अकुत्थो सइ सीलभावेणं॥

अर्थात्- साधु मोक्षमार्ग का उपदेश देकर मोह रूपी विष को दूर करता है या नष्ट कर देता है। मोक्ष के उपदेश द्वारा जरा और मरण को दूर कर देने के कारण रसायन है। अपने गुणों के माहात्म्य से भी वह रसायन है। पापों का नाश करने वाला अर्थात् अशुभ को दूर करने वाला होने से मंगल है। स्वभाव से ही वह विनीत होता है और योग्य भी होता है। साधु हमेशा भगवान् के बताए मार्ग पर चलता है इसलिए

प्रदक्षिणावर्ती होता है। गम्भीर होता है अर्थात् तुच्छ दिल वाला नहीं होता। इसीलिए गुरु अर्थात् गुणों के द्वारा भारी होता है। क्रोध रूपी अग्नि से तप्त नहीं होता है। अकुत्स्य अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालक होने से किसी तरह निन्दनीय या दुर्गन्ध वाला नहीं होता।

(पंचाशक १४ गाथा ३२-३४)

५७२- प्रभावक आठ

जो लोग धर्म के प्रचार में सहायक होते हैं वे प्रभावक कहलाते हैं। प्रभावक आठ हैं—

(१) प्रावचनी-- बारह अंग, गणिपिटक आदि प्रवचन को जानने वाला अथवा जिस समय जो आगम प्रधान माने जाएं उन सब को समझने वाला।

(२) धर्मकथी- आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगजननी, निर्वेदजननी, इस प्रकार चार तरह की कथाओं को, जो श्रोताओं के मन को प्रसन्न करता हुआ प्रभावशाली वचनों से कह सकता है। जो प्रभावशाली व्याख्यान दे सकता है।

(३) वादी-वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति रूप चतुरङ्ग सभा में दूसरे मत का खण्डन करता हुआ जो अपने पक्ष का समर्थन कर सकता है।

(४) नैमित्तिक- भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में होने वाले हानि लाभ को जानने वाला नैमित्तिक कहलाता है।

(५) तपस्वी-- उग्र तपस्या करने वाला।

(६) विद्यावान्- प्रज्ञप्ति (विद्या विशेष) आदि विद्याओं वाला।

(७) सिद्ध- अञ्जन, पादलेप आदि सिद्धियों वाला।

(८) कवि-गद्य, पद्य वगैरह प्रबन्धों की रचना करने वाला।

(प्रवचन सारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६३४)

५७३- संयम आठ

मन, वचन और काया के व्यापार को रोकना संयम है। इसके आठ भेद हैं

(१) प्रेक्ष्यसंयम- स्थण्डिल या मार्ग आदि को देख कर प्रवृत्ति करना प्रेक्ष्यसंयम है।

(२) उपेक्ष्यसंयम-- साधु तथा गृहस्थों को आगम में बताई हुई शुभ क्रिया में प्रवृत्त कर अशुभ क्रिया से रोकना उपेक्ष्यसंयम है।

(३) अपहृत्यसंयम-- संयम के लिये उपकारक वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के सिवाय सभी वस्तुओं को छोड़ना अथवा संसक्त भात पानी आदि का त्याग करना अपहृत्यसंयम है।

(४) प्रमृज्यसंयम- स्थण्डिल तथा मार्ग आदि को विधिपूर्वक पूँज कर काम में लाना प्रमृज्यसंयम है।

(५) कायसंयम- दौड़ने, उछलने, कूदने आदि का त्याग कर शरीर को शुभ क्रियाओं में लगाना कायसंयम है।

(६) वाक्संयम- कठोर तथा असत्यवचन न बोलना और शुभ भाषा में प्रवृत्ति करना वाक्संयम है।

(७) मनसंयम- द्वेष, अभिमान, ईर्ष्या आदि छोड़ कर मन को धर्मध्यान में लगाना मनसंयम है।

(८) उपकरणसंयम- वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणों को सम्भाल कर रखना उपकरणसंयम है।

(तत्त्वार्थाधिगमभाष्य अध्याय ९.सूत्र. ६)

५७४- गणिसम्पदा आठ

साधु अथवा ज्ञान आदि गुणों के समूह को गण कहा जाता है। गण के धारण करने वाले को गणी कहते हैं। कुछ साधुओं को अपने साथ लेकर आचार्य की आज्ञा से जो अलग विचरता है, उन साधुओं के आचार विचार का ध्यान रखता हुआ जगह

जगह धर्म का प्रचार करता है वही गणी कहा जाता है। गणी में जो गुण होने चाहिएं उन्हें गणिसम्पदा कहते हैं। इन गुणों का धारक ही गणीपद के योग्य होता है। वे सम्पदाएं आठ हैं–

(१) आचार सम्पदा (२) श्रुत सम्पदा (३) शरीर सम्पदा (४) वचन सम्पदा (५) वाचना सम्पदा (६) मति सम्पदा (७) प्रयोग मति सम्पदा (८) संग्रहपरिज्ञा सम्पदा।

(१) आचार सम्पदा– चारित्र की दृढता को आचार सम्पदा कहते हैं। इस के चार भेद हैं–(क) संयम क्रियाओं में ध्रुवयोगयुक्त होना अर्थात् संयम की सभी क्रियाओं में मन वचन और काया को स्थिरतापूर्वक लगाना। (ख) गणी की उपाधि मिलने पर अथवा संयम क्रियाओं में प्रधानता के कारण कभी गर्व न करना। सदा विनीतभाव से रहना। (ग) अप्रतिबद्धविहार अर्थात् हमेशा विहार करते रहना। चौमासे के अतिरिक्त कहीं अधिक दिन न ठहरना। एक जगह अधिक दिन ठहरने से संयम में शिथिलता आजाती है। (घ) अपना स्वभाव बड़े बूढ़े व्यक्तियों सा रखना अर्थात् कम उमर होने पर भी चञ्चलता न करना। गम्भीर विचार तथा दृढ स्वभाव रखना।

(२) श्रुतसम्पदा– श्रुत ज्ञान ही श्रुतसम्पदा है। अर्थात् गणी को बहुत शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए। इसके चार भेद हैं– (क) बहुश्रुत अर्थात् जिसने सब सूत्रों में से मुख्य मुख्य शास्त्रों का अध्ययन किया हो, उनमें आए हुए पदार्थों को भलीभाँति जान लिया हो और उनका प्रचार करने में समर्थ हो। (ख) परिचितश्रुत– जो सब शास्त्रों को जानता हो या सभी शास्त्र जिसे अपने नाम की तरह याद हों। जिसका उच्चारण शुद्ध हो और जो शास्त्रों के स्वाध्याय का अभ्यासी हो। (ग) विचित्रश्रुत– अपने और दूसरे मतों को जानकर जिसने अपने शास्त्रीयज्ञान

में विचित्रता उत्पन्न करली हो। जो सभी दर्शनों की तुलना करके भलीभाँति ठीक बात बता सकता हो। जो सुललित उदाहरण तथा अलङ्कारों से अपने व्याख्यान को मनोहर बना सकता हो तथा श्रोताओं पर प्रभाव डाल सकता हो, उसे विचित्रश्रुत कहते हैं। (घ) घोषविशुद्धिश्रुत- शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वरों तथा व्यञ्जनों का पूरा ध्यान रखना घोषविशुद्धि है। इसी तरह गाथा आदि का उच्चारण करते समय षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। उच्चारण की शुद्धि के बिना अर्थ की शुद्धि नहीं होती और श्रोताओं पर भी असर नहीं पड़ता।

(३) शरीरसम्पदा- शरीर का प्रभावशाली तथा सुसंगठित होना ही शरीरसम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं-(क) आरोह-परिणाह सम्पन्न- अर्थात् गणी के शरीर की लम्बाई चौड़ाई सुडौल होनी चाहिए। अधिक लम्बाई या अधिक मोटा शरीर होने से जनता पर प्रभाव कम पड़ता है। केशीकुमार और अनाथी मुनि के शरीरसौन्दर्य से ही पहिले पहल महाराजा परदेशी और श्रेणिक धर्म की ओर झुक गए थे। इससे मालूम पड़ता है कि शरीर का भी काफी प्रभाव पड़ता है। (ख) शरीर में कोई अङ्ग ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे लज्जा हो, कोई अङ्ग अधूरा या वेडौल नहीं होना चाहिए। जैसे काना आदि। (ग) स्थिरसंहनन-शरीर का संगठन स्थिर हो, अर्थात् ढीलाढाला न हो। (घ) प्रतिपूर्णेन्द्रिय अर्थात् सभी इन्द्रियाँ पूरी होनी चाहिएं।

(४) वचनसम्पदा- मधुर, प्रभाव शाली तथा आदेय वचनों का होना वचनसम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं-(क) आदेय-वचन अर्थात् गणी के वचन जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य हों। (ख) मधुरवचन अर्थात् गणी के वचन सुनने में मीठे

लगने चाहिएं। कर्णकटु न हों। साथ में अर्थगाम्भीर्य वाले भी हों। (ग) अनिश्रित– क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वशीभूत होकर कुछ नहीं कहना चाहिए। हमेशा शान्त चित्त से सब का हित करने वाला वचन बोलना चाहिए। (घ) असंदिग्ध-वचन– ऐसा वचन बोलना चाहिए जिसका आशय बिल्कुल स्पष्ट हो। श्रोता को अर्थ में किसी तरह का सन्देह उत्पन्न न हो।

(५) वाचनासम्पदा–शिष्यों को शास्त्र आदि पढ़ाने की योग्यता को वाचनासम्पदा कहते हैं। इस के भी चार भेद हैं– (क) विचयोद्देश अर्थात् किस शिष्य को कौनसा शास्त्र, कौनसा अध्ययन, किस प्रकार पढ़ाना चाहिए? इन बातों का ठीक ठीक निर्देश करना। (ख) विचयवाचना– शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना। (ग) शिष्य की बुद्धि देखकर वह जितना ग्रहण कर सकता हो उतना ही पढ़ाना। (घ) अर्थनिर्यापकत्व– अर्थात् अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाना। अथवा शिष्य जितने सूत्रों को धारण कर सके उतने ही पढ़ाना या अर्थ की परस्पर संगति, प्रमाण, नय, कारक, समास, विभक्ति आदि का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए पढ़ाना या शास्त्र के पूर्वापर सम्बन्ध को अच्छी तरह समझाते हुए सभी अर्थों को बताना।

(६) मतिसम्पदा–मतिज्ञान की उत्कृष्टता को मतिसम्पदा कहते हैं। इस के चार भेद हैं— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० २०० में बताया गया है। अवग्रह आदि प्रत्येक के छः छः भेद हैं।

(७) प्रयोगमतिसम्पदा (अवसर का जानकार)–शास्त्रार्थ या विवाद के लिए अवसर आदि की जानकारी को प्रयोगमति सम्पदा कहते हैं। इसके चार भेद हैं- (क) अपनी शक्ति को समझकर विवाद करे। शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पहिले भलीभाँति समझ ले

कि उस में प्रवृत्त होना चाहिए या नहीं ? सफलता मिलेगी या नहीं ? (ख) सभा को जान कर प्रवृत्त हो अर्थात् यह जान लेवे कि सभा किस ढंग की है, कैसे विचारों की है ? सभ्य लोग मूर्ख हैं या विद्वान् ? वे किस बात को पसन्द करते हैं ? इत्यादि। (ग) क्षेत्र को समझना चाहिए अर्थात् जहाँ शास्त्रार्थ करना है उस क्षेत्र में जाना और रहना उचित है या नहीं ? अगर वहाँ अधिक दिन ठहरना पड़ा तो किसी तरह के उपसर्ग की सम्भावना तो नहीं है ? आदि। (घ) शास्त्रार्थ के विषय को अच्छी तरह समझ कर प्रवृत्त हो। यह भी जान ले कि प्रतिवादी किस मत को मानने वाला है। उसका मत क्या है। उसके शास्त्र कौन से है ? आदि।

(८) संग्रहपरिज्ञा सम्पदा- वर्षा (चौमासा) वगैरह के लिए मकान, पाटला, वस्त्रादि का ध्यान रख कर आचार के अनुसार संग्रह करना संग्रहपरिज्ञा सम्पदा है। इसके चार भेद हैं- (क) मुनियों के लिए वर्षा-ऋतु में ठहरने योग्य स्थान देखना। (ख) पीठ, फलक, शय्या, संथारे वगैरह का ध्यान रखना (ग) समय के अनुसार सभी आचारों का पालन करना तथा दूसरे साधुओं से कराना। (घ) अपने से बड़ों का विनय करना।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ४) (ठाणांग सू० ६०१)

५७५-आलोयणा देने वाले साधु के आठ गुण

आठ गुणों से युक्त साधु आलोचना सुनने के योग्य होता है-

(१) आचारवान्- ज्ञानादि आचार वाला।

(२) आधारवान्- बताए हुए अतिचारों को मन में धारण करने वाला।

(३) व्यवहारवान्- आगम आदि पाँच प्रकार के व्यवहार वाला।

(४) अपव्रीडक- शर्म से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की मीठे वचनों से शर्म दूर करके अच्छी तरह आलोचना कराने वाला।

लगने चाहिएं। कर्णकटु न हों। साथ में अर्थगाम्भीर्य वाले भी हों। (ग) अनिश्रित- क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वशीभूत होकर कुछ नहीं कहना चाहिए। हमेशा शान्त चित्त से सब का हित करने वाला वचन बोलना चाहिए। (घ) असंदिग्ध-वचन- ऐसा वचन बोलना चाहिए जिसका आशय बिल्कुल स्पष्ट हो। श्रोता को अर्थ में किसी तरह का सन्देह उत्पन्न न हो।

(५) वाचनासम्पदा-शिष्यों को शास्त्र आदि पढ़ाने की योग्यता को वाचनासम्पदा कहते हैं। इस के भी चार भेद हैं- (क) विचयोद्देश अर्थात् किस शिष्य को कौनसा शास्त्र, कौनसा अध्ययन, किस प्रकार पढ़ाना चाहिए? इन बातों का ठीक ठीक निर्देश करना। (ख) विचयवाचना- शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना। (ग) शिष्य की बुद्धि देखकर वह जितना ग्रहण कर सकता हो उतना ही पढ़ाना। (घ) अर्थनिर्यापकत्व-अर्थात् अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाना। अथवा शिष्य जितने सूत्रों को धारण कर सके उतने ही पढ़ाना या अर्थ की परस्पर संगति, प्रमाण, नय, कारक, समास, विभक्ति आदि का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए पढ़ाना या शास्त्र के पूर्वापर सम्बन्ध को अच्छी तरह समझाते हुए सभी अर्थों को बताना।

(६) मतिसम्पदा-मतिज्ञान की उत्कृष्टता को मतिसम्पदा कहते हैं। इस के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० २०० में बताया गया है। अवग्रह आदि प्रत्येक के छः छः भेद हैं।

(७) प्रयोगमतिसम्पदा (अवसर का जानकार)-शास्त्रार्थ या विवाद के लिए अवसर आदि की जानकारी को प्रयोगमति सम्पदा कहते हैं। इसके चार भेद हैं- (क) अपनी शक्ति को समझकर विवाद करे। शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पहिले भलीभाँति समझ ले

कि उस में प्रवृत्त होना चाहिए या नहीं ? सफलता मिलेगी या नहीं ? (ख) सभा को जान कर प्रवृत्त हो अर्थात् यह जान लेवे कि सभा किस ढंग की है, कैसे विचारों की है ? सभ्य लोग मूर्ख हैं या विद्वान् ? वे किस बात को पसन्द करते हैं ? इत्यादि। (ग) क्षेत्र को समझना चाहिए अर्थात् जहाँ शास्त्रार्थ करना है उस क्षेत्र में जाना और रहना उचित है या नहीं ? अगर वहाँ अधिक दिन ठहरना पड़ा तो किसी तरह के उपसर्ग की सम्भावना तो नहीं है ? आदि। (घ) शास्त्रार्थ के विषय को अच्छी तरह समझ कर प्रवृत्त हो। यह भी जान ले कि प्रतिवादी किस मत को मानने वाला है। उसका मत क्या है। उसके शास्त्र कौन से हैं ? आदि।

(८) संग्रहपरिज्ञा सम्पदा- वर्षा (चौमासा) वगैरह के लिए मकान, पाटला, वस्त्रादि का ध्यान रख कर आचार के अनुसार संग्रह करना संग्रहपरिज्ञा सम्पदा है। इसके चार भेद हैं- (क) मुनियों के लिए वर्षा-ऋतु में ठहरने योग्य स्थान देखना। (ख) पीठ, फलक, शय्या, संथारे वगैरह का ध्यान रखना (ग) समय के अनुसार सभी आचारों का पालन करना तथा दूसरे साधुओं से कराना। (घ) अपने से बड़ों का विनय करना।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ४) (ठाणांग सू० ६०१)

५७५-आलोयणा देने वाले साधु के आठ गुण

आठ गुणों से युक्त साधु आलोचना सुनने के योग्य होता है-

(१) आचारवान्- ज्ञानादि आचार वाला।

(२) आधारवान्- बताए हुए अतिचारों को मन में धारण करने वाला।

(३) व्यवहारवान्- आगम आदि पाँच प्रकार के व्यवहार वाला।

(४) अपव्रीडक- शर्म से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की मीठे वचनों से शर्म दूर करके अच्छी तरह आलोचना कराने वाला।

(५) प्रकुर्वक– आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ।

(६) अपरिस्रावी– आलोयणा करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला।

(७) निर्यापक– अशक्ति या और किसी कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित्त लेने में असमर्थ साधु को थोड़ा थोड़ा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह करने वाला।

(८) अपायदर्शी–आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला। (भग० श० २५ उ० ७) (ठाणांग सूत्र ६०४)

५७६– आलोयणा करने वाले के आठ गुण

आठ बातों से सम्पन्न व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना के योग्य होता है।

(१) जातिसम्पन्न (२) कुलसम्पन्न (३) विनयसम्पन्न (४) ज्ञान सम्पन्न (५) दर्शनसम्पन्न (६) चारित्रसम्पन्न (७) क्षान्त अर्थात् क्षमाशील और (८) दान्त अर्थात् इन्द्रियों का दमन करने वाला। (ठाणांग सूत्र ६०४)

५७७– माया की आलोयणा के आठ स्थान

आठ बातों के कारण मायावी (कपटी) मनुष्य अपने दोष की आलोयणा करता है।

(१) 'मायावी इस लोक में निन्दित तथा अपमानित होता है' यह समझकर अपमान तथा निन्दा से बचने के लिये मायावी (कपटी) पुरुष आलोयणा करता है।

(२) मायावी का उपपात अर्थात् देवलोक में जन्म भी गर्हित होता है, क्योंकि वह तुच्छ जाति के देवों में उत्पन्न होता है और सभी उसका अपमान करते हैं।

(३) देवलोक से चवने के बाद मनुष्य जन्म भी उसका गर्हित

होता है। वह तुच्छ, नीच तथा ओछे कुल में उत्पन्न होता है। वहाँ भी उसका कोई आदर नहीं करता।

(४) जो व्यक्ति एक बार भी माया करके उसकी आलोयणा आदि नहीं करता वह आराधक नहीं, विराधक समझा जाता है।

(५) जो व्यक्ति एक बार भी सेवन की हुई माया की आलोयणा कर लेता है यावत् उसे अङ्गीकार कर लेता है वह आराधक होता है।

(६) जो मायावी बहुत बार माया करके भी आलोयणा आदि नहीं करता वह आराधक नहीं होता।

(७) जो व्यक्ति बहुत बार माया करके भी उसकी आलोयणा आदि कर लेता है वह आराधक होता है।

(८) 'आचार्य या उपाध्याय विशेषज्ञान से मेरे दोषों को जान लेंगे और वे मुझे मायावी (दोषी) समझेंगे' इस डर से वह अपने दोष की आलोयणा कर लेता है।

जो मायावी अपने दोषों की आलोचना कर लेता है वह आयु पूरी करने के बाद बहुत ऋद्धि वाले तथा लम्बी स्थिति वाले ऊंचे देवलोक में उत्पन्न होता है। उन देवलोकों में सब तरह की विशाल समृद्धि तथा दीर्घ आयु को प्राप्त करता है। उसका वक्षस्थल हारों से सुशोभित होता है। कड़े आदि दूसरे आभूषणों से हाथ भरे रहते हैं। अंगद, कुंडल, मुकुट वगैरह सभी आभूषणों से मण्डित होता है। उसके हाथों में विचित्र गहने होते हैं, विचित्र वस्त्र और भूषण होते हैं, विविध फूलों की मालाओं का मुकुट होता है, बहुमूल्य और शुभ वस्त्र पहिने होता है। शुभ और श्रेष्ठ चन्दन वगैरह का लेप किये होता है। भास्वर शरीर वाला होता है, लम्बी लटकती हुई वनमाला को धारण करता है। दिव्य वर्ण, दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य स्पर्श, दिव्य संहनन, दिव्य संस्थान, दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति,

दिव्य प्रभा, दिव्य छाया, दिव्य कान्ति, दिव्य तेज, दिव्य लेश्या अर्थात् विचार, इन सब के द्वारा वह दसों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ तरह तरह के नाट्य, गीत और वादित्रों के साथ दिव्य भोगों को भोगता है। उसके परिवार के सभी लोग तथा नौकर चाकर उसका सन्मान करते हैं, उसे बहुमूल्य आसन देते हैं। तथा जब वह बोलने के लिए खड़ा होता है तो चार पाँच देव खड़े होकर कहते हैं, देव! और कहिए, और कहिए।

जब वह आयु पूर्ण होने पर देवलोक से चवता है तो मनुष्यलोक में ऊँचे तथा सम्पन्न कुलों में पुरुषरूप से उत्पन्न होता है। अच्छे रूपवाला, अच्छे वर्ण वाला, अच्छे गन्धवाला, अच्छे रसवाला, अच्छे स्पर्शवाला, इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, मनोहर स्वरवाला तथा आदेय वचनवाला होता है।

नौकर चाकर तथा घर के सभी लोग उसकी इज्जत करते हैं। इत्यादि सभी बातें आलोचना न करने वाले से उल्टी जानना।

(ठाणांग सूत्र ५९७)

५७८-- माया की आलोयणा न करने के आठ स्थान

आठ बातों के कारण मायावी पुरुष माया करके उसकी आलोयणा नहीं करता, दोष के लिए प्रतिक्रमण नहीं करता आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं करता, गुरु के समक्ष आत्मगर्हा (आत्मनिन्दा) नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नहीं होता, शुभ विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कीचड़ को नहीं धोता, दुबारा नहीं करने का निश्चय नहीं करता, दोष के लिए उचित प्रायश्चित्त नहीं लेता। वे आठ कारण इस प्रकार हैं-

(१) वह यह सोचता है जब अपराध मैंने कर लिया तो अब उस पर पश्चात्ताप क्या करना ?

(२) अब भी मैं उसी अपराध को कर रहा हूँ, बिना उससे निवृत्त हुए आलोचना कैसे हो सकती है ?
(३) मैं उस अपराध को फिर करूँगा, इसलिए आलोचना आदि नहीं हो सकती।
(४) अपराध के लिए आलोचनादि करने से मेरी अपकीर्ति अर्थात् बदनामी होगी।
(५) इससे मेरा अवर्णवाद अर्थात् अपयश होगा। क्षेत्र विशेष में किसी खास बात के लिए होने वाली बदनामी को अपकीर्ति कहते हैं। चारों तरफ फैली हुई बदनामी को अपयश कहते हैं।
(६) अपनय अर्थात् पूजा सत्कार आदि मिट जाएँगे।
(७) मेरी कीर्ति मिट जाएगी।
(८) मेरा यश मिट जायगा।

इन आठ कारणों से मायावी पुरुष अपने अपराध की आलोचना नहीं करता। मायावी मनुष्य इस लोक, परलोक तथा सभी जन्मों में अपमानित होता है। इस लोक में मायावी पुरुष मन ही मन पश्चात्ताप रूपी अग्नि से जलता रहता है।

लोहे की, ताम्बे की, रांगे की, सीसे की, चांदी की और सोने की भट्टी की आग अथवा तिलों की आग अथवा चावलों या कोद्रव आदि की आग, जौं के तुसों की आग, नल अर्थात् सरों की आग, पत्तों की आग, सुण्डिका, भंडिका और गोलिया के चूल्हों की आग (ये तीनों शब्द किसी देश में प्रचलित हैं) कुम्हार के आवे (पजावे) की आग, कवेलु (नलिया) पकाने के भट्टे की आग, ईंटें पकाने के पजावे की आग, गुड़ या चीनी वगैरह बनाने की भट्टी, लूहार के बड़े बड़े भट्टे तपे हुए, जलते हुए जो अग्नि के समान हो गए हैं, किंशुक अर्थात् पलाश कुसुम की तरह लाल हो गए हैं, जो सैकड़ों ज्वालाएं

तथा अंगार छोड़ रहे हैं, अन्दर ही अन्दर जोर से सुलग रहे हैं, ऐसे अग्नि और भट्टों की तरह मायावी मनुष्य हमेशा पश्चात्ताप रूपी अग्नि से जलता रहता है। वह जिसे देखता है उसी से शङ्का करता है कि इसने मेरे दोष को जान लिया होगा।

निच्चं संकियभीओ गम्मो सव्वस्स खलियचारित्तो।
साहुजणस्स अवमओ मओऽवि पुण दुग्गइं जाइ॥

अर्थात्– मायावी पुरुष जो अपने चारित्र से गिर गया है हमेशा शंकित तथा भयभीत रहता है। हर एक उसे डरा देता है। भले आदमी उसकी निन्दा तथा अपमान करते हैं। वह मरकर दुर्गति में जाता है। इससे यह बताया गया कि जो अपने पापों की आलोचना नहीं करता उसका यह लोक बिगड़ जाता है।

मायावी पुरुष का उपपात अर्थात् परलोक भी बिगड़ जाता है। पहिले कुछ करनी की हो तो भी वह मर कर व्यन्तर आदि छोटी जाति के देवों में उत्पन्न होता है। नौकर, चाकर, दास दासी आदि बड़ी ऋद्धिवाले, शरीर और आभरण आदि की अधिक दीप्ति वाले, वैक्रियादि की अधिक लब्धि वाले, अधिक शक्ति सम्पन्न, अधिक सुखवाले महेश या सौधर्म आदि कल्पों में तथा एक सागर या उससे अधिक आयु वाले देवों में उत्पन्न नहीं होता। उन देवों का दास दासी आदि की तरह बाह्य या पुत्र स्त्री आदि की तरह आभ्यन्तर परिवार भी आदर नहीं करता, उसको अपना मालिक नहीं समझता। उसको कोई अच्छा आसन नहीं मिलता। जब वह कुछ बोलने के लिए खड़ा होता है तो चार पाँच देव उसका अपमान करते हुए कहते हैं बस रहने दो, अधिक मत बोलो।

जब वह मायावी जीव, जिसने आलोचना नहीं की है, देव गति से चवता है तो मनुष्यलोक में नीच कुलों में उत्पन्न होता

है। जैसे–अन्तकुल अर्थात् वरुड छिंपक आदि, प्रान्तकुल, चाण्डाल आदि। तुच्छ अर्थात् छोटे कुल, जिन में थोड़े आदमी हों अथवा ओछे हों, जिनका जाति बिरादरी में कोई सन्मान न हो। दरिद्र कुल, तर्कण वृत्तिवाले अर्थात् नट आदि के कुल, भीख मांगने वाले कुल, इस प्रकार के हीन कुलों में वह उत्पन्न होता है। इन कुलों में पुरुष रूप से उत्पन्न होकर भी वह कुरूप, भद्दे रंग वाला, बुरी गन्धवाला, बुरे रसवाला कठोर स्पर्शवाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, अमनोहर, हीन स्वरवाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट स्वरवाला, अकान्त स्वर वाला, अप्रिय स्वर वाला, अमनोज्ञ स्वरवाला, अमनोहर स्वरवाला तथा अनादेय वचनवाला होता है। नौकर चाकर या पुत्र स्त्री वगैरह उसका सन्मान नहीं करते। उसकी बात नहीं मानते। उसे आसन वगैरह नहीं देते। उसे अपना मालिक नहीं समझते। अगर वह कुछ बोलता है तो चार पाँच आदमी खड़े होकर कह देते हैं, बस, रहने दो, अधिक मत बोलो। इस प्रकार वह प्रत्येक जगह अपमानित होता रहता है। (ठाणांग सूत्र ५६७)

५७६–प्रतिक्रमण के आठ भेद और दृष्टान्त

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अशुभ योग से हटाकर आत्मा को फिर से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में लगाना प्रतिक्रमण कहलाता है। शुभ योग से अशुभ योग में गए हुए आत्मा का फिर शुभ योग में आना प्रतिक्रमण है।

स्वस्थानात् यत् परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥
क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थात्– जो आत्मा अपने ज्ञान दर्शनादि रूप स्थान से प्रमाद

के कारण दूसरे मिथ्यात्व वगैरह स्थानों में चला गया है उसका मुड़कर फिर अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण कहलाता है। अथवा जो आत्मा क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में आगया है उसका फिर क्षायोपशमिक भाव में लौट आना प्रतिक्रमण है। अथवा–

प्रति प्रति वर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥

अर्थात्– शल्य रहित संयमी का मोक्षफल देने वाले शुभ योगों में प्रवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के आठ भेद हैं–

(१) प्रतिक्रमण (२) प्रतिचरणा (३) परिहरणा (४) वारणा (५) निवृत्ति (६) निन्दा (७) गर्हा और (८) शुद्धि।

(१) प्रतिक्रमण– इसका अर्थ होता है उन्हीं पैरों वापिस मुड़ना। इसके दो भेद हैं– प्रशस्त और अप्रशस्त। मिथ्यात्व आदि का प्रतिक्रमण प्रशस्त है। सम्यक्त्व आदि का प्रतिक्रमण अप्रशस्त है। इसका अर्थ समझने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है–

एक राजा ने शहर से बाहर महल बनवाना शुरू किया। शुभ मुहूर्त्त में उसकी नींव डालकर पहरेदार बैठा दिये। उन्हें कह दिया गया, जो इस हद में घुसे उसे मार डालना किन्तु यदि वह जिस जगह पैर रख कर अन्दर गया था उसी जगह पैर रखते हुए वापिस लौट आए तो छोड़ देना। कुछ देर बाद जब पहरेदार असावधान हो गए तो दो अभागे ग्रामीण पुरुष उसमें घुस गए। वे थोड़ी ही दूर गए थे कि पहरेदारों ने देख लिया। सिपाहियों ने तलवार खींच कर कहा– मूर्खो! तुम यहाँ क्यों घुस गए? ग्रामीण व्यक्तियों में एक कुछ ढीठ था, वह बोला– इस में क्या हरज है? यह कह कर अपने को बचाने के लिए इधर उधर दौड़ने लगा। राजपुरुषों ने पकड़ उसी

समय उसे मार डाला। दूसरा वहीं खड़ा होकर कहने लगा– सरकार! मुझे यह मालूम नहीं था, इसीलिए चला आया। मुझे मारिए मत। जैसा आप कहेंगे मैं करने को तैयार हूँ। उन्होंने कहा अगर इन्हीं पैरों पर पैर रखते हुए वापिस चले आओगे तब छोड़ दिए जाओगे। वह डरता हुआ वैसे ही बाहर निकल आया और छोड़ दिया गया। वह सुख से जीवन बिताने लगा। यह द्रव्य प्रतिक्रमण हुआ। भाव में इस दृष्टान्त का समन्वय इस प्रकार होता है– तीर्थङ्कर रूपी राजा ने संयम रूपी महल की रक्षा करने का हुक्म दिया। उस संयम की किसी साधुरूपी ग्रामीण ने विराधना की। उसे राग और द्वेष रूपी रक्षकों ने मार डाला और वह चिरकाल तक संसार में जन्म मरण करता रहेगा।

जो साधु किसी तरह प्रमादवश होकर असंयम अवस्था को प्राप्त तो हो गया किन्तु उस अवस्था से संयम अवस्था में लौट आवे और असंयम में फिर से प्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा कर ले तो वह निर्वाण अर्थात् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

(२) प्रतिचरणा– संयम के सभी अङ्गों में भली प्रकार चलना अर्थात् संयम को सावधानतापूर्वक निर्दोष पालना प्रतिचरणा है।

एक नगर में एक बहुत धनी सेठ रहता था। उसने एक महल बनवाया, वह रत्नों से भरा था। कुछ समय के बाद महल की देखरेख अपनी स्त्री के ऊपर छोड़ कर वह व्यापार के लिए बाहर चला गया। स्त्री अपने वेशविन्यास और शृङ्गार सजने में लगी रही। मकान की परवाह नहीं की। कुछ दिनों बाद उसकी एक दीवार गिर गई। स्त्री ने सोचा, इतने से क्या होता है? थोड़े दिनों के बाद दूसरी दीवार में पीपल का पेड़ उगने लगा। स्त्री ने फिर सोचा, इस छोटे से पोधे से क्या होगा? पीपल के बढ़ने से दीवार फट गई और महल गिर गया।

सेठ ने आकर मकान की हालत देखी तो उस स्त्री को निकाल दिया। दूसरा महल बनवाया और शादी भी दूसरी की। दूसरी स्त्री से कह दिया- अगर यह मकान टूट गया तो मैं तुम्हारा नहीं रहूँगा। यह कह कर वह फिर परदेश चला गया।

वह स्त्री रोज तीन दफे मकान को अच्छी तरह देखती। लकड़ी, प्लास्टर, चित्रकारी या महल में कहीं भी थोड़ी सी तरेड़ या लकीर वगैरह देखती तो उसी समय मरम्मत करवा देती। सेठ ने आकर देखा तो महल को वैसा ही पाया जैसा वह छोड़ कर गया था। सन्तुष्ट होकर उसने उस स्त्री को घर की मालकिन बना दिया। वह सब तरह के भोग ऐश्वर्य की अधिकारिणी हो गई। पहिली स्त्री कपड़े और भोजन के बिना बहुत दुःखी हो गई।

आचार्य रूपी सेठ ने संयम रूपी महल की साल सम्हाल करने की आज्ञा दी। एक साधु ने प्रमाद और शरीर के सुख में पड़कर परवाह न की। वह पहली स्त्री की तरह संसार में दुःख पाने लगा। दूसरे ने संयम रूपी महल की अच्छी तरह साल सम्हाल की, वह निर्वाण रूपी सुख का भागी होगया।

(३) परिहरणा- अर्थात् सब प्रकार से छोड़ना।

किसी गांव में एक कुलपुत्र रहता था। उसकी दो बहनें दूसरे गांवों में रहती थीं। कुछ दिनों बाद उसके एक लड़की पैदा हुई और दोनों बहनों के लड़के। योग्य उमर होने पर दोनों बहनें अपने अपने पुत्र के लिए उस लड़की को वरने आईं। कुलपुत्र सोचने लगा, किसकी बात माननी चाहिए? उसने कहा तुम दोनों जाओ। अपने अपने लड़कों को भेज दो। जो परिश्रमी होगा उसे ही लड़की ब्याह दूँगा। उन्होंने घर जाकर पुत्रों को भेज दिया। कुलपुत्र ने दोनों को दो घड़े दिये और कहा- जाओ गोकुल से दूध ले आओ। वे दोनों घड़े

भरकर वापिस लौटे। वापिस आते समय दो रास्ते मिले, एक घूमकर आता था लेकिन समतल था। दूसरा रास्ता सीधा था किन्तु ऊँची नीची जगह, झाड़ी तथा काँटों वाला था। एक लड़का इसी मार्ग से चला। रास्ते में वह गिर पड़ा और दूध का घड़ा फूट गया। अपने मामा के पास खाली हाथ पहुँचा। दूसरा लड़का लम्बे होने पर भी निष्कण्टक रास्ते (राजमार्ग) से धीरे धीरे दूध का घड़ा लेकर सुरक्षित पहुँच गया। इससे सन्तुष्ट होकर कुलपुत्र ने उसे लड़की ब्याह दी। दूसरे से कहा– मैंने जल्दी आने के लिए तो नहीं कहा था। मैंने दूध लाने के लिए भेजा था, तुम नहीं लाए। इसलिए कन्या तुम्हें नहीं मिल सकती।

तीर्थङ्कर रूपी कुलपुत्र मनुष्य भव रूपी गोकुल से निर्दोष चारित्र रूपी दूध को लाने की आज्ञा देते हैं। उसके दो मार्ग हैं-- जिन कल्प और स्थविर कल्प। जिन कल्प का मार्ग सीधा तो है लेकिन बहुत कठिन है। उत्तम संहनन वाले महापुरुष ही उस पर चल सकते हैं। स्थविर कल्प का मार्ग उपसर्ग, अपवाद वगैरह से युक्त होने के कारण लम्बा है। जो व्यक्ति जिनकल्प की सामर्थ्य वाला न होने पर भी उस पर चलता है वह संयम रूपी दूध के घड़े को रास्ते में ही फोड़ देता है अर्थात् चारित्र से गिर जाता है। इसीलिए मुक्तिरूपी कन्या को प्राप्त नहीं कर सकता। जो समझदार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जानकर अपनी शक्ति के अनुसार धीरे धीरे संयम की रक्षा करते हुए चलता है वह अन्त में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

(४) वारणा– इसका अर्थ है निषेध।

दृष्टान्त– एक राजा ने दूसरे पराक्रमी शत्रु राजा की सेना को समीप आया जान कर आस पास के कूए, बावड़ी, तालाब वगैरह निर्मल पानी के स्थानों में विष डाल दिया। दूध, दही,

घी वगैरह सब भक्ष्य पदार्थों में तथा जिन वृक्षों के फल मीठे थे उन पर भी विष का प्रयोग कर दिया। दूसरे राजा ने आकर वहाँ विष का असर देखा तो सारी सेना को सूचित कर दिया कि कोई भी साफ पानी न पीवे। साथ ही मीठे फल आदि न खावे। जो इस तरह के पानी या फल वगैरह काम में लाएगा वह तुरन्त मर जायगा। दुर्गन्धि वाला पानी तथा खारे और कड़वे फल ही काम में लाने चाहिएँ। इस घोषणा को सुन कर जो मान गए वे जीवित रहे, बाकी मर गए।

इसी तरह तीर्थङ्कर रूपी राजा विषयभोगों को विषमिश्रित पानी और अन्न के समान बताकर लोगों को उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जो उनकी शिक्षा नहीं मानते वे अनन्त काल तक जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। उनकी शिक्षा मान कर भव्य प्राणी संसार चक्र से छूट जाते हैं।

(५) निवृत्ति– अर्थात् किसी काम से हटना।

दृष्टान्त– किसी शहर में एक जुलाहा रहता था। उसके कारखाने में कई धूर्त पुरुष बुनाई का काम करते थे। उन में एक धूर्त मीठे स्वर से गाया करता था। जुलाहे की लड़की उससे प्रेम करने लगी। उस धूर्त ने कहा– चलो हम कहीं भाग चलें, जब तक किसी को मालूम न पड़े। लड़की ने जवाब दिया– राजा की लड़की मेरी सखी है। हम दोनों ने एक ही व्यक्ति की पत्नी बनने का निश्चय किया है। इसलिए मैं उसके बिना न जाऊँगी। धूर्त ने कहा– उसे भी ले चलो। दोनों ने आपस में भागने का निश्चय कर लिया। दूसरे दिन सुबह ही वे भाग निकले। उसी समय किसी ने गीत गाया—

जइ फुल्ला कणियारया चूयय ! अहिमासमयंमि घुट्ठंमि।
तुह न खमं फुल्लेउं जइ पचंता करिंति डमराइं॥

अर्थात्- हे आम्रवृक्ष ! अधिक मास के हो जाने पर यदि क्षुद्र कर्णिकार (कनेर) के वृक्ष अपनी ऋतु से पहले ही खिल गए तो भी तुम्हें खिलना शोभा नहीं देता। क्योंकि अगर नीच लोग कोई बुरी बात करें तो क्या तुम्हें भी वह करनी चाहिए ?

राजकन्या सोचने लगी-यहाँ वसन्त ऋतु ने आम को उलाहना दिया है। यदि सब वृक्षों में क्षुद्र कनेर खिल गया तो क्या आम को भी खिलना चाहिए ? क्या आम ने अधिकमास की घोषणा नहीं सुनी। इसने ठीक ही कहा है। जो जुलाहे की लड़की करे क्या मुझे भी वही करना चाहिए ? 'मैं रत्नों का पिटारा भूल आई हूँ' यह बहाना बनाकर वह वापिस लौट आई। उसी दिन एक सब से बड़े सामन्त का लड़का अपने पैतृक सम्पत्ति के हिस्से-दार भाई बन्धुओं द्वारा अपमानित होकर राजा की शरण में आया। राजा ने वह लड़की उसे ब्याह दी। सामन्तपुत्र ने उस राजा की सहायता से उन सब भाइयों को जीत कर राज्य प्राप्त कर लिया। वह लड़की पटरानी बन गई।

यहाँ कन्या के सरीखे साधु विषय विकार रूपी धूर्तों के द्वारा आकृष्ट कर लिए जाते हैं। इसके बाद आचार्य के उपदेश रूपी गीत के द्वारा जो वापिस लौट जाते हैं वे अच्छी गति को प्राप्त करते हैं। दूसरे दुर्गति को।

दूसरा उदहारण- किसी गच्छ में एक युवक साधु शास्त्र के ग्रहण और धारण में असमर्थ था। आचार्य उसे दूसरे कार्यों में लगाए रखते थे। एक दिन अशुभ कर्म के उदय से दीक्षा छोड़ देने का विचार करके वह चला गया। बाहर निकलते हुए उसने यह गाथा सुनी-

तरियव्वा य पइण्णिया मरियव्वा समरे समत्थएणं।
असरिसजण-उल्लावा न हु सहिव्वा कुलपसूयएणं॥

अर्थात्- या तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी चाहिए या युद्ध में ही प्राण दे देने चाहिएं। कुलीन पुरुष को मामूली आदमियों की बातें कभी नहीं सहनी चाहिए। किसी महात्मा ने और भी कहा है-

लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवाऽऽर्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥

अर्थात्- माता की तरह गुणों को पैदा करने वाली, श्रेष्ठ तथा अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली लज्जा को बचाने के लिए तेजस्वी पुरुष हँसते हँसते सुख पूर्वक प्राणों को छोड़ देते हैं। सत्य पालन करने में दृढ पुरुष अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते।

युवक ने गाथा का मतलब समझा। युद्ध में लड़ते हुए कुछ सम्मानित तथा प्रसिद्ध योद्धा मुँह फेरने लगे उसी समय किसी ने ऊपर की गाथा द्वारा कहा- युद्ध से भागते हुए आप लोग शोभा नहीं देते। योद्धा लोग वापिस लौट आए। शत्रु सेना पर टूट पड़े। उसके पैर उखड़ गए। राजा ने उन सब योद्धाओं को सन्मान दिया। सभी लोग उनकी वीरता का गान करने लगे।

गाथा का भावार्थ समझने के बाद उसे ध्यान आया- संयम भी एक प्रकार का युद्ध है। यदि मैं इससे भागूँगा तो साधारण लोग अवहेलना करेंगे। वह लौट आया। आलोचना तथा प्रतिक्रमण के बाद वह आचार्य की इच्छानुसार चलने लगा।

(६) निन्दा- आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ कर्मों को बुरा समझना निन्दा है। निन्दा के लिए दृष्टान्त-

किसी नगर में एक राजा रहता था। एक दिन उस के मन में आया, सभी राजाओं के यहाँ चित्रशाला है। मेरे पास नहीं है। उसने एक बहुत बड़ा विशाल भवन बनवाया और

चित्र बनाने के लिए चित्रकारों को लगा दिया। वे सभी वहाँ आकर चित्र बनाने लगे। एक चित्रकार की बेटी अपने पिता को भोजन देने के लिए आया करती थी। एक दिन जब वह भोजन लेकर जा रही थी, नगर का राजा घोड़े को दौड़ाते हुए राजमार्ग से निकला। लड़की डरकर भागी और किसी तरह नीचे आने से बची। वह भोजन लेकर पहुँची तो उसका पिता शारीरिक बाधा से निवृत्त होने के लिए चला गया। उसी समय लड़की ने पास पड़े हुए रंगों से फर्श पर मोर का पिच्छ (पंख) चित्रित कर दिया। राजा भी अकेला वहीं पर इधर उधर घूम रहा था। चित्र पूरा होने पर लड़की दूसरी बात सोचने लगी। राजा ने पंख उठाने के लिए हाथ फैलाया। उसके नख भूमि से टकराए।

लड़की हँसने लगी और बोली– सन्दूक तीन पैरों पर नहीं टिकता। मैं चौथा पैर ढूँढ रही थी, इतने में तुम मिल गए। राजा ने पूछा– कैसे ?

लड़की बोली– मैं अपने पिता के लिए भोजन ला रही थी। उसी समय एक पुरुष राजमार्ग से घोड़े को दौड़ाते ले जा रहा था। उसको इतना भी ध्यान नहीं था कि कोई नीचे आकर मर जायगा। भाग्य से मैं तो किसी तरह बच गई। वह पुरुष एक पैर है। दूसरा पैर राजा है। उसने चित्रसभा चित्रकारों में बांट रक्खी है। प्रत्येक कुटुम्ब में बहुत से चित्रकार हैं, लेकिन मेरा पिता अकेला है। उसे भी राजा ने उतना ही हिस्सा सौंप रक्खा है। तीसरा पैर मेरे पिता हैं। राजकुल में चित्रसभा को चित्रित करते हुए उन्होंने पहिले जो कुछ कमाया था वह तो पूरा हो गया। अब जो कुछ आहार मैं लाई हूँ। भोजन के समय वे शरीरचिन्ता के लिए चले गए। अब यह भी ठण्डा हो जायगा।

राजा बोला– मैं चौथा पैर कैसे हूँ ?

वह बोली– हर एक आदमी सोच सकता है, यहाँ मोर का पिच्छ कहाँ से आया ? यदि कोई ले भी आया हो तो भी पहिले आँखों से तो देखा जाता है। वह बोला–वास्तव में मैं मूर्ख ही हूँ। राजा चला गया। पिता के जीम लेने पर वह लड़की भी चली गई।

राजा ने लड़की से शादी करने के लिए उसके माँ बाप को कहला भेजा। उन्होंने जवाब दिया, हम गरीब हैं। राजा का सत्कार कैसे करेंगे ? राजा ने उसका घर धन से भर दिया। राजा और उस लड़की का विवाह हो गया।

लड़की ने दासी को पहिले ही सिखा दिया। जब राजा सोने के लिये आये तो तुम मुझ से कहानी सुनाने के लिए कहना। दासी ने वैसा ही किया। राजा जब सोने लगा तो उसने कहा रानीजी ! जब तक राजाजी को नींद आवे तब तक कोई कहानी सुनाओ। वह सुनाने लगी— एक लड़की थी। उसे वरने के लिए तीन वर एक साथ आगए। लड़की के माँ बाप उन तीनों में से एक को भी जवाब नहीं दे सकते थे। उनमें से एक के साथ पिता ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। दूसरे के साथ माता ने और तीसरे के साथ भाई ने। वे तीनों विवाह करने के लिए आगये। उसी रात में लड़की को साँप ने काट खाया और वह मर गई। वरों में से एक उसी के साथ जलने को तैयार हुआ। दूसरा अनशन करने लगा। तीसरे ने देवता की आराधना की और उस से संजीवन मंत्र प्राप्त किया और लड़की को जीवित कर दिया। फिर तीनों में प्रश्न खड़ा हुआ कि लड़की किसे दी जाय ? क्या एक ही कन्या दो या तीन को दी जा सकती है ? दासी ने कहा आप ही बताओ ! वह बोली। आज तो नींद आ रही है, कल कहूँगी।

कहानी के कुतूहल से दूसरे दिन भी राजा उसी रानी के महल

आया। दासी के पूछने पर रानी ने कहा–जिस ने उसे जीवित किया वह तो पिता है। जो साथ में जलने को तय्यार हुआ वह भाई है। जिसने खाना पीना छोड़ दिया था उसी को दी जानी चाहिए।

दासी ने दूसरी कहानी सुनाने के लिए कहा–

वह बोली– एक राजा के तलघर में कुछ सुनार मणि और रत्नों के उजाले में जेवर घड़ा करते थे। उन्हें वहाँ से बाहर निकलने की इजाजत नहीं थी। उन में से एक ने पूछा– क्या समय है ? दूसरे ने कहा रात है। बताओ ! उसे किस तरह मालूम पड़ा ? उसे तो सूरज चाँद कुछ भी देखने को नहीं मिलता था। दासी के पूछने पर उसने कहा आज तो नींद आती है। कल बताऊँगी। तीसरे दिन भी राजा सुनने के लिए आगया। दासी के पूछने पर रानी ने उत्तर दिया, उस सुनार को रतौंधी आती थी। रात को नहीं दीखने से उसे मालूम पड़ गया।

दासी ने और कहानी सुनाने के लिए कहा। रानी कहने लगी– एक राजा के पास दो चोर पकड़ कर लाये गए। उसने उन्हें पेटी में बन्द करके समुद्र में फेंक दिया। कुछ दिन तो पेटी समुद्र में इधर उधर तैरती रही। एक दिन किसी पुरुष ने उसे देख लिया। निकाल कर खोला तो आदमियों को देखा। उन्हें पूछा गया– तुम्हें फेंके हुए कितने दिन हो गए। एक बोला यह चौथा दिन है। बताओ उसे कैसे मालूम पड़ा ?

दासी के पूछने पर उसी तरह दूसरे दिन उसने जवाब दिया उस चोर को चौथिया बुखार आता था, इसीसे मालूम पड़ गया।

फिर कहने पर दूसरी कहानी शुरू की–

किसी जगह दो सौतें रहती थीं। एक के पास बहुत से रत्न थे। उसे दूसरी पर भरोसा नहीं था। हमेशा डर लगा रहता था, कहीं चुरा न ले। उसने उन रत्नों को एक घड़े में बन्द करके

ऊपर से मुंह को लीप दिया और ऐसी जगह रख दिया जहाँ आती जाती हुई वही देख सके। दूसरी को पता लग गया। उसने रत्न निकाल कर उसी तरह घड़े को लीप दिया। पहली को यह मालूम हो गया कि उसके रत्न चुरा लिए गए हैं। बताओ! घड़ा लीप देने पर भी यह कैसे मालूम पड़ा।

दूसरे दिन बताया कि घड़ा काच का था। इसी लिए मालूम पड़ गया कि रत्न निकाल लिए गए हैं।

दूसरी कहानी शुरू की—

एक राजा था, उसके पास चार गुणी पुरुष थे— ज्योतिषी, रथकार, सहस्रयोद्धा और वैद्य। उस राजा की एक बहुत सुंदर कन्या थी। उसे कोई विद्याधर उठा लेगया। किसी को मालूम न पड़ा किधर लेगया। राजा ने कहा— जो कन्या को ले आएगा वह उसी की हो जायगी। ज्योतिषी ने बता दिया, इस दिशा को गई है। रथकार ने आकाश में उड़नेवाला एक रथ तैयार किया। चारों उस रथ में बैठ कर रवाना हुए। विद्याधर आया। सहस्रयोद्धा ने उसे मार डाला। विद्याधर ने मरते मरते लड़की का सिर काट डाला। वैद्य ने संजीवनी औषधि से उसे जीवित कर दिया। चारों उसे घर ले आए। राजा ने चारों को देदी। राजकुमारी ने कहा— मैं चार के साथ कैसे विवाह करूँ? अगर यही बात है तो मैं अग्नि में प्रवेश करती हूँ। जो मेरे साथ आग में घुसेगा, मैं उसी की हो जाऊँगी।

उसके साथ कौन अग्निप्रवेश करेगा, लड़की किसे दी जायगी?

दूसरे दिन बताया— ज्योतिषी ने ज्योतिष द्वारा यह जान लिया कि राजकुमारी की आयु अभी बाकी है। इसलिये वह अभी नहीं मरेगी। उसने अग्नि में प्रवेश करना मंजूर कर लिया। दूसरों ने नहीं। लड़की ने चिता के नीचे एक सुरङ्ग खुदवाई।

उसके ऊपर चिता के आकार लकड़ियाँ चुन दी गईं। जब उनमें आग लगाई गई वे दोनों सुरङ्ग के रास्ते बाहर निकल गए। ज्योतिषी के साथ राजकुमारी का विवाह हो गया।

फिर दूसरी कथा शुरू की—

व्रत रहित किसी अभिनेत्री ने नाटक में जाते हुए कड़े मांगे। किसी ने कुछ रुपए रखकर किराए पर दे दिए। अभिनेत्री की लड़की ने उन्हें पहिन लिया। नाटक समाप्त हो जाने पर भी वापिस नहीं लौटाया। मालिकों ने कड़ों को वापिस मांगा। मांगते मांगते कई साल बीत गए। इतने में लड़की बड़ी होगई। कड़े हाथ से निकल न सके, अभिनेत्री ने मालिकों को कहा— कुछ रुपए और ले लो और इन्हें छोड़ दो। वे न माने। तो क्या लड़की के हाथ काटे जॉय ? उसने कहा अच्छा। मैं इसी तरह के दूसरे कड़े बनवाकर ला देती हूँ। मालिक फिर भी न माने। उन्होंने कहा वे ही कड़े लाओ। कड़े वापिस कैसे लौटाए जॉय ? जिससे लड़की के हाथ न कटें। मालिकों को क्या उत्तर दिया जाय ? दूसरे दिन उसने बताया, मालिकों से कहा जाय कि वे ही रुपए वापिस लौटा दो तो वे ही कड़े मिल जाएँगे। न तो वे ही रुपए वापिस लौटा सकेंगे न वे ही कड़े दिए जायँगे। इस तरह लड़की के हाथ बच जाएँगे और मालिकों को उत्तर भी मिल जायगा।

इस प्रकार की कहानियाँ कहते कहते उसे छः महीने बीत गए। छः महीने तक बराबर राजा उसी के महल में आता रहा। दूसरी रानियाँ उसके छिद्र ढूँढा करती थीं।

वह चित्रकार की लड़की अकेली एक कमरे में घुस कर जवाहरात और बहुमूल्य वस्त्रों को सामने रख कर स्वतः अपनी आत्मा की निन्दा करती थी। वह अपने आप को कहती—

'तू एक चित्रकार की लड़की है। ये तुम्हारे पिता के दिये हुए वस्त्र और आभरण हैं और यह राज्य लक्ष्मी है। ऊँचे ऊँचे कुल में पैदा हुई राजकुमारियों को छोड़ कर जो राजा तुम्हें मानता है इसके लिए घमंड मत करना।' किंवाड़ वन्द करके वह प्रतिदिन इसी प्रकार किया करती थी। दूसरी रानियों ने उसे देख लिया। राजा के पैरों में गिर कर उन्होंने कहा– यह रोज कमरे में घुसकर उच्चाटन आदि करती है। यह आपको मार डालेगी। राजा ने एक दिन उसे स्वयं देखा और सारी बातें सुनी। राजा बहुत खुश हुआ और उसे पटरानी बना दिया। यह द्रव्य निन्दा हुई। साधु द्वारा की गई अपनी आत्मा की निन्दा भावनिन्दा है। वह प्रतिदिन विचार करे और आत्मा से कहे– हे जीव ! नरक तिर्यंच आदि गतियों में घूमते हुए तूने किसी तरह मनुष्य भव प्राप्त कर लिया। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी मिल गए। इन्हीं के कारण तुम सब के माननीय हो गए हो। अब घमण्ड मत करो कि मैं बहुश्रुत या उत्तम चारित्र वाला हूँ।

(७) गर्हा– गुरु की साक्षी से अपने किये हुए पापों की निन्दा करना गर्हा है। पतिमारिका (पति को मारने वाली) का उदाहरण–

किसी जगह एक ब्राह्मण अध्यापक रहता था। उसकी भार्या युवती थी। वह विश्वदेवता को बलि× देते समय अपने पति से कहती, मैं कौओं से डरती हूँ। उपाध्याय ने छात्रों को नियुक्त कर दिया। वे प्रति दिन धनुष लेकर बलि देते समय उसकी रक्षा करते थे। उन में से एक छात्र सोचने लगा– यह ऐसी भोली और डरपोक तो नहीं है जो कौओं से डरे। वास्तव में बात कुछ और है। वह उसका ध्यान रखने लगा।

× अन्न से अग्नि आदि का तर्पण करना वैश्वदेव बलि कहलाता है।

नर्मदा नदी के दूसरे तट पर एक ग्वाला रहता था। ब्राह्मणी का उसके साथ अनुचित सम्बन्ध था। एक दिन रात्रि में वह घड़े से तैरती हुई नदी पार कर ग्वाले के पास जा रही थी। कुछ चोर भी तैरते हुए नदी पार कर रहे थे। उन्होंने उसे पकड़ लिया। चोरों में से एक को मगर ने पकड़ लिया। वह चिल्लाने लगा। ब्राह्मणी बोली-- मगर की आँखें ढक दो। ऐसा करने पर मगर ने छोड़ दिया। वह फिर बोली- क्या किसी खराब किनारे पर लग गये हैं? वह छात्र यह सब जान कर चुप चाप लौट आया। दूसरे दिन ब्राह्मणी बलि करने लगी। रक्षा के लिए उसी लड़के की बारी थी। वह एक गाथा में बोला-- दिन को कौओं से डरती हो, रात को नर्मदा पार करती हो। पानी में उतरने के बुरे रास्ते और आँखें ढकना भी जानती हो। वह बोली-- क्या करूं? जब तुम्हारे सरीखे पसन्द नहीं करते। वह उसी के पीछे पड़ गई और कहने लगी, मुझ से प्रेम करो। छात्र बोला-- गुरुजी के सामने मैं कैसे ठहर सकूँगा। वह सोचने लगी, अगर इस अध्यापक को मार डालूँ तो यह छात्र मेरा पति बन जायगा। यह सोचकर उसने अपने पति को मार डाला और एक पेटी में बन्द कर के जंगल में छोड़ने चली गई। जब वह पेटी को नीचे उतार रही थी, उसी समय एक व्यन्तर देवी ने स्तम्भित कर दिया अर्थात् पेटी को सिर से चिपा दिया। पेटी उसके सिर पर ही रह गई। वह जंगल में घूमने लगी। भूख मिटाने को भी कुछ नहीं मिला। ऊपर से खून टपकने लगा। सभी लोग उस की हीलना करने लगे और कहने लगे कि यह पति को मारने वाली घूमती है।

धीरे धीरे वह अपने किए पर पछताने लगी। आत्मनिन्दा की ओर प्रवृत्त हुई। किसी के दरवाजे पर भीख मांगने जाती

तो कहती- मां! पति मारने वाली को भीख दो। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। आत्मनिन्दा से उसका पाप हल्का हो गया। एक दिन साध्वियों को नमस्कार करते समय सिर से पेटी गिर गई। उसने दीक्षा ले ली। इसी तरह अपने दुश्चरित्र की निन्दा करने से पापकर्म ढीले पड़ जाते हैं।

(८) शुद्धि- तपस्या आदि से पाप कर्मों को धो डालना शुद्धि है।

राजगृह नगर में श्रेणिक नाम का राजा था। उसने रेशमी वस्त्रों का एक जोड़ा धोने के लिये धोबी को दिया। उन्हीं दिनों कौमुदी महोत्सव आया। धोबी ने वह वस्त्र का जोड़ा अपनी दोनों स्त्रियों को पहनने के लिये दे दिया। चान्दनी रात में श्रेणिक और अभयकुमार वेश बदल कर घूम रहे थे। उन्होंने धोबी की स्त्रियों के पास वह वस्त्र देखा, देखकर उस पर पान के पीक का दाग लगा दिया। वे दोनों घर पर आईं तो धोबी ने बहुत फटकारा। वस्त्रों को खार से धोया। सुबह राजा के पास कपड़े लाया। राजा के पूछने पर उसने सारी बात सरलता पूर्वक साफ साफ कह दी। यह द्रव्यशुद्धि हुई।

साधु को भी काल का उल्लंघन बिना किए आचार्य के पास पापों की आलोचना कर लेनी चाहिए। यही भावशुद्धि है। अथवा जिस तरह अगद अर्थात् दवाई से विष नष्ट हो जाता है। इसी तरह आत्मनिन्दा रूपी अगद से अतिचार रूपी विष दूर करना चाहिए। (हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन)

५८०- प्रमाद आठ

जिसके कारण जीव मोक्षमार्ग के प्रति शिथिल प्रयत्नवाला हो जाय उसे प्रमाद कहते हैं। इसके आठ भेद हैं-

(१) अज्ञानप्रमाद- मूढता।

(२) संशयप्रमाद- 'यह बात इस प्रकार है या दूसरी तरह' इस प्रकार का सन्देह।

(३) मिथ्याज्ञानप्रमाद- विपरीत धारणा।

(४) राग- किसी वस्तु से स्नेह।

(५) द्वेष- अप्रीति।

(६) स्मृतिभ्रन्श- भूल जाने का स्वभाव।

(७) धर्म में अनादर- केवली प्रणीत धर्म का पालन करने में उद्यम रहित।

(८) योगदुष्प्रणिधान- मन, वचन और काया के योगों को कुमार्ग में लगाना। (प्रवचनसारोद्धार द्वार २०७)

५८१- प्रायश्चित्त आठ

प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर उसे दूर करने के लिए जो आलोयणा तपस्या आदि शास्त्र में बताई गई हैं, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त के आठ भेद हैं-

(१) आलोचना के योग्य (२) प्रतिक्रमण के योग्य (३) आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य (४) विवेक- अशुद्ध भक्त पानादि परिठवने योग्य (५) कायोत्सर्ग के योग्य (६) तप के योग्य (७) दीक्षा पर्याय का छेद करने के योग्य (८) मूल के योग्य अर्थात् फिर से महाव्रत लेने के योग्य।

(ठाणांग, सूत्र ६०५)

५८२- झूठ बोलने के आठ कारण

नीचे लिखे आठ कारण उपस्थित हो जाने पर मनुष्य के मुँह से असत्य वचन निकल जाता है। इसलिए इन आठों बातों को छोड़ देना चाहिए या उस समय बोलने का ध्यान विशेषरूप से रखना चाहिए। या मौन धारण कर लेना चाहिये साधु के लिए तो ये आठ तीन करण तीन योग से वर्जित हैं-

(१) क्रोध (२) लोभ (३) भय (४) हास्य (५) क्रीड़ा अर्थात् खेल (६) कुतूहल (७) राग और (८) द्वेष।

(साधुप्रतिक्रमण महाव्रत २)

५८३--साधु के लिए वर्जनीय आठ दोष

साधु को भाषासमिति का पालन करने के लिए नीचे लिखे आठ दोष छोड़ देने चाहिएं, क्योंकि इन दोषों के कारण ही सदोष वचन मुँह से निकलते हैं—

(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ (५) हास्य (६) भय (७) निद्रा और (८) विकथा (अनुपयोगी वार्तालाप)।

(उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २४ गाथा ९)

५८४-शिक्षाशील के आठ गुण

जो व्यक्ति उपदेश या शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, उसमें नीचे लिखे आठ गुण होने चाहिएं।

(१) शान्ति– वह व्यक्ति हास्य क्रीड़ा न करे। हमेशा शान्त चित्त से उपदेश ग्रहण करे।

(२) इन्द्रियदमन– जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में गृद्ध रहता है वह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए शिक्षार्थी को इन्द्रियों का दमन करना चाहिए।

(३) स्वदोषदृष्टि– वह व्यक्ति हमेशा अपने दोषों को दूर करने में प्रयत्न करे। दूसरे के दोषों की तरफ ध्यान न देकर गुण ही ग्रहण करे।

(४) सदाचार– अच्छे चाल चलन वाला होना चाहिए।

(५) ब्रह्मचर्य–वह व्यक्ति पूर्ण या मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करे। अनाचार का सेवन न करे।

(६) अनासक्ति–विषयों में अनासक्त होना चाहिए। इन्द्रिय लोलुप नहीं होना चाहिए।

(७) सत्याग्रह– हमेशा सत्य बात को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(८) सहिष्णुता– सहनशील और धैर्य वाला होना चाहिए। क्रोधी नहीं होना चाहिए। (उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गा० ४–५)

५८५– उपदेश के योग्य आठ बातें

शास्त्र तथा धर्म को अच्छी तरह जानने वाला मुनि साधु, श्रावक तथा सर्वसाधारण को इन आठ बातों का उपदेश दे–

(१) शान्ति– अहिंसा अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न करना।

(२) विरति– पाँच महाव्रतों का पालन करना।

(३) उपशम– क्रोधादि कषायों तथा नोकषायों पर विजय प्राप्त करना। इसमें सभी उत्तर गुण आजाते हैं।

(४) निर्वृत्ति– निर्वाण। मूल गुण और उत्तर गुणों के पालन से इस लोक और परलोक में होनेवाले सुखों को बताना।

(५) शौच– मन, वचन और काया को पाप से मलीन न होने देना और दोष रहित शुद्ध व्रतों का पालन करना।

(६) आर्जव– सरलता। माया और कपट का त्याग करना।

(७) मार्दव– स्वभाव में कोमलता। मान और दुराग्रह (हठ) का त्याग करना।

(८) लाघव– आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह का त्याग करके लघु अर्थात् हल्का हो जाना। (आचारांग सूत्र अध्ययन ६ उद्देशा ५)

५८६– एकलविहार प्रतिमा के आठ स्थान

जिनकल्प प्रतिमा या मासिकी प्रतिमा आदि अङ्गीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकलविहार प्रतिमा कहते हैं। समर्थ और श्रद्धा तथा चारित्र आदि में दृढ़ साधु ही

इसे अङ्गीकार कर सकता है। उस में नीचे लिखी आठ बातें होनी चाहिएं-

(१) सड्ढी पुरिसजाते- वह साधु जिनमार्ग में प्रतिपादित तत्त्व तथा आचार में दृढ श्रद्धावाला हो। कोई देव तथा देवेन्द्र भी उसे सम्यक्त्व तथा चारित्र से विचलित न कर सकें। ऐसा पुरुषार्थी, उद्यमशील तथा हिम्मती होना चाहिए।

(२) सच्चे पुरिसजाते- सत्यवादी और दूसरों के लिए हित वचन बोलने वाला।

(३) मेहावी पुरिसजाते- शास्त्रों को ग्रहण करने की शक्तिवाला अथवा मर्यादा में रहने वाला।

(४) बहुस्सुते- बहुश्रुत अर्थात् बहुत शास्त्रों को जानने वाला हो। सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व तथा जघन्य नवमे पूर्व की तीसरी वस्तु को जानने वाला होना चाहिए।

(५) सत्तिमं- शक्तिमान् अर्थात् समर्थ होना चाहिए। तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पाँचों के लिए अपने बल की तुलना कर चुका हो।

(६) अप्पाहिकरणे-थोड़े वस्त्र पात्रादि वाला तथा कलह रहित हो।

(७) धितिमं- चित्त की स्वस्थता वाला अर्थात् रति, अरति तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहने वाला हो।

(८) वीरितसम्पन्ने- परम उत्साह वाला हो। (ठाणांग,सूत्र ५९४)

५८७- एकाशन के आठ आगार

दिन रात में एक ही बार एक आसन से बैठकर आहार करने को एकाशन या एकासना पच्चक्खाण कहते हैं। इसमें आठ आगार होते हैं।

(१) अणाभोगेणं- बिल्कुल भूल जाने से पच्चक्खाण का ख्याल न रहना।

(२) सहसागारेणं-मेघ बरसने या दही मथने आदि के समय रोकने पर भी जल और छाछ आदि का मुख में चला जाना।

(३) सागारियागारेणं- जिनके देखने से आहार करने की शास्त्र में मनाही है, उनके उपस्थित होजाने पर स्थान छोड़ कर दूसरी जगह चले जाना।

(४) आउंटणपसारणेणं- सुन्न पड़ जाने आदि कारण से हाथ पैर आदि अङ्गों को सिकोड़ना या फैलाना।

(५) गुरु अब्भुट्ठाणेणं- किसी पाहुने, मुनि या गुरु के आने पर विनय सत्कार के लिए उठना।

(६) परिट्ठावणियागारेणं- अधिक हो जाने के कारण जिस आहार को परठवना पड़ता हो, तो परठवने के दोष से बचने के लिए उस आहार को गुरु की आज्ञा से ग्रहण कर लेना।

(७) महत्तरागारेणं- विशेष निर्जरा आदि खास कारण से गुरु की आज्ञा पाकर निश्चय किए हुए समय से पहले ही पच्चक्खाण पार लेना।

(८) सव्वसमाहिवत्तियागारेणं- तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषध आदि ग्रहण करने के निमित्त निर्धारित समय के पहिले ही पच्चक्खाण पार लेना।

यदि इन कारणों के उपस्थित होने पर त्याग की हुई वस्तु सेवन की जाय तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। इसमें परिट्ठावणिया आगार साधु के लिए ही है। श्रावक के लिए सात ही आगार होते हैं। (हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्ययन)

५८८- आयम्बिल के आठ आगार

आयम्बिल में साढपोरिसी तक सात आगार पूर्वक चारों

आहारों का त्याग किया जाता है। इसके बाद आयम्बिल करने का पच्चक्खाण आठ आगार सहित किया जाता है। आयम्बिल में एक वक्त नीरस आहार करने के बाद पानी के सिवाय तीनों आहारों का त्याग किया जाता है। इसलिए इस में तिविहार एकासना के आगार भी रहते हैं।

आयम्बिल के आठ आगार निम्नलिखित हैं—

(१) अणाभोगेणं (२) सहसागारेणं (३) लेवालेवेणं (४) गिहत्थसंसट्ठेणं (५) उक्खित्तविवेगेणं (६) परिट्ठावणियागारेणं (७) महत्तरागारेणं (८) सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

(३) लेवालेवेणं-- लेप आदि लगे हुए बर्तन आदि से दिया हुआ आहार ग्रहण कर सकता है।

(४) गिहत्थसंसट्ठेणं– घी, तेल आदि से चिकने हाथों से गृहस्थ द्वारा दिया हुआ आहार पानी तथा दूसरे चिकने आहार का जिस में लेप लग गया हो ऐसा आहार पानी ले सकता है।

(५) उक्खित्तविवेगेणं– ऊपर रक्खे हुए गुड़ शक्कर आदि को उठा लेने पर उनका कुछ अंश जिस में लगा रह गया हो ऐसी रोटी आदि को ले सकता है।

बाकी आगारों का स्वरूप पहले दिया जा चुका है।

आयम्बिल और एकासना के सभी आगार मुख्यरूप से साधु के लिए बताए गए हैं। श्रावक को अपने लिए स्वयं देख लेने चाहिए। जैसे– परिट्ठावणियागार श्रावक के लिए नहीं है।

(हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्ययन)

५८९– पच्चक्खाण में आठ तरह का संकेत

पोरिसी आदि पच्चक्खाण नियत समय हो जाने के बाद पूरे हो जाते हैं। उसके बाद श्रावक या साधु जब तक अशनादि का सेवन न करे तब तक पच्चक्खाण में रहने के लिए उसे किसी

तरह का संकेत कर लेना चाहिए। उसके लिए शास्त्र में आठ तरह के संकेत बताए गए हैं। पोरिसी आदि के बाद उनमें से किसी संकेत को मान कर पच्चक्खाण किया जा सकता है। वे ये हैं—

(१) अंगुष्ठ—जब तक मैं अंगूठे को यहाँ से नहीं हटाऊँगा तब तक अशनादि नहीं करूँगा। इस प्रकार संकेत करना अंगुष्ठसंकेत पच्चक्खाण है। आज कल इस प्रकार का संकेत अंगूठी से भी किया जाता है अर्थात् यह निश्चय कर लिया जाता है कि अमुक हाथ की अमुक अङ्गुली में जब तक अंगूठी पहिने रहूँगा तब तक मेरे पच्चक्खाण है। यह पच्चक्खाण कर लेने पर जब तक अंगूठी अङ्गुली में रहती है तब तक पच्चक्खाण गिना जाता है।

(२) मुष्टि— मुट्ठी बन्द करके यह निश्चय करे कि जब तक मुट्ठी नहीं खोलूँगा तब तक पच्चक्खाण है।

(३) ग्रन्थि— कपड़े वगैरह में गांठ लगा कर यह निश्चय करे कि जब तक गांठ नहीं खोलूँ तब तक पच्चक्खाण है।

(४) गृह— जब तक घर में प्रवेश नहीं करूँगा तब तक त्याग है।

(५) स्वेद—जब तक पसीना नहीं सूखेगा तब तक पच्चक्खाण है।

(६) उच्छ्वास--जब तक इतने साँस नहीं आएंगे तब तक त्याग है।

(७) स्तिबुक— पानी रखने के स्थान पर पड़ी हुई बूंदें जब तक सूख न जाएंगी, अथवा जब तक ओस की बूंदें नहीं सूखेंगी तब तक पच्चक्खाण है।

(८) दीपक— जब तक दीपक जलता रहेगा तब तक त्याग है।

यद्यपि इस तरह के संकेत अनेक हो सकते हैं। फिर भी रास्ता बताने के लिए मुख्य आठ बताए गए हैं।

(हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्ययन)

५९०— कर्म आठ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त

से आत्मप्रदेशों में हलचल होती है तब जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह मेल ठीक वैसा ही होता है जैसा दूध और पानी का या अग्नि और लोह-पिंड का। इस प्रकार आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त कार्मण-वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं।

कर्मग्रन्थ में कर्म का लक्षण इस प्रकार बताया है– 'कीरइ जीएण हेउहिं जेण त्तो भएणए कम्मं' अर्थात् मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों में घटित होता है। आत्मा के राग द्वेषादि रूप वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और कर्मवर्गणा के पुद्गलों का सूक्ष्म विकार द्रव्यकर्म है। राग द्वेषादि वैभाविक परिणामों में जीव उपादान कारण है। इस लिए भावकर्म का कर्त्ता उपादान रूप से जीव है। द्रव्यकर्म में जीव निमित्त कारण है। इसलिए निमित्त रूप से द्रव्यकर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। इस प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दोनों का परस्पर बीज और अंकुर की तरह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।

कर्म की सिद्धि– संसार के सभी जीव आत्म-स्वरूप की अपेक्षा एक से हैं। फिर भी वे पृथक् पृथक् योनियों में भिन्न भिन्न शरीर धारण किये हुए हैं और विभिन्न स्थितियों में विद्यमान हैं। एक राजा है तो दूसरा रंक है। एक बुद्धिमान् है तो दूसरा मूर्ख है। एक शक्तिशाली है तो दूसरा सत्त्वहीन है। एक ही माता के उदर से जन्म पाये हुए, एक ही परिस्थिति में पले हुए, सरीखी शिक्षा दिये गये युगल बालकों में भी महान्

अन्तर दिखाई देता है। यह विचित्रता, यह विषमता निर्हेतुक नहीं हो सकती। इसलिये सुख दुःख आदि विषमताओं का कोई कारण होना चाहिये जैसे कि बीज अंकुर का कारण है। इस विषमता का कारण कर्म ही हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि सुख दुःख के कारण तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं। माला, चन्दन, स्त्री आदि सुख के कारण हैं और विष, कण्टक आदि दुःख के कारण हैं। फिर दृश्यमान सुख दुःख के कारणों को छोड़कर अदृष्ट कर्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? सुख दुःख के इन बाह्य साधनों से भी परे हमें सुख दुःख के कारण की खोज इसलिये करनी पड़ती है कि सुख की समान सामग्री प्राप्त पुरुषों के भी सुख दुःख में अन्तर दिखाई देता है। इस अन्तर का कारण कर्म के सिवाय और क्या हो सकता है? एक व्यक्ति को सुख के कारण प्राप्त होते हैं तो दूसरे को नहीं। इसका भी नियामक कारण होना चाहिए और वह कर्म ही हो सकता है।

जैसे युवा शरीर बाल शरीर पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल शरीर भी शरीर विशेष पूर्वक होता है और वह शरीर कार्मण अर्थात् कर्मरूप ही है। जन्मान्तर का शरीर बाल शरीर का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह जन्मान्तर में ही रह जाता है। विग्रहगति में वह साथ नहीं रहता। इसके सिवाय अशरीरी जीव का नियत शरीर ग्रहण करने के लिये नियत स्थान पर आना भी न बन सकेगा क्योंकि आने का कोई कारण नहीं है। इसलिए बालशरीर के पहले शरीर विशेष मानना चाहिये और वह शरीरविशेष कार्मण शरीर ही है। यही शरीर विग्रहगति में भी जीव के साथ रहता है और उसे उत्पत्ति क्षेत्र में ले जाता है।

दानादि क्रियाएं फलवाली होती हैं क्योंकि वे सचेतन द्वारा

की जाती हैं। जो क्रियाएं सचेतन द्वारा की जाती हैं वे अवश्य फलवती होती हैं जैसे खेती आदि। दानादि क्रियाएं भी सचेतन द्वारा की जाने से फलवती हैं। इस प्रकार दानादि क्रियाओं का फलवती होना सिद्ध होता है। दानादि क्रिया का फल कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता।

कर्म की मूर्तता– जैन दर्शन में कर्म पुद्गलरूप माना गया है इसलिये वह मूर्त है। कर्म के कार्य शरीरादि के मूर्त होने से वह भी मूर्त ही है। जो कार्य मूर्त होता है उसका कारण भी मूर्त होता है, जैसे घट का कारण मिट्टी। अमूर्त कार्य का कारण भी अमूर्त होता है, जैसे ज्ञान का कारण आत्मा। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार शरीरादि कर्म के कार्य हैं उसी प्रकार सुख दुःखादि भी कर्म के ही कार्य हैं पर वे अमूर्त हैं। इसलिये मूर्त कारण से मूर्त कार्य होता है और अमूर्त कारण से अमूर्त कार्य होता है यह नियम सिद्ध नहीं होता। इसका समाधान यह है कि सुख दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं और आत्मा ही उनका समवायि (उपादान) कारण है। कर्म तो सुख दुःख में निमित्त कारण रूप है। इस लिये उक्त नियम में कोई बाधा नहीं आती। कर्म को मूर्त सिद्ध करने के लिए और भी हेतु दिये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं–

कर्म मूर्त हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध होने पर सुख दुःखादि का ज्ञान होता है, जैसे अशनादि आहार। कर्म मूर्त हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध होने पर वेदना होती है जैसे अग्नि। कर्म मूर्त हैं, क्योंकि आत्मा और उसके ज्ञानादि धर्मों से व्यतिरिक्त होते हुए भी वह बाह्य माला, चन्दन आदि से बल अर्थात् वृद्धि पाता है, जैसे तैल से घड़ा मजबूत होता है। कर्म मूर्त हैं, क्योंकि आत्मा से भिन्न होते हुए भी वे परिणामी हैं जैसे दूध। कर्म के कार्य शरीरादि परिणामी देखे जाते हैं इससे कर्म के परिणामी

होने का निश्चय होता है। इस प्रकार कर्मों की मूर्तता सिद्ध है। यदि कर्म अमूर्त माने जायँ तो वे आकाश जैसे होंगे। आकाश से जैसे उपघात और अनुग्रह नहीं होता, उसी प्रकार कर्म से भी उपघात और अनुग्रह न हो सकेगा। पर चूंकि कर्मों से होने वाला उपघात अनुग्रह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसलिये वे मूर्त ही हैं। कर्म की व्याख्या में यह बताया गया है कि कर्म और आत्मा इस प्रकार एक हो जाते हैं जिस प्रकार दूध और पानी तथा अग्नि और लोहपिंड। पर गोष्ठामाहिल नामक सातवें निह्नव इस प्रकार नहीं मानते। उनके मतानुसार कर्म आत्मा के साथ बँधकर क्षीर-नीर की तरह एक रूप नहीं होते किन्तु सर्प की कञ्चुकी (कांचली) की तरह जीव से स्पृष्ट रहते हैं। इस मत की मान्यता एवं इसका खण्डन इसके द्वितीय भाग के बोल नम्बर ५६१ निह्नव प्रकरण में दिया गया है।

जीव और कर्म का सम्बन्ध– अब यह प्रश्न होता है कि जीव अमूर्त है और कर्म मूर्त हैं। उनका आपस में सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है– जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्ध होता है अथवा अंगुली आदि द्रव्य का जैसे आकुंचन (संकुचित करना) आदि क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी सम्बन्ध होता है। जीव और बाह्य शरीर का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस प्रकार अमूर्त जीव के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध होने में कोई भी बाधा नहीं है।

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव– यह प्रश्न होता है कि आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त हैं। मूर्त वायु और अग्नि का जिस प्रकार अमूर्त आकाश पर कोई प्रभाव नहीं होता उसी प्रकार मूर्त कर्म का भी आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिये।

इसका उत्तर यह है कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का असर होता है उसी प्रकार अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म अपना कार्य करते हैं। आत्मा को अमूर्त मानकर उक्त शंका का यह समाधान हुआ। आत्मा को कथंचित् मूर्त मानकर भी इसका समाधान किया जाता है। संसारी जीव अनादि काल से कर्म संतति से सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर-नीर न्याय से एक रूप हो रहा है। इसलिए वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। कर्म सम्बद्ध होने से जीव कथंचित् मूर्त भी है। इसलिये उस पर मूर्त कर्म का अनुग्रह, उपघात आदि होना युक्त ही है।

जड कर्म कैसे फल देता है– सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं। पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। कर्म स्वयं जड हैं, वे चेतन से प्रेरणा पाये विना फल नहीं दे सकते। इसीलिए कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्म फल भोगाने वाला ईश्वर माना है। जैन दर्शन में तो ऐसा ईश्वर अभिमत नहीं है। इसलिये जैन दर्शन में कर्मफल भोग की व्यवस्था कैसे होगी ?

प्राणी जो कर्म करते हैं उनका फल उन्हें उन्हीं कर्मों से मिल जाता है। कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये हुए अशुभ कर्मों का फल भोगना नहीं चाहते यह ठीक है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जीव चेतन के संग से कर्मों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वयं ही जीव पर प्रकट करते हैं। जैनदर्शन यह नहीं मानता कि चेतन से सम्बद्ध हुए विना ही जड़ कर्म फल देने में समर्थ हैं।

सभी जीव चेतन हैं। वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार

उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के अशुभ फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कार्य कर बैठते हैं कि जिससे उन्हें स्वकृत कर्मानुसार फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले यह संभव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वतः हो जाता है। कारण-सामग्री के पूरी होने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो यह बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता (तीखेपन) का अनुभव स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे, यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य चेतन आत्मा की ही आवश्यकता पड़ती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय में भी है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इस पाँच समवायों के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। (ठा० ठाणा १० टीका)

आत्मा और कर्म दोनों अगुरुलघु माने गये हैं। इसलिये उनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। (भगवती शतक १ उद्देशा ६)

इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल भोग लेता है। ईश्वर आदि किसी तीसरे व्यक्ति की इसमें आवश्यकता नहीं है। कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वतः प्रगट कर देते हैं।

कर्म की शुभाशुभता– लोक में सर्वत्र कर्मवर्गणा के पुद्गल भरे हुए हैं। उनमें शुभाशुभ का भेद नहीं है। फिर कर्म पुद्गलों में शुभाशुभ का भेद कैसे हो जाता है? इस का उत्तर यह है कि

इसका उत्तर यह है कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का असर होता है उसी प्रकार अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म अपना कार्य करते हैं। आत्मा को अमूर्त मानकर उक्त शंका का यह समाधान हुआ। आत्मा को कथंचित् मूर्त मानकर भी इसका समाधान किया जाता है। संसारी जीव अनादि काल से कर्म संतति से सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर-नीर न्याय से एक रूप हो रहा है। इसलिए वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। कर्म सम्बद्ध होने से जीव कथंचित् मूर्त भी है। इसलिये उस पर मूर्त कर्म का अनुग्रह, उपघात आदि होना युक्त ही है।

जड कर्म कैसे फल देता है– सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं। पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। कर्म स्वयं जड हैं, वे चेतन से प्रेरणा पाये बिना फल नहीं दे सकते। इसीलिए कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्म फल भोगाने वाला ईश्वर माना है। जैन दर्शन में तो ऐसा ईश्वर अभिमत नहीं है। इसलिये जैन दर्शन में कर्मफल भोग की व्यवस्था कैसे होगी ?

प्राणी जो कर्म करते हैं उनका फल उन्हें उन्हीं कर्मों से मिल जाता है। कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये हुए अशुभ कर्मों का फल भोगना नहीं चाहते यह ठीक है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जीव चेतन के संग से कर्मों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वयं ही जीव पर प्रकट करते हैं। जैनदर्शन यह नहीं मानता कि चेतन से सम्बद्ध हुए बिना ही जड़ कर्म फल देने में समर्थ हैं।

सभी जीव चेतन हैं। वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार

उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के अशुभ फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कार्य कर बैठते हैं कि जिससे उन्हें स्वकृत कर्मानुसार फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले यह संभव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वतः हो जाता है। कारण-सामग्री के पूरी होने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो यह बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता (तीखेपन) का अनुभव स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे, यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य चेतन आत्मा की ही आवश्यकता पड़ती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय में भी है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इस पाँच समवायों के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। (ठा० ठाणा १० टीका)

आत्मा और कर्म दोनों अगुरुलघु माने गये हैं। इसलिये उनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। (भगवती शतक १ उद्देशा ६)

इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल भोग लेता है। ईश्वर आदि किसी तीसरे व्यक्ति की इसमें आवश्यकता नहीं है। कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वतः प्रगट कर देते हैं।

कर्म की शुभाशुभता— लोक में सर्वत्र कर्मवर्गणा के पुद्गल भरे हुए हैं। उनमें शुभाशुभ का भेद नहीं है। फिर कर्म पुद्गलों में शुभाशुभ का भेद कैसे हो जाता है ? इस का उत्तर यह है कि

जीव अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार कर्मों को शुभाशुभ रूप में परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम कर्मों की शुभाशुभता के कारण हैं। दूसरा कारण है आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रय भूत जीव का भी यह स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभाशुभ रूप से परिणत करके ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार शुभाशुभ भाव के आश्रय वाले कर्मों में भी ऐसी योग्यता रही हुई है कि वे शुभाशुभ परिणाम सहित जीव से ग्रहण किये जाकर ही शुभाशुभ रूप में परिणत होते हैं। प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशों के अल्प वहुत्व का भेद भी जीव कर्म ग्रहण करने के समय ही करता है। इसे समझाने के लिए आहार का दृष्टान्त दिया जाता है। सर्प और गाय को एक से दूध का आहार दिया जाता है तो सर्प के शरीर में वह दूध विष रूप से परिणत होता है और गाय के शरीर में दूध रूप से। इसका कारण है आहार और आहार करने वाले का स्वभाव। आहार का ऐसा स्वभाव है कि वह एक सा होता हुआ भी आश्रय के भेद से भिन्न रूप से परिणत होता है। इसी प्रकार गाय और सर्प में भी अपनी अपनी ऐसी शक्ति रही हुई है कि वे एक से आहार को भी भिन्न भिन्न रूप से परिणत कर देते हैं। एक ही समय में पड़ी हुई वर्षा की वूंदों का आश्रय के भेद से भिन्न भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई वूंदें सीप के मुंह में जाकर मोती वन जाती हैं और सर्प के मुंह में जाकर विष। यह तो भिन्न भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता दिखलाई। एक शरीर में भी एक से आहार की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार भी ग्रहण करते हुए सार असार रूप में परिणत हो जाता है एवं आहार का

सार भाग भी सात धातुओं में परिणत होता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप में परिणत होते हैं।

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध—कर्म सन्तति का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है। यह कोई नहीं बता सकता कि कर्म का आत्मा के साथ सर्व प्रथम कब सम्बन्ध हुआ ? जीव सदा क्रिया शील है। वह सदा मन वचन काया के व्यापारों में प्रवृत्त रहता है इससे उसके प्रत्येक समय कर्मबन्ध होता रहता है, इस तरह कर्म सादि हैं। पर यह सादिपना कर्मविशेष की अपेक्षा से है। कर्मसन्तति तो जीव के साथ अनादि काल से है। पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे हैं।

देह कर्म से होता है और देह से कर्म बंधते हैं। इस प्रकार देह और कर्म एक दूसरे के हेतु हैं। इसलिये इन दोनों में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध है। जो हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध वाले होते हैं वे अनादि होते हैं, जैसे बीज और अंकुर, पिता और पुत्र। देह और कर्म भी हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध वाले होने से अनादि हैं। इस हेतु से भी कर्म का अनादिपना सिद्ध है।

यदि कर्मसन्तति को सादि माना जाय तो कर्म से सम्बद्ध होने के पहिले जीव अत्यन्त शुद्ध बुद्ध निज स्वरूपमय रहे होंगे। फिर उनके कर्म से लिप्त होने का क्या कारण है ? यदि अपने शुद्ध स्वरूप में रहे हुए जीव भी कर्म से लिप्त हो सकते हैं तो मुक्त जीव भी कर्म से लिप्त होने चाहिएं। ऐसी अवस्था में मुक्ति का कोई महत्त्व न रहेगा एवं मुक्ति के लिए बताई गई शास्त्रोक्त क्रियाएं निष्फल होंगी। इसके सिवाय सादि कर्मप्रवाह मानने वाले लोगों को यह भी बताना होगा कि

कब से कर्म आत्मा के साथ लगे हैं ? और उनके लगने का क्या आकस्मिक कारण था ? यों तो शुद्ध स्वरूप में स्थित आत्माओं के कर्म वंध के कारणों का संभव नहीं है।

कर्म वन्ध के कारण– जैन दर्शन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मवंध के कारण वतलाये हैं। संक्षेप में कहा जाय तो योग और कषाय कर्मवंध के कारण हैं। वंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद वताये हैं। इनमें प्रकृति और प्रदेश वंध योगनिमित्तक हैं और स्थिति और अनुभाग वंध कषाय निमित्तक हैं। उक्त चार वन्धों का स्वरूप इसके प्रथम भाग वोल नं० २४७ में दिया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने योग को भी गौणता देकर कषाय को ही कर्मवंध का प्रधान कारण माना है। आठवें अध्याय में कहा है–

'सकषायित्वाज्जीवो कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते'

अर्थात्– कषाय सहित होने से जीव कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। कषाय के भी क्रोध मान माया लोभ आदि अनेक विकार हैं। इनका समावेश राग और द्वेष में हो जाता है। कोई भी मानसिक विकार हो वह राग द्वेष रूप होता है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति के मूल में राग या द्वेष रहते हैं। यही राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति मनुष्य को कर्म-जाल में फसाती है। जैसे मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने वनाये हुए जाले में फंसती है। इसी प्रकार जीव भी स्वकीय राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति से अपने को कर्म पुद्गलों के जाल में फंसा लेता है। राग द्वेष की वृद्धि के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर मिथ्याज्ञान में परिवर्तित हो जाता है।

कर्मवन्ध का वर्णन करते हुए एक स्थान पर वतलाया है कि जिस प्रकार शरीर में तैल लगा कर कोई धूलि में लेटे तो धूलि

उसके शरीर में चिपक जाती है। उसी प्रकार राग द्वेष परिणामों से परिणत जीव भी आत्मा से घिरे हुए क्षेत्र में व्याप्त कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। स्थानांग सूत्र में भी बताया है कि दो स्थानों से पाप कर्म बंधते हैं– राग और द्वेष। राग के दो भेद हैं–माया और लोभ। द्वेष के दो भेद हैं– क्रोध और मान (ठा० २ उ० २)। इससे भी यह सिद्ध होता है कि राग द्वेष से कर्म बन्ध होता है और चूँकि ये कषाय रूप हैं इसलिये कषाय ही कर्मबन्ध के कारण हैं। इस प्रकार राग द्वेष की स्निग्धता से ही कर्म का बन्ध होता है। इसके तीव्र होने से उत्कट कर्मों का बन्ध होता है। राग द्वेष की कमी के साथ अज्ञानता घटती जाती है और ज्ञान विकास पाता जाता है जिससे कर्म बन्ध भी तीव्र नहीं होता।

अन्य दर्शनों में कर्म बन्ध के जो हेतु बताये हैं उनमें शब्दभेद होने पर भी वास्तव में कोई अर्थभेद नहीं है। नैयायिक वैशेषिक दर्शन में मिथ्याज्ञान को, योग दर्शन में प्रकृति पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त में अविद्या को कर्मबन्ध का कारण बतलाया गया है। ये सभी जैन दर्शन के बन्ध-हेतु मिथ्यात्व से भिन्न नहीं हैं।

कर्म से छुटकारा और उसके उपाय–उक्त प्रकार के क्षीर-नीर की तरह लोलीभूत हुए कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और राग द्वेष की परिणति से नित्य नये कर्म बंधते रहते हैं। इस प्रकार संसार का क्रम चलता रहता है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा सर्वथा कर्म से मुक्त हो ही नहीं सकता। कर्मसन्तति अनादि है पर सब जीवों के लिये अनन्त नहीं है। भगवती शतक ६ उ० ३ में बताया है कि जीवों के कर्म का उपचय सादि सान्त, अनादि सान्त और

अनादि अपर्यवसित होता है। ईर्यापथिकी क्रियाजन्य कर्म बन्ध सादि सान्त होता है। यह कर्म बन्ध उपशान्तमोह क्षीणमोह और सयोगी केवली के होता है। अबद्धपूर्व होने से यह सादि है। श्रेणी से गिरने पर अथवा अयोगी अवस्था में यह कर्म बन्ध नहीं होता, इसलिये सपर्यवसित (सान्त) है। भवसिद्धिक जीव के कर्म का उपचय अनादि काल से है किन्तु मोक्ष जाते समय वह कर्म से मुक्त हो जाता है। इसलिये उसके कर्म का उपचय अनादि सान्त कहा गया है। अभव्य जीवों के कर्म का उपचय अनादि अनन्त है। अभव्य जीव में मुक्तिगमन की योग्यता स्वभाव से ही नहीं होती। वे अनादि काल से कर्म सन्तति से बंधे हुए हैं और अनन्त काल तक उनके कर्म बन्धते रहेंगे।

सुवर्ण और मिट्टी परस्पर मिलकर एक बने हुए हैं पर तापादि प्रयोग द्वारा जैसे मिट्टी को अलग कर शुद्ध स्वर्ण अलग कर दिया जाता है। उसी प्रकार दानादि के प्रयोग से आत्मा कर्म-मल को दूर कर देता है एवं अपने ज्ञानादिमय शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। आत्मा से एक बार कर्म सर्वथा पृथक् हुए कि फिर वे बन्ध को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि तब उस जीव के कर्म बन्ध के कारण रागादि का अस्तित्व ही नहीं रहता। जैसे— बीज के सर्वथा जल जाने पर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जल जाने पर संसाररूप अंकुर नहीं उगता। कर्मावृत निजात्मस्वरूप को प्रगट करने की इच्छा वाले भव्य जीवों के लिए जैन शास्त्रों में कर्म क्षय के उपाय बताए हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ग्रन्थ के आदि में कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है। उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में यही बात इस प्रकार कही गई है—

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात्– दर्शन (सम्यक्त्व) के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना चारित्र के गुण नहीं होते। चारित्र गुण रहित का कर्म से छुटकारा नहीं होता।

प्रमाणमीमांसा के रचयिता श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' कहकर ज्ञान और क्रिया को मुक्ति का उपाय बताया है। यहाँ ज्ञान में दर्शन का भी समावेश समझना चाहिये, क्योंकि दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। चारित्र में संवर और निर्जरा का समावेश है। निर्जरा द्वारा आत्मा पूर्वकृत कर्मों का क्षय करता है और संवर द्वारा आने वाले नये कर्मों को रोक देता है। इस प्रकार नवीन कर्मों के रुक जाने से और धीरे २ पुराने कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव सर्वथा कर्म से मुक्त हो जाता है और परमात्म भाव को प्राप्त करता है। कर्म से मुक्त शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त आत्मा ही जैनदर्शन में ईश्वर माना गया है।

कर्म के आठ भेद–(१) ज्ञानावरणीय कर्म (२) दर्शनावरणीय कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म और (८) अन्तराय कर्म।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म– वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कहलाता है। जिस प्रकार आँख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट पड़ती है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ-ज्ञान करने में रुकावट पड़ती है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान आच्छादित होता है, पर यह कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञान-शून्य (जड) नहीं बना देता। जैसे सघन बादलों

से सूर्य के ढक जाने पर भी उसका इतना प्रकाश अवश्य रहता है कि दिन रात का भेद समझा जा सके। इसी प्रकार चाहे जैसा प्रगाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म क्यों न हो पर उसके रहते हुए भी आत्मा में इतना ज्ञान तो अवश्य रहता है कि वह जड़ पदार्थों से पृथक् किया जा सके।

ज्ञान के पाँच भेद हैं, इसलिये उनको आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के भी पाँच भेद हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेदों का स्वरूप इसके प्रथम भाग के पाँचवें बोल नं० ३७८ में दिया जा चुका है। ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के छः कारण हैं। ये छः कारण इसके द्वितीय भाग छठे बोल संग्रह के बोल नं० ४४० में दिये जा चुके हैं। भगवती सूत्र में प्रत्येक कर्मबन्ध का कारण बताते हुए अमुक अमुक कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म का उदय भी कारण रूप से बताया गया है। इसलिये ज्ञानावरणीय कर्म के उक्त छः बन्ध कारणों के सिवाय ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म का उदय भी इस कर्म का बन्धकारण है, यह समझना चाहिये। आगे भी भिन्न भिन्न कर्म बन्ध के कारण बताये जायँगे, वहाँ पर भी इसी प्रकार उस कर्म का उदय भी कारणों में समझ लेना चाहिये।

ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव दस प्रकार का है– (१) श्रोत्रावरण (२) श्रोत्रविज्ञानावरण (३) नेत्रावरण (४) नेत्र-विज्ञानावरण (५) घ्राणावरण (६) घ्राणविज्ञानावरण (७) रसनावरण (८) रसनाविज्ञानावरण (९) स्पर्शनावरण और (१०) स्पर्शनविज्ञानावरण।

यहाँ श्रोत्रावरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम का आवरण

समझना चाहिये और श्रोत्रविज्ञानावरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक उपयोग का आवरण समझना चाहिये। निर्वृत्ति उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय यहाँ अपेक्षित नहीं है, पर लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय की ही यहाँ विवक्षा है। द्रव्येन्द्रिय तो नामकर्म से होती है, इसलिये ज्ञानावरण उसका विषय नहीं है।

प्रत्येक कर्म का अनुभाव स्व और पर की अपेक्षा होता है। गति, स्थिति और भव पाकर जो फलभोग होता है वह स्वतः अनुभाव है। पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा जो फलभोग होता है उसे परतः अनुभाव समझना चाहिये।

गति, स्थिति और भव का अनुभाव इस प्रकार समझाया गया है। कोई कर्म गति विशेष को पाकर ही तीव्र फल देता है। जैसे असाता वेदनीय नरक गति में तीव्र फल देता है। नरक गति में जैसी असाता होती है वैसी अन्य गतियों में नहीं होती। कोई कर्म स्थिति अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति पाकर ही तीव्र फल देता है, जैसे मिथ्यात्व। क्योंकि मिथ्यात्व जितनी अधिक स्थिति वाला होता है उतना ही तीव्र होता है। कोई कर्म भव विशेष पाकर ही अपना असर दिखाता है। जैसे निद्रा दर्शनावरणीय कर्म मनुष्य और तिर्यञ्च भव में अपना प्रभाव दिखाता है। गति, स्थिति और भव को पाकर कर्म फल भोगने में कर्म प्रकृतियाँ ही निमित्त हैं। इसलिये यह स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है।

पुद्गल और पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जिस कर्म का उदय होता है वह सापेक्ष परतः उदय है। कई कर्म पुद्गल का निमित्त पाकर फल देते हैं, जैसे किसी के लकड़ी या पत्थर फेंकने से चोट पहुँची। इससे जो दुःख का अनुभव हुआ या क्रोध हुआ, यहाँ पुद्गल की अपेक्षा असातावेदनीय और मोहनीय का उदय समझना चाहिये। खाये हुए आहार के

न पचने से अजीर्ण हो गया। यहाँ आहार रूप पुद्गलों के परिणाम से असातावेदनीय का उदय जानना चाहिये। इसी प्रकार मदिरापान से ज्ञानावरणीय का उदय होता है। स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम, जैसे शीत उष्ण घाम आदि से भी असाता वेदनीयादि कर्म का उदय होता है।

पन्नवणा सूत्र के २३ वें पद में ज्ञानावरणीय का दस प्रकार का जो अनुभाव बताया है वह स्वतः और परतः अर्थात् निरपेक्ष और सापेक्ष दो तरह का होता है। पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राप्त अनुभाव सापेक्ष है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए एक या अनेक पुद्गल, जैसे पत्थर, ढेला या शस्त्र फेंकता है। इनकी चोट से उसके उपयोग रूप ज्ञान परिणति का घात होता है। यहाँ पुद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिए। एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन सम्यक् प्रकार न होने से वह व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है और दुःख की अधिकता से ज्ञानशक्ति पर बुरा असर होता है। यहाँ पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत, उष्ण, घाम आदि स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम से जीव की इन्द्रियों का घात होता है और उससे ज्ञान का हनन होता है। यहाँ स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय जानना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का घात होता है और जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता। विपाकोन्मुख ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से, बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही, जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान पाता है, एक बार जानकर भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है। यहाँ तक

कि वह आच्छादित ज्ञानशक्ति वाला हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय का स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म– वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैं– (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि। चार दर्शन की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० १९९ में दे दी गई है। उनका आवरण करने वाले कर्म चक्षुदर्शनावरणीयादि कहलाते हैं। पाँच निद्रा का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ४१९ में दिया जा चुका है। चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शनलब्धि का घात करते हैं और पाँच निद्रा प्राप्त दर्शन शक्ति का घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। दर्शनावरणीय कर्म बांधने के छः कारण हैं। वे छः कारण इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह बोल नं० ४४१ में दिये जा चुके हैं। उनके सिवाय दर्शनावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बांधता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव नव प्रकार का है। ये नव प्रकार उपरोक्त नौ भेद रूप ही हैं।

दर्शनावरणीय कर्म का उक्त अनुभाव स्वतः और परतः दो प्रकार का होता है। मृदु शय्यादि एक या अनेक पुद्गलों का

निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। भैंस के दही आदि का भोजन भी निद्रा का कारण है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम, जैसे वर्षा काल में आकाश का बादलों से घिर जाना, वर्षा की झड़ी लगना आदि भी निद्रा के सहायक हैं। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जीव के निद्रा का उदय होता है और उसके दर्शनोपयोग का घात होता है, यह परतः अनुभाव हुआ। स्वतः अनुभाव इस प्रकार है। दर्शनावरणीय पुद्गलों के उदय से दर्शन शक्ति का उपघात होता है और जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी नहीं देख सकता, एक बार देख कर वापिस भूल जाता है। यहाँ तक कि उसकी दर्शनशक्ति आच्छादित हो जाती है अर्थात् दब जाती है।

(३) वेदनीय– जो अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख दुःख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव किया जाय वह वेदनीय कर्म कहलाता है। यों तो सभी कर्मों का वेदन होता है परन्तु साता असाता अर्थात् सुख दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म विशेष में ही वेदनीय रूढ़ है, इसलिए इससे अन्य कर्मों का बोध नहीं होता। वेदनीय कर्म साता असाता के भेद से दो प्रकार का है। सुख का अनुभव कराने वाला कर्म सातावेदनीय कहलाता है और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म असातावेदनीय कहलाता है। यह कर्म मधुलिप्त तलवार की धार को चाटने के समान है। तलवार की धार पर लगे हुए शहद के स्वाद के समान सातावेदनीय है और धार से जीभ के कटने जैसा असातावेदनीय है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा की जाय, इन्हें

दुःख न पहुँचाया जाय, इन्हें शोक न कराया जाय जिससे ये दीनता दिखाने लगें, इनका शरीर कृश हो जाय एवं इनकी आँखों से आँसू और मुँह से लार गिरने लगें, इन्हें लकड़ी आदि से ताड़ना न दी जाय तथा इनके शरीर को परिताप अर्थात् क्लेश न पहुँचाया जाय। ऐसा करने से जीव सातावेदनीय कर्म बांधता है। सातावेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव सातावेदनीय कर्म बाँधता है।

इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रखे, इन्हें दुःख पहुँचावे, इन्हें इस प्रकार शोक करावे कि ये दीनता दिखाने लगें, इनका शरीर कृश हो जाय, आँखों से आँसू और मुँह से लार गिरने लगें, इन्हें लकड़ी आदि से मारे और इन्हें परिताप पहुँचावे तो जीव असातावेदनीय कर्म बांधता है। असातावेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असातावेदनीय कर्म बाँधता है।

सातावेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का है—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः सुखता अर्थात् स्वस्थ मन, सुखी वचन अर्थात् कानों को मधुर लगने वाली और मन में आह्लाद (हर्ष) उत्पन्न करने वाली वाणी और सुखी काया (स्वस्थ एवं नीरोग शरीर)।

यह अनुभाव परतः होता है और स्वतः भी। माला, चन्दन आदि एक या अनेक पुद्गलों का भोगोपभोग कर जीव सुख का अनुभव करता है। देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्गलों के परिणाम से भी जीव साता का अनुभव करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम, जैसे वेदना के प्रतिकार रूप शीतोष्णादि का निमित्त पाकर जीव सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और

स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर होने वाला सुख का अनुभव सापेक्ष है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का उपभोग करता है वह निरपेक्ष अनुभाव है। तीर्थङ्कर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी का सुख ऐसा ही है।

असातावेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है– (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ गन्ध (४) अमनोज्ञ रस (५) अमनोज्ञ स्पर्श (६) अस्वस्थ मन (७) अभव्य (अच्छी नहीं लगने वाली) वाणी और दुःखी काया।

असातावेदनीय का अनुभाव भी परतः और स्वतः दोनों तरह का होता है। विष, शस्त्र, कण्टकादि का निमित्त पाकर जीव दुःख भोगता है। अपथ्य आहार रूप पुद्गलपरिणाम भी दुःखकारी होता है। अकाल में अनिष्ट शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम का भोग करते हुए जीव के मन में असमाधि होती है और इससे वह असाता को वेदता है। यह परतः अनुभाव हुआ। असातावेदनीय कर्म के उदय से बाह्य निमित्तों के न होते हुए भी जीव के असाता का भोग होता है, यह स्वतः अनुभाव जानना चाहिए।

(४) मोहनीयकर्म–जो कर्म आत्मा को मोहित करता है अर्थात् भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है वह मोहनीय कर्म है। यह कर्म मद्य के सदृश है। जैसे शराबी मदिरा पीकर भले बुरे का विवेक खो देता है तथा परवश हो जाता है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत् असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है। इस कर्म के दो भेद हैं– दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय समकित का घात करता है और चारित्रमोहनीय चारित्र का। मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र-

मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय के भेद से दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ७७ में दिया जा चुका है।

शंका- सम्यक्त्वमोहनीय तो जिन प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है। यह दर्शन का घात तो नहीं करता, फिर इसे दर्शनमोहनीय के भेदों में क्यों गिना जाता है?

समाधान- जैसे चश्मा आँखों का आवारक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता। उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्वमोहनीय भी तत्त्वार्थ श्रद्धान में रुकावट नहीं करता परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो है ही। इसके सिवाय सम्यक्त्वमोहनीय में अतिचारों का सम्भव है। औपशमिक और क्षायिक दर्शन (सम्यक्त्व) के लिए यह मोह रूप भी है। इसीलिये यह दर्शनमोहनीय के भेदों में दिया गया है।

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं- कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से प्रत्येक चार चार तरह का है। कषाय के ये कुल १६ भेद हुए। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग के बोल नं० १५९ से १६२ तक दिया गया है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद ये नौ भेद नोकषायमोहनीय के हैं। इनका स्वरूप नवें बोल में दिया जायगा। इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल मिलाकर २८ भेद होते हैं। मोहनीय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

मोहनीय कर्म छः प्रकार से बंधता है- तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ, तीव्र दर्शनमोहनीय और तीव्र चारित्र

मोहनीय। यहाँ चारित्रमोहनीय से नोकषाय मोहनीय समझना चाहिये, क्योंकि तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ से कषाय मोहनीय लिया गया है। मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म बांधता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पाँच प्रकार का है- सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्व मिथ्यात्वमोहनीय, कषाय मोहनीय और नोकषायमोहनीय।

यह अनुभाव पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा होता है तथा स्वतः भी होता है। शम संवेग आदि परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव समकितमोहनीयादि वेदता है। देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव प्रशमादि भाव का अनुभव करता है।

आहार के परिणाम विशेष से भी कभी कभी कर्म पुद्गलों में विशेषता आजाती है। जैसे ब्राह्मी औषधि आदि आहार परिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध ही है। कहा भी है-

उदय खय खओवसमा वि य, जं च कम्मुणो भणिया।
दव्वं खेत्तं कालं, भावं भवं च संसप्प ॥ १ ॥

अर्थात्- कर्मों के उदय, क्षय और क्षयोपशम जो कहे गये हैं वे सभी द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भव पाकर होते हैं।

बादलों के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वैराग्यादि हो जाते हैं। इस प्रकार शम संवेग आदि परिणामों के कारणभूत जो भी पुद्गलादि हैं उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्वादि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है यह परतः अनुभाव हुआ। सम्यक्त्व मोहनीयादि कार्मण पुद्गलों के उदय से जो प्रशमादि भाव होते हैं वह स्वतः अनुभाव है।

(५) आयुकर्म- जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा जिस कर्म से जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है वह आयु कर्म कहलाता है। अथवा स्वकृत कर्म से प्राप्त नरकादि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को जो उसी गति में रोके रखता है उसे आयु कर्म कहते हैं। अथवा जो कर्म प्रति समय भोगा जाय वह आयु कर्म है। या जिस के उदय आने पर भवविशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं वह आयु कर्म है।

यह कर्म कारागार के समान है। जिस प्रकार राजा की आज्ञा से कारागार में दिया हुआ पुरुष चाहते हुए भी नियत अवधि के पूर्व वहाँ से निकल नहीं सकता उसी प्रकार आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने शरीर में बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नहीं। आयु कर्म के चार भेद हैं- नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु। आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। नारकी और देवता की आयु जघन्य दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। तिर्यश्च तथा मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु के बंध के चार चार कारण हैं, जो इसके प्रथम भाग बोल नं० १३२ से १३५ में दिये जा चुके हैं। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम, तिर्यश्चायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम, मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम और देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नामकर्म के उदय से भी जीव क्रमशः नरक, तिर्यश्च, मनुष्य और देव की आयु का बंध करता है।

आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है- नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु। यह अनुभाव स्वतः और परत

दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्गलों के निमित्त से, विषमिश्रित अन्नादि रूप पुद्गलपरिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, क्योंकि इनसे आयु की अपवर्तना होती है। यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि आयुकर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है वह स्वतः अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है- अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय। वाह्य शस्त्रादि निमित्त पाकर जो आयु स्थिति पूर्ण होने के पहले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है वह अपवर्त्तनीय आयु है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है, बीच में नहीं टूटती वह अनपवर्त्तनीय आयु है।

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं है। यह परिणामों के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म का आयु वर्तमान जन्म में बंधता है। आयु बन्ध के समय यदि परिणाम मन्द हों तो आयु का बन्ध शिथिल होता है। इससे निमित्त पाने पर बन्ध-काल की कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयुबन्ध के समय परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है। बन्ध के गाढ़ होने से निमित्त मिलने पर भी बन्ध-काल की कालमर्यादा कम नहीं होती और आयु एक साथ नहीं भोगा जाता। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इसमें विष शस्त्रादि का निमित्त अवश्य प्राप्त होता है और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही मर जाता है। अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकालमृत्यु योग्य विष शस्त्रादि का संयोग होता है और निरुपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष शस्त्र आदि निमित्त का प्राप्त होना

उपक्रम है। अपवर्तनीय आयु अधूरा ही टूट जाता है, इसलिए वहाँ शस्त्र आदि की नियमतः आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्तनीय आयु बीच में नहीं टूटता। उसके पूरा होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जायँ तो उसे सोपक्रम कहा जायगा, यदि निमित्त प्राप्त न हों तो निरुपक्रम।

शंका– अपवर्तनीय आयु में नियत स्थिति से पहले ही जीव की मृत्यु मानने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता दोष होंगे, क्योंकि आयु बाकी है और जीव मर जाता है, इससे किये हुए कर्मों का फलभोग नहीं हो पाता। अतएव कृतनाश दोष हुआ। मरण योग्य कर्म न होने पर भी मृत्यु आजाने से अकृतागम दोष हुआ। अवशिष्ट बंधी हुई आयु का भोग न होने से वह निष्फल रही, अतएव निष्फलता दोष हुआ।

समाधान– अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु का भोग न होने से जो दोष बताए गए हैं, वे ठीक नहीं हैं। अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु पूरी ही भोगी जाती है। बद्धायु का कोई अंश ऐसा नहीं बचता जो न भोगा जाता हो। यह अवश्य है कि इसमें बंधी हुई आयु कालमर्यादा के अनुसार न भोगी जा कर एक साथ शीघ्र ही भोग ली जाती है। अपवर्तन का अर्थ भी यही है कि शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त्त में अवशिष्ट कर्म भोग लेना। इसलिए उक्त दोषों का यहाँ होना संभव नहीं है। दीर्घकाल-मर्यादा वाले कर्म इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त में ही कैसे भोग लिए जाते हैं? इसे समझाने के लिए तीन दृष्टान्त दिए जाते हैं–

(१) इकट्ठी की हुई सूखी तृणराशि के एक एक अवयव को क्रमशः जलाया जाय तो उस तृणराशि के जलने में अधिक समय लगेगा, परन्तु यदि उसी तृणराशि का बंध ढीला करके चारों तरफ से उसमें आग लगा दी जाय तथा पवन भी अनुकूल

हो तो वह शीघ्र ही जल जायगी। (२) एक प्रश्न को हल करने के लिए सामान्य व्यक्ति गुणा भाग की लम्बी रीति का आश्रय लेता है और उसी प्रश्न को हल करने के लिए गणितशास्त्री संक्षिप्त रीति का उपयोग करता है। पर दोनों का उत्तर एक ही आता है। (३) एक धोया हुआ कपड़ा जल से भीगा ही इकट्ठा करके रखा जाय तो वह देर से सूखेगा और यदि उसीको खूब निचोड़ कर धूप में फैला दिया जाय तो वह तत्काल सूख जायगा। इन्हीं की तरह अपवर्तनीय आयु में आयुकर्म पूरा भोगा जाता है, परन्तु शीघ्रता के साथ।

देवता, नारकी असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च और मनुष्य, उत्तम पुरुष (तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं।

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५२) (ठा० २ उ० ३ सूत्र ८५की वृत्ति)

(६) नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामों से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है उसे नामकर्म कहते हैं। अथवा जो जीव को विचित्र पर्यायों में परिणत करता है या जो जीव को गत्यादि पर्यायों का अनुभव करने के लिये उन्मुख करता है वह नामकर्म है।

नामकर्म चितेरे के समान है। जैसे चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर असुन्दर रूप वनाता है उसी प्रकार नामकर्म जीव को सुन्दर, असुन्दर, आदि अनेक रूप करता है।

नामकर्म के मूल भेद ४२ हैं– १४ पिण्ड प्रकृतियाँ, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक। चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ ये हैं– (१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) अङ्गोपाङ्ग (५) बंधन

(६) संघात (७) संहनन (८) संस्थान (९) वर्ण (१०) गन्ध (११) रस (१२) स्पर्श (१३) आनुपूर्वी (१४) विहायोगति। (१) पराघात (२) उच्छ्वास (३) आतप (४) उद्योत (५) अगुरु-लघु (६) तीर्थङ्कर (७) निर्माण (८) उपघात। ये आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ हैं। (१) त्रस (२) बादर (३) पर्याप्त (४) प्रत्येक (५) स्थिर (६) शुभ (७) सुभग (८) सुस्वर (९) आदेय (१०) यशः कीर्ति। ये दस भेद त्रसदशक के हैं। इनके विपरीत (१) स्थावर (२) सूक्ष्म (३) अपर्याप्त (४) साधारण (५) अस्थिर (६) अशुभ (७) दुर्भग (८) दुःस्वर (९) अनादेय (१०) अयशः कीर्ति। ये दस भेद स्थावरदशक के हैं।

चौदह पिण्ड प्रकृतियों के उत्तर भेद ६५ हैं। गतिनामकर्म के नरकादि चार भेद हैं। जाति नामकर्म के एकेन्द्रियादि पाँच भेद हैं। शरीर नामकर्म के औदारिक आदि पाँच भेद हैं। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के तीन भेद हैं। बन्धन और संघात नाम-कर्म के पाँच पाँच भेद हैं। संहनन और संस्थान नामकर्म के छः छः भेद हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के क्रमशः पाँच, दो, पाँच और आठ भेद हैं। आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेद और विहायो-गति के दो भेद हैं।

चार गति का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० १३१ में दे दिया गया है। पाँच जाति का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० २८१ में दे दिया गया है। शरीर, बन्धन और संघात के भेदों का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ३८९, ३९०, ३९१ में है। संहनन और संस्थान के छः छः भेदों का वर्णन इसके द्वितीय भाग बोल नं० ४६८ तथा ४७० में दिया गया है। वर्ण और रस के पाँच पाँच भेद इसके प्रथम भाग, बोल नं० ४१४ और ४१५ में हैं। शेष अङ्गोपाङ्ग, गन्ध, स्पर्श, आनुपूर्वी

और विहायोगति का स्वरूप और इनके भेद यहाँ दिये जाते हैं-

अङ्गोपाङ्ग नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग और उपाङ्ग के आकार में पुद्गलों का परिणमन होता है उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर के ही अङ्ग उपाङ्ग होते हैं, इसलिए इन शरीरों के भेद से अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के भी तीन भेद हैं- औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियक अङ्गोपाङ्ग, आहारक अङ्गोपाङ्ग।

औदारिक अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्ग रूप अवयव बनते हैं उसे औदारिक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

वैक्रियक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म- जिस कर्म के उदय से वैक्रियक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्ग रूप अवयव बनते हैं उसे वैक्रियक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म- जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्ग रूप अवयव बनते हैं वह आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म है।

गन्धनामकर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। गन्ध नामकर्म के दो भेद सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध।

सुरभिगन्ध नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्ध होती है उसे सुरभिगन्ध नामकर्म कहते हैं।

दुरभिगन्ध नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की बुरी गन्ध हो उसे दुरभिगन्ध नामकर्म कहते हैं।

स्पर्शनामकर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल रूक्ष आदि स्पर्श हों उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं-

गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष। गुरु- जिसके उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह गुरु स्पर्श नामकर्म है। लघु- जिसके उदय से जीव का शरीर आक की रूई जैसा हल्का होता है वह लघु स्पर्श नामकर्म है। मृदु- जिस के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल हो उसे मृदु स्पर्श नामकर्म कहते हैं। कर्कश- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कर्कश यानि खुरदरा हो उसे कर्कश स्पर्श नामकर्म कहते हैं। शीत- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमलदंड जैसा ठंडा हो वह शीत स्पर्श नामकर्म है। उष्ण- जिस के उदय से जीव का शरीर अग्नि जैसा उष्ण हो वह उष्ण स्पर्श नामकर्म कहलाता है। स्निग्ध- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह स्निग्ध स्पर्श नामकर्म है। रूक्ष- जिस कर्म से जीव का शरीर राख के समान रूखा होता है वह रूक्ष स्पर्श नामकर्म कहलाता है।

आनुपूर्वी नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। आनुपूर्वी नामकर्म के लिये नाथ (नासारज्जु) का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे इधर उधर भटकता हुआ बैल नाथ द्वारा इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। इसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है तब आनुपूर्वी नामकर्म द्वारा विश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति स्थान पर पहुँचाया जाता है। यदि उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हो तो वहाँ आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता। वक्रगति में ही आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है।

गति के चार भेद हैं, इसलिए वहाँ ले जाने वाले आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद हैं- नरकानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यञ्चानुपूर्वी नामकर्म, मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म और देवानुपूर्वी नामकर्म।

विहायोगति नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव की गति (गमन क्रिया) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊँट या गधे के समान अशुभ होती है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। विहायोगति नामकर्म के दो भेद हैं- शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति। ये पिंड प्रकृतियों के ६५ उत्तर भेद हुए।

आठ प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप इस प्रकार है-

पराघात नामकर्म- जिस के उदय से जीव बलवानों के लिये भी दुर्धर्ष (अजेय) हो उसे पराघात नामकर्म कहते हैं।

उच्छ्वास नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं। बाहर की हवा को नासिका द्वारा अंदर खींचना श्वास कहलाता है और शरीर के अन्दर की हवा को नासिका द्वारा बाहर निकालना उच्छ्वास कहलाता है। इन दोनों क्रियाओं को करने की शक्ति जीव उच्छ्वास नामकर्म से पाता है।

आतप नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं। सूर्य मण्डल के बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर ठंडा है परन्तु आतप नामकर्म के उदय से वे प्रकाश करते हैं। सूर्य मण्डल के बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के जीवों के सिवाय अन्य जीवों के आतप नामकर्म का उदय नहीं होता। अग्निकाय के जीवों का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है, पर उनमें आतप नामकर्म का उदय नहीं समझना चाहिए। उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से उनका शरीर उष्ण होता है और लोहितवर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाश करता है।

उद्योत नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अनुष्ण अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है उसे उद्योत नामकर्म

कहते हैं। लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, तथा देव जब अपने मूलशरीर की अपेक्षा उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करते हैं उस समय उनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है वह उद्योत नामकर्म के उदय से ही समझना चाहिए। इसी तरह चन्द्र, नक्षत्र और तारामण्डल के पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर से जो शीतल प्रकाश निकलता है, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधियाँ जो शीतल प्रकाश देती हैं, वह सभी उद्योत नाम-कर्म के फलस्वरूप ही है।

अगुरुलघु नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है न हल्का ही होता है उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों का शरीर न इतना भारी होता है कि वह संभाला ही न जा सके और न इतना हल्का होता है कि हवा से उड़ जाय किन्तु अगुरुलघु परिमाण वाला होता है, यह अगुरुलघु नामकर्म का ही फल है।

तीर्थङ्कर नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव तीर्थङ्कर पद पाता है उसे तीर्थङ्कर नामकर्म कहते हैं।

निर्माण नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग उपाङ्ग यथास्थान व्यवस्थित होते हैं उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह कर्म कारीगर के समान है। जैसे कारीगर मूर्ति में हाथ पैर आदि अवयवों को उचित स्थान पर बना देता है, उसी प्रकार यह कर्म भी शरीर के अवयवों को अपने अपने नियत स्थान पर व्यवस्थित करता है अथवा जैसे मक्के आदि के दाने एक ही पंक्ति में व्यवस्थित होते हैं।

उपघात नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से स्वयं क्लेश पाता है। जैसे– प्रतिजिह्वा, चोरदांत, छठी अंगुली सरीखे अवयवों से उनके स्वामी को ही कष्ट होता है।

त्रसदशक की दस प्रकृतियों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

त्रसदशक—जो जीव सर्दी गर्मी से अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस हैं। जिस कर्म के उदय से जीवों को त्रसकाय की प्राप्ति हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

बादर नामकर्म— जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल होते हैं उसे बादर नामकर्म कहते हैं। जो चक्षु का विषय हो वह बादर है यहाँ बादर का यह अर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पृथ्वीकाय आदि का शरीर बादर होते हुए भी आँखों से नहीं देखा जाता। यह प्रकृति जीव विपाकिनी है और जीवों में बादर परिणाम उत्पन्न करती है। इसका शरीर पर इतना असर अवश्य होता है कि बहुत से जीवों का समुदाय दृष्टिगोचर हो जाता है। जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय अवस्था में भी दिखाई नहीं देते।

पर्याप्त नामकर्म— जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों से युक्त होते हैं वह पर्याप्त नामकर्म है। पर्याप्तियों का स्वरूप इसके दूसरे भाग बोल नं० ४७२ में दिया जा चुका है।

प्रत्येक नामकर्म— जिस कर्म के उदय से जीव में पृथक् पृथक् शरीर होता है उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

स्थिर नामकर्म— जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर (निश्चल) होते हैं उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं।

शुभनामकर्म— जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं उसे शुभ नामकर्म कहते हैं। सिर आदि शरीर के अवयवों का स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है। यही नाभि के ऊपर के अवयवों का शुभपना है।

सुभग नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार किए बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी सब का प्रीतिपात्र होता है उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

सुस्वर नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

आदेय नामकर्म-- जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

यशःकीर्ति नामकर्म– जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति का प्रसार हो वह यशःकीर्ति नामकर्म कहलाता है।

किसी एक दिशा में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह कीर्ति है और सब दिशाओं में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह यश है। अथवा दान तप आदि से जो नाम होता है वह कीर्ति है और पराक्रम से जो नाम फैलता है वह यश है।

त्रसदशक प्रकृतियों का स्वरूप ऊपर बताया गया है। स्थावरदशक प्रकृतियों का स्वरूप इनसे विपरीत है। वह इस प्रकार है–

स्थावर नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहें, सर्दी गर्मी आदि से बचने का उपाय न कर सकें, वह स्थावर नामकर्म है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव हैं। तेउकाय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति तो है किन्तु द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी गर्मी से बचने की विशिष्ट गति उनमें नहीं है।

सूक्ष्म नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म अर्थात् चक्षु से अग्राह्य शरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म नामकर्म है। सूक्ष्म शरीर न किसी से रोका जाता है और न किसी को रोकता ही है। इसके उदय से समुदाय अवस्था में रहे हुए भी सूक्ष्म प्राणी दिखाई नहीं देते। इस नामकर्म वाले जीव पाँच स्थावर

ही हैं। ये सूक्ष्म प्राणी सारे लोकाकाश में व्याप्त हैं।

अपर्याप्त नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न करे वह अपर्याप्त नामकर्म है। अपर्याप्त जीव दो प्रकार के हैं- लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त।

लब्धि अपर्याप्त-जो जीव अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण किये विना ही मरते हैं वे लब्धि अपर्याप्त हैं। लब्धि अपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूरी करके ही मरते हैं क्योंकि इन्हें पूरी किये विना जीव के आगामी भव की आयु नहीं बंधती।

करण अपर्याप्त- जिन्होंने अब तक अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं की हैं किन्तु भविष्य में करने वाले हैं वे करण अपर्याप्त हैं।

साधारण नामकर्म- जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो वह साधारण नामकर्म है।

अस्थिर नामकर्म-जिस कर्म के उदय से कान, भौंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं वह अस्थिर नामकर्म है।

अशुभ नामकर्म- जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव पैर आदि अशुभ होते हैं वह अशुभ नामकर्म है।

दुर्भग नामकर्म- जिस कर्म के उदय से उपकारी होते हुए या सम्बन्धी होते हुए भी जीव लोगों को अप्रिय लगता है वह दुर्भग नामकर्म है।

दुःस्वर नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश हो अर्थात् सुनने में अप्रिय लगे वह दुःस्वर नामकर्म है।

अनादेय नामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का वचन युक्तियुक्त होते हुए भी ग्राह्य नहीं होता वह अनादेय नामकर्म है।

अयशःकीर्ति नामकर्म- जिस कर्म के उदय से दुनिया में अपयश और अपकीर्ति हो वह अयशःकीर्ति नामकर्म है।

पिण्ड प्रकृतियों के उत्तर भेद गिनने पर नामकर्म की ९३

प्रकृतियाँ होती हैं। एक शरीर के पुद्गलों के साथ उसी शरीर के पुद्गलों के बंध की अपेक्षा बंधन नामकर्म के पाँच भेद हैं। परन्तु एक शरीर के साथ जिस प्रकार उसी शरीर के पुद्गलों का बंध होता है उसी तरह दूसरे शरीरों के पुद्गलों का भी। इस विवक्षा से बन्धन नामकर्म के १५ भेद हैं। वे ये हैं – (१) औदारिक औदारिक बन्धन (२) औदारिक-तैजस बन्धन (३) औदारिक कार्मण बन्धन (४) वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन (५) वैक्रिय-तैजस बन्धन (६) वैक्रिय-कार्मण बन्धन (७) आहारक-आहारक बन्धन (८) आहारक-तैजस बन्धन (९) आहारक-कार्मण बन्धन (१०) औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन (११) वैक्रिय-तैजस कार्मण बन्धन (१२) आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन (१३) तैजस-तैजस बन्धन (१४) तैजस-कार्मण बन्धन (१५) कार्मण-कार्मण बन्धन। उक्त प्रकार से बन्धन नामकर्म के १५ भेद गिनने पर नामकर्म के १० भेद और बढ़ जाते हैं। इस प्रकार नामकर्म की १०३ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

यदि बंधन और संघात नामकर्म की १० प्रकृतियों का समावेश शरीर नामकर्म की प्रकृतियों में कर लिया जाय तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की २० प्रकृतियाँ न गिन कर सामान्य रूप से चार प्रकृतियाँ ही गिनी जायँ तो बंध की अपेक्षा से नाम कर्म की ९३–२६=६७ प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श आदि की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। नामकर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त, उत्कृष्ट वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। शुभ और अशुभ के भेद से नामकर्म दो प्रकार का है। काया की सरलता, भाव की सरलता और भाषा की सरलता तथा अविसंवादनयोग, ये शुभ नामकर्म बन्ध के हेतु हैं। कहना कुछ और करना कुछ, इस प्रकार

का व्यापार विसंवादन योग है। इसका अभाव अर्थात् मन, वचन और कार्य में एकता का होना अविसंवादन योग है। भगवती टीकाकर ने मन वचन और काया की सरलता और अविसंवादनता में अन्तर बताते हुए लिखा है कि मन वचन काया की सरलता वर्तमान कालीन है और अविसंवादन योग वर्तमान और अतीत काल की अपेक्षा है। इनके सिवाय शुभ नाम कार्मण शरीर प्रयोग बंध नामकर्म के उदय से भी जीव शुभ नामकर्म बांधता है।

शुभ नामकर्म में तीर्थङ्कर नाम भी है। तीर्थङ्कर नाम कर्म बांधने के २० बोल निम्न लिखितानुसार हैं–

(१–७) अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी, इन में भक्ति भाव रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना (८) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना (६) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना (१०) अतिचार (दोष) न लगाते हुए ज्ञानादि विनय का सेवन करना (११) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना (१२) मूलगुण एवं उत्तरगुणों में अतिचार न लगाना (१३) सदा संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना (१४) तप करना (१५) सुपात्रदान देना (१६) दश प्रकार की वैयावृत्त्य करना (१७) गुरु आदि को समाधि हो वैसा कार्य करना (१८) नया नया ज्ञान सीखना (१६) श्रुत की भक्ति अर्थात् बहुमान करना (२०) प्रवचन की प्रभावना करना।

(हरिभद्रीयावश्यक नियुक्ति गाथा १७६-१८१) (ज्ञाता सूत्र अध्ययन ८ वाँ)

काया की वक्रता, भाषा की वक्रता और विसंवादन योग, ये अशुभ नामकर्म बांधने के हेतु हैं। अशुभ नाम कार्मण शरीर प्रयोग नामकर्म के उदय से भी जीव के अशुभ नामकर्म का बंध होता है।

शुभ नामकर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव है– इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गंध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य

इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान बल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम, इ
स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम
कर्म का अनुभाव भी चौदह प्रकार का है। ये चौदह प्रका
उपरोक्त प्रकारों से विपरीत समझने चाहियें।

शुभ और अशुभ नामकर्म का उक्त अनुभाव स्वतः औ
परतः दो प्रकार का है। वीणा, वर्णक (पीठी), गन्ध, ताम्बूल
पट्ट (रेशमी वस्त्र), शिविका (पालखी), सिंहासन, कुंकुम, दान
राजयोग, गुटिकायोग आदि रूप एक या अनेक पुद्गलों क
प्राप्त कर जीव क्रमशः इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, गति
स्थिति, लावण्य, यशःकीर्ति, इष्ट उत्थानादि एवं इष्ट स्वर आ
रूप से शुभ नामकर्म का अनुभव करता है। इसी प्रकार ब्राह्
औषधि आदि आहार के परिणाम स्वरूप पुद्गलपरिणाम
तथा स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम रूप बादल आदि का निमि
पाकर जीव शुभ नामकर्म का अनुभव करता है। इसके विपरी
अशुभ नामकर्म के अनुभाव को पैदा करने वाले एक या अने
पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम का निमि
पाकर जीव अशुभ नामकर्म को भोगता है। यह परतः अनुभा
हुआ। शुभ अशुभ नामकर्म के उदय से इष्ट अनिष्ट शब्दादि क
जो अनुभव किया जाता है वह स्वतः अनुभाव है।

(७) गोत्र कर्म– जिस कर्म के उदय से जीव उच्च नीच शब्द
से कहा जाय उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसी कर्म के उदय
जीव जाति कुल आदि की अपेक्षा बड़ा छोटा कहा जाता है
गोत्र कर्म को समझाने के लिये कुम्हार का दृष्टान्त दिया जाता है
जैसे कुम्हार कई घड़ों को ऐसा बनाता है कि लोग उनक
प्रशंसा करते हैं और कुछ को कलश मानकर उनकी अक्ष
चन्दनादि से पूजा करते हैं। कई घड़े ऐसे होते हैं कि निन्

पदार्थ के संसर्ग के बिना भी लोग उनकी निंदा करते हैं, तो कई मद्यादि घृणित द्रव्यों के रखे जाने से सदा निन्दनीय समझे जाते हैं। उच्च नीच भेद वाला गोत्र कर्म भी ऐसा ही है। उच्च गोत्र के उदय से जीव धन रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन रूप आदि से सम्पन्न होते हुए भी नीच ही माना जाता है। गोत्र कर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त उत्कृष्ट बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठों का मद न करने से तथा उच्च गोत्र कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से जीव उच्च गोत्र बांधता है। इसके विपरीत उक्त आठों का अभिमान करने से तथा नीच गोत्र कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से जीव नीच गोत्र बांधता है।

उच्च गोत्र का अनुभाव आठ प्रकार का है– जाति विशिष्टता, कुल विशिष्टता, बल विशिष्टता, रूप विशिष्टता, तप विशिष्टता, श्रुत विशिष्टता, लाभ विशिष्टता और ऐश्वर्य विशिष्टता।

उच्च गोत्र का अनुभाव स्वतः भी होता है और परतः भी। एक या अनेक बाह्य द्रव्यादि रूप पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव उच्च गोत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुषों द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति कुल सम्पन्न की तरह माना जाता है। लाठी वगैरह घुमाने से कमजोर व्यक्ति भी बल विशिष्ट माना जाने लगता है। विशिष्ट वस्त्रालंकार धारण करने वाला रूप सम्पन्न मालूम होने लगता है। पर्वत के शिखर पर चढ़कर आतापना लेने से तप विशिष्टता प्राप्त होती है। मनोहर प्रदेश में स्वाध्यायादि करने वाला श्रुतविशिष्ट हो जाता है। विशिष्ट रत्नादि की प्राप्ति द्वारा जीव लाभविशिष्टता का अनुभव करता है और धन सुवर्ण

आदि का सम्बन्ध पाकर ऐश्वर्य विशिष्टता का भोग करता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गलपरिणाम से भी जीव उच्च गोत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गोत्र कर्म का अनुभव करता है। जैसे अकस्मात् बादलों के आने की बात कही और संयोगवश बादल होने से वह बात मिल गई। यह परतः अनुभाव हुआ। उच्च गोत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का भोग करना स्वतः अनुभाव है।

नीच कर्म का आचरण, नीच पुरुष की संगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव नीच गोत्र कर्म का वेदन करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका या दूसरा नीच कार्य करने लगे तो वह निन्दनीय हो जाता है। सुख शय्यादि के सम्बन्ध से जीव बलहीन हो जाता है। मैले कुचैले वस्त्र पहनने से पुरुष रूपहीन मालूम होता है। पासत्थे कुशीले आदि की संगति से तपहीनता प्राप्त होती है। विकथा तथा कुसाधुओं के संसर्ग से श्रुत में न्यूनता होती है। देश, काल के अयोग्य वस्तुओं को खरीदने से लाभ का अभाव होता है। कुग्रह, कुभार्यादि के संसर्ग से पुरुष ऐश्वर्य रहित होता है। वृन्ताकी फल (बैंगन) आदि के आहार रूप पुद्गलपरिणाम से खुजली आदि होती है और इससे जीव रूपहीन हो जाता है। स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम से भी जीव नीच गोत्र का अनुभव करता है। जैसे बादल के बारे में कही हुई बात का न मिलना आदि। यह तो नीच गोत्र कर्म का परतः अनुभाव हुआ। नीच गोत्र कर्म के उदय से जातिहीन कुलहीन होना आदि स्वतः अनुभाव है।

(८) अन्तराय कर्म– जिस कर्म के उदय से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य शक्तियों का घात होता है अर्थात्

दान, लाभ आदि में रुकावट पड़ती है वह अन्तराय कर्म है। यह कर्म कोशाध्यक्ष (भंडारी) के समान है। राजा की आज्ञा होते हुए भी कोशाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर जैसे याचक को धनप्राप्ति में बाधा पड़ जाती है। उसी प्रकार आत्मा रूप राजा के दान लाभादि की इच्छा होते हुए भी अन्तराय कर्म उसमें रुकावट डाल देता है। अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं-- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। इनका स्वरूप प्रथम भाग पाँचवाँ बोल संग्रह, बोल नं० ३८८ में दिया जा चुका है। अन्तराय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय देने से तथा अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नामकर्म के उदय से जीव अन्तराय कर्म बांधता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न बाधा होने रूप इस कर्म का पाँच प्रकार का अनुभाव है। वह अनुभाव स्वतः भी होता है और परतः भी। एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव अन्तराय कर्म के उक्त अनुभाव का अनुभव करता है। विशिष्ट रत्नादि के सम्बन्ध से तद्विषयक मूर्छा हो जाने से तत्सम्बन्धी दानान्तराय का उदय होता है। उन रत्नादि की सन्धि को छेदने वाले उपकरणों के सम्बन्ध से लाभान्तराय का उदय होता है। विशिष्ट आहार अथवा बहुमूल्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर लोभवश उनका भोग नहीं किया जाता और इस तरह ये भोगान्तराय के उदय में कारण होती हैं। इसी प्रकार उपभोगान्तराय के विषय में भी समझना चाहिये। लाठी आदि की चोट से मूर्छित होना वीर्यान्तराय कर्म का अनुभाव होता है। आहार, औषधि आदि के परिणाम रूप पुद्गलपरिणाम से वीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है। मन्त्र

संस्कारित गन्ध पुद्गलपरिणाम से भोगान्तराय का उदय होता है। स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम भी अन्तराय के अनुभाव में निमित्त होता है, जैसे ठण्ड पड़ती देख कर दान देने की इच्छा होते हुए भी दाता वस्त्रादि का दान नहीं दे पाता और इस प्रकार दानान्तराय का अनुभव करता है। यह परतः अनुभाव हुआ। अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि में अन्तराय रूप फल का जो भोग होता है वह स्वतः अनुभाव है।

शङ्का- शास्त्रों में बताया है कि सामान्य रूप से आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का बन्ध एक साथ होता है। इसके अनुसार जिस समय ज्ञानावरणीय के बन्ध कारणों से ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है उसी समय शेष प्रकृतियों का भी बन्ध होता ही है। फिर अमुक बन्ध कारणों से अमुक कर्म का ही बन्ध होता है, यह कथन कैसे संगत होगा? इसका समाधान पं० सुखलालजी ने अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में इस प्रकार दिया है—

आठों कर्मों के बन्ध कारणों का जो विभाग बताया गया है वह अनुभाग बन्ध की अपेक्षा समझना चाहिए। सामान्य रूप से आयुकर्म के सिवाय सातों कर्मों का बन्ध एक साथ होता है, शास्त्र का यह नियम प्रदेशबन्ध की अपेक्षा जानना चाहिये। प्रदेशबन्ध की अपेक्षा एक साथ अनेक कर्म प्रकृतियों का बन्ध माना जाय और नियत आश्रवों को विशेष कर्म के अनुभाग बन्ध में निमित्त माना जाय तो दोनों कथनों में संगति हो जायगी और कोई विरोध न रहेगा। फिर भी इतना और समझ लेना चाहिये कि अनुभाग बन्ध की अपेक्षा जो बन्धकारणों के विभाग का समर्थन किया गया है वह भी मुख्यता की अपेक्षा ही है। ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारणों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय का अनुभाग बन्ध मुख्यता से होता है

और उस समय बंधने वाली अन्य कर्म प्रकृतियों का अनुभाग वन्ध गौण रूप से होता है। एक समय एक ही कर्म प्रकृति का अनुभाग वन्ध होता हो और दूसरी का न हो, यह तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि जिस समय योग (मन, वचन, काया के व्यापार) द्वारा जितनी कर्म प्रकृतियों का प्रदेश-बन्ध संभव है उसी समय कषाय द्वारा उनके अनुभाग वन्ध का भी संभव है। इस प्रकार अनुभाग वन्ध की मुख्यता की अपेक्षा ही कर्मवन्ध के कारणों के विभाग की संगति होती है।

प्रज्ञापना २३ पद में कर्म के आठ भेदों के क्रम की सार्थकता यों वताई गई है- ज्ञान और दर्शन जीव के स्वतत्त्व रूप हैं। इनके विना जीवत्व की ही उपपत्ति नहीं होती। जीव का लक्षण चेतना (उपयोग) है और उपयोग ज्ञान दर्शन रूप है। फिर ज्ञान और दर्शन के विना जीव का अस्तित्व कैसे रह सकता है? ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही सम्पूर्ण शास्त्रादि विषयक विचार परम्परा की प्रवृत्ति होती है। लब्धियाँ भी ज्ञानोपयोग वाले के होती हैं, दर्शनोपयोग वाले के नहीं। जिस समय जीव सकल कर्मों से मुक्त होता है उस समय वह ज्ञानोपयोग वाला ही होता है, दर्शनोपयोग तो उसे दूसरे समय में होता है। इस प्रकार ज्ञान की प्रधानता है। इसलिये ज्ञान का आवारक ज्ञानावरणीय कर्म भी सर्व प्रथम कहा गया है। ज्ञानो-पयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग में स्थित होता है। इस लिए ज्ञानावरण के वाद दर्शन का आवारक दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है। ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख दुःख रूप वेदनीय कर्म में निमित्त होते हैं। गाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म भोगता हुआ जीव सूक्ष्म वस्तुओं के विचार में अपने को असमर्थ पाता है और

इसलिए वह खिन्न होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पटुता वाला जीव अपनी बुद्धि से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वस्तुओं का विचार करता है। दूसरों से अपने को ज्ञान में बढ़ा चढ़ा देख वह हर्ष का अनुभव करता है। इसी प्रकार प्रगाढ़ दर्शनावरणीय कर्म के उदय होने पर जीव जन्मान्ध होता है और महादुःख भोगता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पटुता से जीव निर्मल स्वस्थ चक्षु द्वारा वस्तुओं को यथार्थरूप में देखता हुआ प्रसन्न होता है। इसीलिए ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के बाद तीसरा वेदनीय कर्म कहा गया। वेदनीय कर्म इष्ट वस्तुओं के संयोग में सुख और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है। इससे संसारी जीवों के राग द्वेष होना स्वाभाविक है। राग और द्वेष मोह के कारण हैं। इसलिए वेदनीय के बाद मोहनीय कर्म कहा गया है। मोहनीय कर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारंभ, महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरकादि की आयु बाँधते हैं। इसलिये मोहनीय के बाद आयुकर्म कहा गया। नरकादि आयुकर्म के उदय होने पर अवश्य ही नरक गति आदि नामकर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव आयुकर्म के बाद नामकर्म कहा गया है। नामकर्म के उदय होने पर जीव उच्च या नीच गोत्र में से किसी एक का अवश्य ही भोग करता है। इसलिए नामकर्म के बाद गोत्रकर्म कहा गया है। गोत्र कर्म के उदय होने पर उंच कुल में उत्पन्न जीव के दानान्तराय, लाभान्तराय आदि रूप अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा नीच कुल में उत्पन्न हुए जीव के दानान्तरायादि का उदय होता है। इसलिए गोत्र के बाद अन्तराय कर्म कहा गया है।

कर्मवाद का महत्त्व– जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों में

भी कर्मतत्त्व माना गया है परन्तु जैन दर्शन का कर्मवाद अनेक विशेषताओं से युक्त है। जैन दर्शन में कर्मतत्त्व का जो विस्तृत वर्णन और सूक्ष्म विश्लेषण है वह अन्य दर्शनों में सुलभ नहीं है। जड़ और चेतन जगत के विविध परिवर्तन सम्बन्धी सभी प्रश्नों का उत्तर हमें यहाँ मिलता है। भाग्य और पुरुषार्थ का यहाँ सुन्दर समन्वय है और विकास के लिए इसमें विशाल क्षेत्र है। कर्मवाद जीवन में आशा और स्फूर्ति का संचार करता है और उन्नति पथ पर चढ़ने के लिये अनुपम उत्साह भर देता है। कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास होने के बाद जीवन से निराशा और आलस्य दूर हो जाते हैं। जीवन विशाल कर्मभूमि बन जाता है और सुख दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते।

कर्म क्या है ? आत्मा के साथ कैसे कर्मबन्ध होता है और उसके कारण क्या हैं ? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है ? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगे रहते हैं ? आत्मा से सम्बद्ध होकर भी कर्म कितने काल तक फल नहीं देते ? विपाक का नियत समय बदल सकता है या नहीं ? यदि बदल सकता है तो उसके लिये कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं ? आत्मा कर्म का कर्त्ता और भोक्ता किस तरह है ? संक्लेश परिणाम से आकृष्ट होकर कर्मरज कैसे आत्मा के साथ लग जाती है और आत्मा वीर्य-शक्ति से किस प्रकार उसे हटा देता है ? विकासोन्मुख आत्मा जब परमात्म भाव प्रगट करने के लिये उत्सुक होता है तब उसके और कर्म के बीच कैसा अन्तर्द्वन्द्व होता है ? समर्थ आत्मा कर्मों को शक्तिशून्य करके किस प्रकार अपना प्रगति मार्ग निष्कण्टक बनाता है और आगे बढ़ते हुए कर्मों के पहाड़ को किस तरह चूर चूर कर देता है ? पूर्ण विकास के समीप

पहुँचे हुए आत्मा को भी शान्त हुए कर्म पुनः किस प्रकार दबा लेते हैं? इत्यादि कर्म विषयक सभी प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर जैन सिद्धान्त देता है। यही उसकी एक बड़ी विशेषता है।

कर्मवाद बताता है कि आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाला कर्म ही है। यह कर्म हमारे ही अतीत कार्यों का अवश्यम्भावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का यही एक प्रधान कारण है। हमारी वर्तमान अवस्था किसी बाह्य शक्ति से प्रदान की हुई नहीं है। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में किये हुए हमारे कर्मों का ही फल है। जो कुछ भी होता है वह किसी अन्तरंग कारण या अवस्था का परिणाम है। मनुष्य जो कुछ पाता है वह उसी की बोई हुई खेती का फल है।

कर्मवाद अध्यात्म शास्त्र के विशाल भवन की आधार शिला है। आत्मा की समानता और महानता का सन्देश इसके साथ है। यह बताता है कि आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है और अपने संकल्प और अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए हमें उसका दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता नहीं है। अपने पापों का नाश करने के लिये, अपने उत्थान के लिये हमें किसी शक्ति के आगे न दया की भीख मांगने की आवश्यकता है न उसके आगे रोने और गिड़गिड़ाने की ही। कर्मवाद का यह भी मन्तव्य है कि संसार की सभी आत्माएं एक सी हैं और सभी में एक सी शक्तियाँ हैं। चेतन जगत में जो भेदभाव दिखाई देता है वह शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण। कर्मवाद के अनुसार विकास की चरम सीमा को प्राप्त व्यक्ति परमात्मा है। हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत हैं, अविकसित हैं और आत्मबल द्वारा कर्म के आवरण को दूर कर इन शक्तियों का विकास

किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर हम परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। यों पूर्ण विकास के लिये कर्मवाद से अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

जीवन विघ्न, बाधा, दुःख और आपत्तियों से भरा है। इनके आने पर हम घबरा उठते हैं और हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहर की परिस्थिति प्रतिकूल होती है और दूसरी ओर घबराहट और चिन्ता के कारण अन्तरंग स्थिति को हम अपने हाथों से बिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में भूल पर भूल होना स्वाभाविक है। अन्त में निराश होकर हम आरंभ किये हुए कामों को छोड़ बैठते हैं। दुःख के समय हम रोते चिल्लाते हैं। बाह्य निमित्त कारणों को हम दुःख का प्रधान कारण समझने लगते हैं और इसलिये हम उन्हें भला बुरा कहते और कोसते हैं। इस तरह हम व्यर्थ ही क्लेश करते हैं और अपने लिये नवीन दुःख खड़ा कर लेते हैं। ऐसे समय कर्म सिद्धान्त ही शिक्षक का काम करता है और पथभ्रष्ट आत्मा को ठीक रास्ते पर लाता है। वह बतलाता है कि आत्मा अपने भाग्य का निर्माता है। सुख दुःख उसी के किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति आत्मा को सुख दुःख नहीं दे सकती। वृक्ष का मूल कारण बीज है और पृथ्वी, पानी, पवन आदि निमित्त मात्र हैं। उसी प्रकार दुःख का बीज हमारे ही पूर्वकृत कर्म हैं और बाह्य सामग्री निमित्त मात्र है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विपत्ति के समय नहीं घबराता और न विवेक से ही हाथ धो बैठता है। अपने दुःख के लिये वह दूसरों को दोष भी नहीं देता। इस तरह कर्मवाद आत्मा को निराशा से बचाता है, दुःख सहने की शक्ति देता है, हृदय को शान्त और बुद्धि को स्थिर रख कर प्रतिकूल परिस्थियों का सामना करने का पाठ पढ़ाता

है। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह कर्मवादी शान्त भाव से कर्म का ऋण चुकाता है और सब कुछ चुपचाप सह लेता है। अपनी गल्ती से होने वाला बड़े से बड़ा नुक्सान भी मनुष्य किस तरह चुपचाप सह लेता है यह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। यही हाल कर्मवादी का भी होता है। भूतकाल के अनुभवों से भावी भलाई के लिये तैयार होने की भी इससे शिक्षा मिलती है। सुख और सफलता में संयत रहने की भी इससे शिक्षा मिलती है और यह आत्मा को उच्छृङ्खल और उद्दंड होने से बचाता है।

शंका– पूर्वकृत कर्मानुसार जीव को सुख दुःख होते हैं। किये हुए कर्मों से आत्मा का छुटकारा संभव नहीं है। इस तरह सुखप्राप्ति और दुखनिवृत्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। भाग्य में जो लिखा होगा सो होकर ही रहेगा। सौ प्रयत्न करने पर भी उसका फल रोका नहीं जा सकता। क्या कर्मवाद का यह मन्तव्य आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता?

उत्तर– यह सत्य है कि अच्छा या बुरा कोई कर्म नष्ट नहीं होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है वह वापिस नहीं लौटाया जा सकता। पर जिस प्रकार सामने से वेग पूर्वक आता हुआ दूसरा पत्थर पहले वाले से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उसकी दिशा को बदल देता है। ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्मपरिणामों द्वारा न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और कभी कभी निष्फल भी हो जाते हैं। जैन सिद्धान्त में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन है। कर्म की एक निकाचित अवस्था ही ऐसी है जिसमें कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पड़ता है। शेष अवस्थाएं आत्म परिणामानुसार परिवर्तन शील हैं। जैन कर्मवाद का मन्तव्य है कि प्रयत्न विशेष से आत्मा कर्म की

प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को बदल देता है। एक कर्म दूसरे कर्म के रूप में बदल जाता है। लम्बी स्थिति वाले कर्म छोटी स्थिति में और तीव्र रस वाले मन्द रस में परिणत हो जाते हैं। कई कर्मों का वेदन विपाक से न होकर प्रदेशों से ही हो जाता है। कर्म सम्बन्धी उक्त बातें आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करतीं बल्कि पुरुषार्थ के लिये प्रेरित करती हैं। जिन्हें कर्मों की निकाचित आदि अवस्थाओं का ज्ञान नहीं है ऐसे लोगों के लिये कर्मवाद निरन्तर पुरुषार्थ की शिक्षा देता है। पुरुषार्थ और प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त न हो वहाँ कर्म की प्रबलता समझकर धैर्य धरना चाहिए। पुरुषार्थ वहाँ भी व्यर्थ नहीं जाता। शेष अवस्थाओं में तो पुरुषार्थ प्रगति की ओर बढ़ाता ही है।

इस तरह हम देखते हैं कि जैन कर्मवाद में अनेक विशेषताएं हैं और व्यवहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की परम उपयोगिता है।

(विशेषावश्यक भाष्य अग्निभूति गणधर वाद) (तत्त्वार्थाधिगम भाष्य अध्याय ८) (कर्मग्रन्थ भाग १) (भगवती शतक ८ उद्देशा ९) (भगवती शतक १ उद्देशा ४) (उत्तराध्ययन अध्य० ३३) (पन्नवणा पद २३) (द्रव्यलोक प्रकाश सर्ग १०)

५६१- अक्रियावादी आठ

वस्तु के अनेकान्तात्मक यथार्थ स्वरूप को न मानने वाले नास्तिक को अक्रियावादी कहते हैं। सभी पदार्थों के पूर्ण स्वरूप को बताते हुए स्वर्ग नरक वगैरह के अस्तित्व को मान कर तदनुसार कर्तव्य या अकर्तव्य की शिक्षा देने वाले सिद्धान्त को क्रियावाद कहते हैं। इन बातों का निषेध या विपरीत प्ररूपणा करने वाले सिद्धान्त को अक्रियावाद कहते हैं। अक्रियावादी आठ हैं-

(१) एकवादी- संसार को एक ही वस्तुरूप मानने वाले अद्वैतवादी एकवादी कहलाते हैं। अद्वैतवादी कई तरह के हैं--

(क) आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत को मानने वाले वेदान्ती। इनके मत से एक ही आत्मा है। भिन्न भिन्न अन्तःकरणों में उसी के प्रतिबिम्ब अनेक मालूम पड़ते हैं। जिस तरह एक ही चाँद अलग अलग जलपात्रों में अनेक मालूम पड़ता है। दूसरा कोई आत्मा नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज वगैरह महाभूत तथा सारा संसार आत्मा का ही विवर्त है अर्थात् वास्तव में सब कुछ आत्मस्वरूप ही है। जैसे अँधेरे में रस्सी साँप मालूम पड़ती है, उसी तरह आत्मा ही भ्रम से भौतिक पदार्थों के रूप में मालूम पड़ता है। इस भ्रम का दूर होना ही मोक्ष है।

(ख) शब्दाद्वैतवादी- इस मत में संसार की सृष्टि शब्द से ही होती है। ब्रह्म भी शब्दरूप है। इसका नाम वैयाकरणदर्शन भी है। इस दर्शन पर भर्तृहरि का 'वाक्पदीय' नामक मुख्य ग्रन्थ है।

(ग) सामान्यवादी- इनके मत से वस्तु सामान्यात्मक ही है। यह सांख्य और योग का सिद्धान्त है।

ये सभी दर्शन दूसरी वस्तुओं का अपलाप करने से तथा प्रमाण विरुद्ध अद्वैतवाद को स्वीकार करने से अक्रियावादी हैं।

(२) अनेकवादी- बौद्ध लोग अनेकवादी कहलाते हैं। सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से एक तथा किसी अपेक्षा से अनेक हैं। जो लोग यह मानते हैं कि सभी पदार्थ अनेक ही हैं, अर्थात् अलग अलग मालूम पड़ने से परस्पर भिन्न ही हैं वे अनेकवादी कहलाते हैं। उनका कहना है- पदार्थों को अभिन्न मानने से जीव अजीव, बद्ध मुक्त, सुखी दुःखी आदि सभी एक हो जाएंगे, दीक्षा वगैरह धार्मिक कार्य व्यर्थ हो जाएंगे। दूसरी बात यह है कि पदार्थों में एकता सामान्य की अपेक्षा से ही मानी जाती है। विशेष से भिन्न सामान्य नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिए रूप से भिन्न रूपत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह

अवयवों से भिन्न अवयवी और धर्मों से भिन्न कोई धर्मी भी नहीं है। सामान्य रूप से वस्तुओं के एक होने पर भी उसका निषेधक होने से यह मत भी अक्रियावादी है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि विशेषों से भिन्न सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। विना सामान्य के कई पदार्थों में या पर्यायों में एक ही शब्द से प्रतीति नहीं हो सकती। कई घटों में घट घट तथा कड़ा कुण्डल वगैरह पर्यायों में स्वर्ण स्वर्ण यह प्रतीति सामान्य रूप एक अनुगत वस्तु के द्वारा ही हो सकती है। सभी पदार्थों को सर्वथा विलक्षण मान लेने पर एक परमाणु को छोड़ कर शेष सभी अपरमाणु हो जाएंगे।

अवयवी को विना माने अवयवों की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। एक शरीर रूप अवयवी मान लेने के बाद ही यह कहा जा सकता है, हाथ पैर सिर वगैरह शरीर के अवयव हैं। इसी तरह धर्मी को माने विना भी काम नहीं चलता।

सामान्य विशेष, धर्म धर्मी, अवयव अवयवी आदि कथञ्चित् भिन्न तथा कथञ्चित् अभिन्न मानने से सब तरह की व्यवस्था ठीक हो जाती है।

(३) मितवादी– जीवों के अनन्तानन्त होने पर भी जो उन्हें परिमित बताते हैं वे मितवादी हैं। उनका मत है कि संसार एक दिन भव्यों से रहित हो जायगा। अथवा जो जीव को अंगुष्ठ परिमाण, श्यामाक तन्दुलपरिमाण या अणुपरिमाण मानते हैं। वास्तव में जीव असंख्यात प्रदेशी है। अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारे लोक को व्याप्त कर सकता है। इसलिए अनियत परिमाण वाला है। अथवा जो असंख्यात द्वीप समुद्रों से युक्त चौदह राजू परिमाण वाले लोक को सात द्वीप समुद्र रूप ही बताता है वह मितवादी है। वस्तुत्व निषेध करने से

ये सभी अक्रियावादी हैं।

(४) निर्मितवादी– जो लोग संसार को ईश्वर, ब्रह्म या पुरुष आदि के द्वारा निर्मित मानते हैं। उनकाकहना है– पहले यह सब अन्धकारमय था। न इसे कोई जानता था, न इसका कुछ स्वरूप था। कल्पना और बुद्धि से परे था। मानो सब कुछ सोया हुआ था। वह एक अन्धकार का समुद्र सा था। न स्थावर थे न जंगम। न देवता थे न मनुष्य। न साँप थे न राक्षस। एक शून्य खड्ड सा था। कोई महाभूत न था। उस शून्य में अचिन्त्यस्वरूप विभु लेटे हुए तपस्या कर रहे थे। उसी समय उनकी नाभि से एक कमल निकला। वह दोपहर के सूर्य की तरह दीप्त, मनोहर तथा सोने के पराग वाला था। उस कमल से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान् ब्रह्मा पैदा हुए। उन्होंने आठ जगन्माताओं की सृष्टि की। उनके नाम निम्न लिखित हैं–(१) देवों की मां अदिति (२) राक्षसों की दिति (३) मनुष्यों की मनु (४) विविध प्रकार के पक्षियों की विनता (५) साँपों की कद्रु (६) नाग जाति वालों की सुलसा (७) चौपायों की सुरभि और (८) सब प्रकार के बीजों की इला। वे सिद्ध करते हैं– संसार किसी बुद्धिमान् का बनाया हुआ है क्योंकि संस्थान अर्थात् विशेष आकार वाला है, जैसे घट। अनादि संसार को ईश्वरादि निर्मित मानने से ये भी अक्रियावादी हैं।

ईश्वर को जगत्कर्ता मानने से सभी पदार्थ उसी के द्वारा बनाए जाएंगे तो कुम्भकार वगैरह व्यर्थ हो जाएंगे। कुलाल (कुम्हार) आदि की तरह अगर ईश्वर भी बुद्धि की अपेक्षा रक्खेगा तो वह ईश्वर ही न रहेगा। ईश्वर शरीर रहित होने से भी क्रिया करने में असमर्थ है। अगर उसे शरीर वाला माना जाय तो उस के शरीर को बनाने वाला कोई दूसरा सशरीरी मानना पड़ेगा और

इस तरह अनवस्था हो जाएगी।

(५) सातवादी--जो कहते हैं, संसार में सुख से रहना चाहिये। सुख ही से सुख की उत्पत्ति हो सकती है, तपस्या आदि दुःख से नहीं। जैसे सफेद तन्तुओं से बनाया गया कपड़ा ही सफेद हो सकता है, लाल तन्तुओं से बनाया हुआ नहीं। इसी तरह दुःख से सुख की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

संयम और तप जो पारमार्थिक सुख के कारण हैं उनका निराकरण करने से ये भी अक्रियावादी हैं।

(६) समुच्छेदवादी-- यह भी बौद्धों का ही नाम है। वस्तु प्रत्येक क्षण में सर्वथा नष्ट होती रहती है, किसी अपेक्षा से नित्य नहीं है, यही समुच्छेदवाद है। उनका कहना है-- वस्तु का लक्षण है किसी कार्य का करना। नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होने से वह नित्य नहीं रह सकता। इसलिये वस्तु को क्षणिक ही मानना चाहिए। निरन्वयनाश मान लेने से आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहेगा। इससे स्वर्गादि की प्राप्ति उसी आत्मा को न होगी जिसने संयम आदि का पालन किया है। इसलिये यह भी अक्रियावादी है।

(७) नियतवादी-- सांख्य और योगदर्शन वाले नियतवादी कहलाते हैं। ये सभी पदार्थों को नित्य मानते हैं।

(८) परलोक नास्तित्ववादी-- चार्वाक दर्शन परलोक वगैरह को नहीं मानता। आत्मा को भी पाँच भूत स्वरूप ही मानता है। इसके मत में संयम आदि की कोई आवश्यकता नहीं है।

इन सब का विशेष विस्तार इसके दूसरे भाग के बोल नं० ४६७ में छः दर्शन के प्रकरण में दिया गया है। (ठाणांग, सूत्र ६०७)

५९२-- करण आठ

जीव के वीर्य विशेष को करण कहते है। यहाँ करण से

कर्म विषयक जीव का वीर्य विशेष विवक्षित है। करण आठ हैं-
(१) बन्धन-- आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों को क्षीर-नीर की तरह एक रूप मिलाने वाला जीव का वीर्य विशेष बन्धन कहलाता है।
(२) संक्रमण-- एक प्रकार के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध को दूसरी तरह से व्यवस्थित करने वाला जीव का वीर्य विशेष संक्रमण कहलाता है।
(३) उद्वर्तना-- कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि करने वाला जीव का वीर्य विशेष उद्वर्तना है।
(४) अपवर्तना-- कर्मों की स्थिति और अनुभाग में कमी करने वाला जीव का वीर्य विशेष अपवर्तना है।
(५) उदीरणा-- अनुदय प्राप्त कर्म दलिकों को उदयावलिका में प्रवेश कराने वाला जीव का वीर्य विशेष उदीरणा है।
(६) उपशमना-- जिस वीर्य विशेष के द्वारा कर्म उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना के अयोग्य हो जाँय वह उपशमना है।
(७) निधत्ति-- जिससे कर्म उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण के सिवाय शेष करणों के अयोग्य हो जायँ वह वीर्य विशेष निधत्ति है।
(८) निकाचना-- कर्मों को सभी करणों के अयोग्य एवं अवश्यवेद्य बनाने वाला जीव का वीर्य विशेष निकाचना है।

(कर्मप्रकृति गाथा २) (भगवती शतक १ उद्देशा २-३)

५९३- आत्मा के आठ भेद

जो लगातार दूसरी दूसरी स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करता रहता है वह आत्मा है। अथवा जिसमें हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाय वह आत्मा है। तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा का लक्षण बताते हुए कहा है- 'उपयोगो लक्षणम्' अर्थात् आत्मा का स्वरूप उपयोग है।

उपयोग की अपेक्षा सामान्य रूप से सभी आत्माएं एक प्रकार

की हैं किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मानकर आत्मा के आठ भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) द्रव्यात्मा– त्रिकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है। यह द्रव्यात्मा सभी जीवों के होती है।

(२) कषायात्मा– क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय विशिष्ट आत्मा कषायात्मा है। उपशान्त एवं क्षीण कषाय आत्माओं के सिवाय शेष सभी संसारी जीवों के यह आत्मा होती है।

(३) योगात्मा– मन वचन काया के व्यापार को योग कहते हैं। योगप्रधान आत्मा योगात्मा है। योग वाले सभी जीवों के यह आत्मा होती है। अयोगी केवली और सिद्धों के यह आत्मा नहीं होती, क्योंकि ये योग रहित होते हैं।

(४) उपयोगात्मा– ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। उपयोगात्मा सिद्ध और संसारी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि सभी जीवों के होती है।

(५) ज्ञानात्मा–विशेष अनुभव रूप सम्यग्ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।

(६) दर्शनात्मा– सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा को दर्शनात्मा कहते हैं। दर्शनात्मा सभी जीवों के होती है।

(७) चारित्रात्मा– चारित्र गुण विशिष्ट आत्मा को चारित्रात्मा कहते हैं। चारित्रात्मा विरति वालों के होती है।

(८) वीर्यात्मा– उत्थानादि रूप कारणों से युक्त वीर्य विशिष्ट आत्मा को वीर्यात्मा कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों के होती है। यहाँ वीर्य से सकरण वीर्य लिया जाता है। सिद्धात्माओं के सकरण वीर्य नहीं होता, अतएव उनमें वीर्यात्मा नहीं मानी गई है। उनमें भी लब्धि वीर्य की अपेक्षा वीर्यात्मा मानी गई है।

आत्मा के आठ भेदों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? एक भेद

में दूसरा भेद रहता है या नहीं ? इसका उत्तर निम्न प्रकार है-

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है उसके कषायात्मा होती भी है और नहीं भी होती। सकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा होती है और अकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा नहीं होती, किन्तु जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है। द्रव्यात्मत्व अर्थात् जीवत्व के बिना कषायों का सम्भव नहीं है।

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है, उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती। जो द्रव्यात्मा सयोगी है उसके योगात्मा होती है और जो अयोगी है उसके योगात्मा नहीं होती, किन्तु जिस जीव के योगात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियमपूर्वक होती है। द्रव्यात्मा जीव रूप है और जीव के बिना योगों का सम्भव नहीं है।

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम से होती है एवं जिसके उपयोगात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियम से होती है। द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। सिद्ध और संसारी सभी जीवों के द्रव्यात्मा भी है और उपयोगात्मा भी है। द्रव्यात्मा जीव रूप है और उपयोग उसका लक्षण है। इसलिये दोनों एक दूसरी में नियम रूप से पाई जाती हैं।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि द्रव्यात्मा के ज्ञानात्मा होती है और मिथ्या-दृष्टि द्रव्यात्मा के ज्ञानात्मा नहीं होती। किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है उसके द्रव्यात्मा नियम से है। द्रव्यात्मा के बिना ज्ञान की सम्भावना ही नहीं है।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके दर्शनात्मा नियम पूर्वक होती है और जिसके दर्शनात्मा होती है उसके भी द्रव्यात्मा नियम पूर्वक होती है। द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा की तरह द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा में भी नित्य सम्बन्ध है।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है। विरति वाले द्रव्यात्मा में चारित्रात्मा पाई जाती है। विरति रहित संसारी और सिद्ध जीवों में द्रव्यात्मा होने पर भी चारित्रात्मा नहीं पाई जाती किन्तु जिस जीव के चारित्रात्मा है उसके द्रव्यात्मा नियम से होती ही है। द्रव्यात्मत्व के बिना चारित्र संभव ही नहीं है।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके वीर्यात्मा की भजना है। सकरण वीर्य रहित सिद्ध जीवों में द्रव्यात्मा है पर वीर्यात्मा नहीं है। संसारी जीवों के द्रव्यात्मा और वीर्यात्मा दोनों ही हैं, परन्तु जहाँ वीर्यात्मा है वहाँ द्रव्यात्मा नियम रूप से रहती ही है। वीर्यात्मा वाले सभी संसारी जीवों में द्रव्यात्मा होती ही है।

सारांश यह है कि द्रव्यात्मा में कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है पर उक्त आत्माओं में द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है। द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा तथा द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा इनमें परस्पर नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रव्यात्मा के साथ शेष सात आत्माओं का सम्बन्ध है।

कषायात्मा के साथ आगे की छः आत्माओं का सम्बन्ध इस प्रकार है- जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके योगात्मा नियम पूर्वक होती है। सकषायी आत्मा अयोगी नहीं होती। जिसके योगात्मा होती है उसके कषायात्मा की भजना है, क्योंकि सयोगी आत्मा सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार की होती है।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम पूर्वक होती है क्योंकि उपयोग रहित के कषाय का अभाव है। किन्तु उपयोगात्मा वाले जीव के कषायात्मा की भजना है, क्योंकि ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान वाले तथा सिद्ध जीवों में उपयोगात्मा तो है पर उनमें कषाय का अभाव है।

जिसके कषायात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है।

मिथ्यादृष्टि के कषायात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। इसी प्रकार जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है उसके भी कषायात्मा की भजना है। ज्ञानी कषाय सहित भी होते हैं और कषाय रहित भी।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके दर्शनात्मा नियम से होती है। दर्शन रहित घटादि में कषायों का सर्वथा अभाव है। दर्शनात्मा वालों में कषायात्मा की भजना है, क्योंकि दर्शनात्मा वाले जीव सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार के होते हैं।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है और चारित्रात्मा वाले के भी कषायात्मा की भजना है। कषाय वाले जीव संयत और असंयत दोनों प्रकार के होते हैं। चारित्र वालों में भी कषाय सहित और अकषायी दोनों शामिल हैं। सामायिक आदि चारित्र वालों में कषाय रहती है और यथाख्यात चारित्र वाले कषाय रहित होते हैं।

जिस जीव के कषायात्मा है उसके वीर्यात्मा नियम पूर्वक होती है। वीर्य रहित जीव में कषायों का अभाव पाया जाता है। वीर्यात्मा वाले जीवों के कषायात्मा की भजना है, क्योंकि वीर्यात्मा वाले जीव सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार के होते हैं।

योगात्मा के साथ आगे की पाँच आत्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न लिखितानुसार है– जिस जीव के योगात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम पूर्वक होती है। सभी सयोगी जीवों में उपयोग होता ही है। किन्तु जिसके उपयोगात्मा होती है उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध आत्माओं में उपयोगात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं है।

जिस जीव के योगात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों में योगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है। विरति वाले द्रव्यात्मा में चारित्रात्मा पाई जाती है। विरति रहित संसारी और सिद्ध जीवों में द्रव्यात्मा होने पर भी चारित्रात्मा नहीं पाई जाती किन्तु जिस जीव के चारित्रात्मा है उसके द्रव्यात्मा नियम से होती ही है। द्रव्यात्मत्व के विना चारित्र संभव ही नहीं है।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके वीर्यात्मा की भजना है। सकरण वीर्य रहित सिद्ध जीवों में द्रव्यात्मा है पर वीर्यात्मा नहीं है। संसारी जीवों के द्रव्यात्मा और वीर्यात्मा दोनों ही हैं, परन्तु जहाँ वीर्यात्मा है वहाँ द्रव्यात्मा नियम रूप से रहती ही है। वीर्यात्मा वाले सभी संसारी जीवों में द्रव्यात्मा होती ही है।

सारांश यह है कि द्रव्यात्मा में कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है पर उक्त आत्माओं में द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है। द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा तथा द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा इनमें परस्पर नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रव्यात्मा के साथ शेष सात आत्माओं का सम्बन्ध है।

कषायात्मा के साथ आगे की छः आत्माओं का सम्बन्ध इस प्रकार है- जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके योगात्मा नियम पूर्वक होती है। सकषायी आत्मा अयोगी नहीं होती। जिसके योगात्मा होती है उसके कषायात्मा की भजना है, क्योंकि सयोगी आत्मा सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार की होती है।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम पूर्वक होती है क्योंकि उपयोग रहित के कषाय का अभाव है। किन्तु उपयोगात्मा वाले जीव के कषायात्मा की भजना है, क्योंकि ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान वाले तथा सिद्ध जीवों में उपयोगात्मा तो है पर उनमें कषाय का अभाव है।

जिसके कषायात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है।

मिथ्यादृष्टि के कषायात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। इसी प्रकार जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है उसके भी कषायात्मा की भजना है। ज्ञानी कषाय सहित भी होते हैं और कषाय रहित भी।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके दर्शनात्मा नियम से होती है। दर्शन रहित घटादि में कषायों का सर्वथा अभाव है। दर्शनात्मा वालों में कषायात्मा की भजना है, क्योंकि दर्शनात्मा वाले जीव सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार के होते हैं।

जिस जीव के कषायात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है और चारित्रात्मा वाले के भी कषायात्मा की भजना है। कषाय वाले जीव संयत और असंयत दोनों प्रकार के होते हैं। चारित्र वालों में भी कषाय सहित और अकषायी दोनों शामिल हैं। सामायिक आदि चारित्र वालों में कषाय रहती है और यथाख्यात चारित्र वाले कषाय रहित होते हैं।

जिस जीव के कषायात्मा है उसके वीर्यात्मा नियम पूर्वक होती है। वीर्य रहित जीव में कषायों का अभाव पाया जाता है। वीर्यात्मा वाले जीवों के कषायात्मा की भजना है, क्योंकि वीर्यात्मा वाले जीव सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार के होते हैं।

योगात्मा के साथ आगे की पाँच आत्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न लिखितानुसार है– जिस जीव के योगात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम पूर्वक होती है। सभी सयोगी जीवों में उपयोग होता ही है। किन्तु जिसके उपयोगात्मा होती है उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती। चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध आत्माओं में उपयोगात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं है।

जिस जीव के योगात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों में योगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं

होती। इसी प्रकार ज्ञानात्मा वाले जीव के भी योगात्मा की भजना है। चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध जीवों में ज्ञानात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं है।

जिस जीव के योगात्मा होती है उसके दर्शनात्मा होती ही है, क्योंकि सभी जीवों में दर्शन रहता ही है। किन्तु जिस जीव के दर्शनात्मा है उसके योगात्मा की भजना है, क्योंकि दर्शन वाले जीव योग सहित भी होते हैं और योग रहित भी।

जिस जीव के योगात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है। योगात्मा होते हुए भी अविरति जीवों में चारित्रात्मा नहीं होती। इसी तरह जिस जीव के चारित्रात्मा होती है उसके भी योगात्मा की भजना है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवों के चारित्रात्मा तो है पर योगात्मा नहीं है। दूसरी वाचना में यह बताया है कि जिसके चारित्रात्मा होती है उसके नियम पूर्वक योगात्मा होती है। यहाँ प्रत्युपेक्षणादि व्यापार रूप चारित्र की विवक्षा है और यह चारित्र योग पूर्वक ही होता है।

जिसके योगात्मा होती है उसके वीर्यात्मा होती ही है क्योंकि योग होने पर वीर्य अवश्य होता ही है पर जिसके वीर्यात्मा होती है उसके योगात्मा की भजना है। अयोगी केवली में वीर्यात्मा तो है पर योगात्मा नहीं है। यह बात करण और लब्धि दोनों वीर्यात्माओं को लेकर कही गई है। जहाँ करण वीर्यात्मा है वहाँ योगात्मा अवश्य रहेगी। जहाँ लब्धि वीर्यात्मा है वहाँ योगात्मा की भजना है।

उपयोगात्मा के साथ ऊपर की चार आत्माओं का सम्बन्ध इस प्रकार है– जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों में उपयोगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ दर्शनात्मा नियम रूप से

रहती है। जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ चारित्रात्मा की भजना है। असंयती जीवों के उपयोगात्मा तो होती है पर चारित्रात्मा नहीं होती। जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ वीर्यात्मा की भजना है। सिद्धों में उपयोगात्मा के होते हुए भी करण वीर्यात्मा नहीं पाई जाती।

ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा में उपयोगात्मा नियम पूर्वक रहती है। जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग लक्षण वाला जीव ही ज्ञान, दर्शन चारित्र, और वीर्य का धारक होता है। उपयोग शून्य घटादि में ज्ञानादि नहीं पाये जाते।

ज्ञानात्मा के साथ ऊपर की तीन आत्माओं का सम्बन्ध निम्न लिखितानुसार है। जहाँ ज्ञानात्मा है वहाँ दर्शनात्मा नियम पूर्वक होती है। ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है और वह दर्शन पूर्वक ही होता है। किन्तु जहाँ दर्शनात्मा है वहाँ ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों के दर्शनात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती।

जहाँ ज्ञानात्मा है वहाँ चारित्रात्मा की भजना है। अविरति सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानात्मा होते हुए भी चारित्रात्मा नहीं होती। जहाँ चारित्रात्मा है वहाँ ज्ञानात्मा नियम पूर्वक होती है, क्योंकि ज्ञान के बिना चारित्र का अभाव है।

जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है उसके वीर्यात्मा होती भी है और नहीं भी होती। सिद्ध जीवों में ज्ञानात्मा के होते हुए भी करण वीर्यात्मा नहीं होती। इसी प्रकार जहाँ वीर्यात्मा है वहाँ भी ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों के वीर्यात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती।

दर्शनात्मा के साथ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का सम्बन्ध इस प्रकार है- जहाँ दर्शनात्मा होती है वहाँ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है। दर्शनात्मा के होते हुए भी असंयतियों

के चारित्रात्मा नहीं होती और सिद्धों के करण वीर्यात्मा नहीं होती। किन्तु जहाँ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा हैं वहाँ दर्शनात्मा नियमतः होती है, क्योंकि दर्शन तो सभी जीवों में होता ही है।

चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का सम्बन्ध इस प्रकार है– जिस जीव के चारित्रात्मा होती है उसके वीर्यात्मा होती ही है, क्योंकि वीर्य के बिना चारित्र का अभाव है। किन्तु जिस जीव के वीर्यात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है। असंयत आत्माओं में वीर्यात्मा के होते हुए भी चारित्रात्मा नहीं होती।

इन आठ आत्माओं का अल्प बहुत्व इस प्रकार है– सब से थोड़ी चारित्रात्मा हैं, क्योंकि चारित्रवान् जीव संख्यात ही हैं। चारित्रात्मा से ज्ञानात्मा अनन्तगुणी है, क्योंकि सिद्ध और सम्यग्दृष्टि जीव चारित्री जीवों से अनन्तगुणे हैं। ज्ञानात्मा से कषायात्मा अनन्तगुणी है, क्योंकि सिद्धों की अपेक्षा कषायों के उदय वाले जीव अनन्तगुणे हैं। कषायात्मा से योगात्मा विशेषाधिक हैं, क्योंकि योगात्मा में कषायात्मा तो शामिल हैं ही और कषाय रहित योग वाले जीवों का भी इसमें समावेश हो जाता है। योगात्मा से वीर्यात्मा विशेषाधिक है, क्योंकि वीर्यात्मा में अयोगी आत्माओं का भी समावेश है। उपयोगात्मा, द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा ये तीनों तुल्य हैं, क्योंकि सभी सामान्य जीव रूप हैं परन्तु वीर्यात्मा से विशेषाधिक हैं क्योंकि इन तीन आत्माओं में वीर्यात्मा वाले संसारी जीवों के अतिरिक्त सिद्ध जीवों का भी समावेश होता है। (भगवती सूत्र श० १२ उ० १०)

५९४– अनेकान्तवाद पर आठ दोष और उनका वारण

परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले अनेक धर्मों का समन्वय

अनेकान्तवाद, सप्तभङ्गीवाद या स्याद्वाद है। इसमें एकान्तवादियों की तरफ से आठ दोष दिये जाते हैं। वस्तु को नित्यानित्य, द्रव्यपर्यायात्मक, सदसत् या किसी भी प्रकार अनेकान्तरूप मानने से वे घटाए जाते हैं।

(१) विरोध- परस्पर विरोधी दो धर्म एक साथ एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। जैसे एक ही वस्तु काले रंग वाली और बिना काले रंग वाली नहीं हो सकती, इसी प्रकार एक ही वस्तु भेद वाली और बिना भेद वाली नहीं हो सकती, क्योंकि भेद वाली होना और न होना परस्पर विरोधी हैं। एक के रहने पर दूसरा नहीं रह सकता। विरोधी धर्मों को एक स्थान पर मानने से विरोध दोष आता है।

(२) वैयधिकरण्य- जिस वस्तु में जो धर्म कहे जॉय वे उसी में रहने चाहिएं। यदि उन दोनों धर्मों के अधिकरण या आधार भिन्न भिन्न हों तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों एक ही वस्तु में रहते हैं। जैसे- घटत्व का आधार घट और पटत्व का आधार पट है। ऐसी हालत में यह नहीं कहा जा सकता कि घटत्व और पटत्व दोनों समानाधिकरण या एक ही वस्तु में रहने वाले हैं। भेदाभेदात्मक वस्तु में भेद का अधिकरण पर्याय और अभेद का अधिकरण द्रव्य है। इसलिए भेद और अभेद दोनों के अधिकरण अलग अलग हैं। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि भेद और अभेद दोनों एक ही वस्तु में रहते हैं। भिन्न भिन्न अधिकरण वाले धर्मों को एक जगह मानने में वैयधिकरण्य दोष आता है।

(३) अनवस्था- जहाँ एक वस्तु की सिद्धि के लिये दूसरी वस्तु की सिद्धि करना आवश्यक हो और दूसरी के लिये तीसरी, चौथी, इसी प्रकार परम्परा चल पड़े और उत्तरोत्तर की असिद्धि

से पूर्वपूर्व में असिद्धि आती जाय उसे अनवस्था कहते हैं।

जिस स्वभाव के कारण वस्तु में भेद कहा जाता है और जिसके कारण अभेद कहा जाता है वे दोनों स्वभाव भी भिन्ना-भिन्नात्मक मानने पड़ेंगे, नहीं तो वहीं एकान्तवाद आ जायगा। उन्हें भिन्नाभिन्न मानने पर वहाँ भी अपेक्षा बतानी पड़ेगी कि इस अपेक्षा से भिन्न है और अमुक अपेक्षा से अभिन्न। इस प्रकार उत्तरोत्तर कल्पना करने पर अनवस्था दोष है।

(४) सङ्कर– सब जगह अनेकान्त मानने से यह भी कहना पड़ेगा कि जिस रूप से भेद है उसी रूप से अभेद भी है। नहीं तो एकान्तवाद आ जायगा। एक ही रूप से भेद और अभेद दोनों मानने से सङ्कर दोष है।

(५) व्यतिकर– जिस रूप से भेद है उसी रूप से अभेद मान लेने पर भेद का कारण अभेद करने वाला तथा अभेद का कारण भेद करने वाला हो जायगा। इस प्रकार व्यतिकर दोष है।

(६) संशय– भेदाभेदात्मक मानने पर किसी वस्तु का विवेक अर्थात् दूसरे पदार्थों से अलग करके निश्चय नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार संशय दोष आ जायगा।

(७) अप्रतिपत्ति– संशय होने पर किसी वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान न हो सकेगा और अप्रतिपत्ति दोष आ जायगा।

(८) अव्यवस्था– इस प्रकार ज्ञान न होने से विषयों की व्यवस्था भी न हो सकेगी।

दोषों का वारण

जैन सिद्धान्त पर लगाए गए ऊपर वाले दोष ठीक नहीं हैं। विरोध उन्हीं वस्तुओं में कहा जा सकता है जो एक स्थान पर न मिलें। जो वस्तुएं एक साथ एक अधिकरण में स्पष्ट मालूम पड़ती हैं उनका विरोध नहीं कहा जा सकता। काला

और सफेद भी यदि एक स्थान पर मिलते हैं तो उनका विरोध नहीं है। बौद्ध कई रंगों वाले वस्त्र के एक ही ज्ञान में काला और सफेद दोनों प्रतीतियाँ मानते हैं। योग शास्त्र को मानने वाले भी भिन्न भिन्न रंगों के समूह रूप एक चित्र रूप को मानते हैं। भिन्न भिन्न प्रदेशों की अपेक्षा एक ही वस्तु में चल अचल, रक्त अरक्त, आवृत अनावृत आदि विरोधी धर्मों का ज्ञान होता ही है, इसलिए इसमें विरोध दोष नहीं लग सकता। वैयधिकरण्य दोष भी नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद का अधिकरण भिन्न भिन्न नहीं है। एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से दोनों का अधिकरण है। अनवस्था भी नहीं है, क्योंकि पर्याय रूप से किसी अलग भेद की कल्पना नहीं होती, पर्याय ही भेद है। इसी प्रकार द्रव्य रूप से किसी अभेद की कल्पना नहीं होती किन्तु द्रव्य ही अभेद है। अलग पदार्थों की कल्पना करने पर ही अनवस्था की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं। सङ्कर और व्यतिकर दोष भी नहीं हैं। जैसे कई रंगों वाली मेचकमणि में कई रंग प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी सामान्य विशेष विवक्षा करने पर किसी प्रकार दोष नहीं आता। जैसे वहाँ प्रतिभास होने के कारण उसे ठीक मान लिया जाता है इसी प्रकार यहाँ भी ठीक मान लेना चाहिए। संशय वहीं होता है जहाँ किसी प्रकार का निश्चय न हो। यहाँ दोनों कोटियों का निश्चय होने के कारण संशय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वस्तु का सम्यक् ज्ञान होने पर अप्रतिपत्ति दोष भी नहीं लगता। इसलिए स्याद्वाद में कोई दोष नहीं है।

(प्रमाण मीमांसा अध्याय १ आह्निक १ सूत्र ३२)

५९५– आठ वचन विभक्तियाँ

बोलकर या लिखकर भाव प्रकट करने में क्रिया और नाम

का मुख्य स्थान है। क्रिया के विना यह नहीं व्यक्त किया जा सकता कि क्या हो रहा है और नाम या प्रातिपदिक के विना यह नहीं बताया जा सकता कि क्रिया कहाँ, कैसे, किस के द्वारा और किस के लिए हो रही है।

क्रिया का ज्ञान हो जाने के बाद यह जानने की इच्छा होती है कि क्रिया का करने वाला वही है जो बोल रहा है, या जो सुन रहा है या इन दोनों के सिवाय कोई तीसरा है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि क्रिया को करने वाला एक है, दो हैं या उससे अधिक हैं। इन सब जिज्ञासाओं को पूरा करने के लिए क्रिया के साथ कुछ चिह्न जोड़ दिए जाते हैं जो इन सब का विभाग कर देते हैं। इसीलिये उन्हें विभक्ति कहा जाता है। संस्कृत में क्रिया के आगे लगने वाली अठारह विभक्तियाँ हैं। तीन पुरुषों में प्रत्येक का एक वचन, द्विवचन और बहुवचन। इस तरह नौ आत्मनेपद और नौ परस्मैपद। हिन्दी में द्विवचन नहीं होता। आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद भी नहीं है। इस लिए छः ही रह जाती हैं।

नाम अर्थात् प्रातिपदिक के लिए भी यह जानने की इच्छा होती है, क्रिया किसने की, क्रिया किस को लक्ष्य करके हुई, उसमें कौन सी वस्तु साधन के रूप में काम लाई गई, किसके लिए हुई इत्यादि। इन सब बातों की जानकारी के लिए नाम से आगे लगने वाली आठ विभक्तियाँ हैं। संस्कृत में सात ही हैं। सम्बोधन का पहिली विभक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है।

इनका स्वरूप यहाँ क्रमशः लिखा जाता है-

(१) कर्ता- क्रिया के करने में जो स्वतन्त्र हो उसे कर्ता कहते हैं। जैसे राम जाता है, यहाँ राम कर्ता है। हिन्दी में कर्ता का चिह्न 'ने' है। वर्तमान और भविष्यत् काल में यह चिह्न नहीं लगता।

(२) कर्म- कर्ता क्रिया के द्वारा जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे राम पानी पीता है। यहाँ कर्ता पीना रूप क्रिया द्वारा पानी को प्राप्त करना चाहता है। इस लिए पानी कर्म है। इसका चिह्न है 'को'। यह भी बहुत जगह विना चिह्न के आता है।

(३) करण- क्रिया की सिद्धि में जो वस्तु बहुत उपयोगी हो, उसे करण कहते हैं। जैसे--राम ने गिलास से पानी पीया। यहाँ 'गिलास' पीने का साधन है। इसके चिह्न हैं- 'से' और 'के द्वारा'।

(४) सम्प्रदान- जिसके लिए क्रिया हो उसे सम्प्रदान कहते हैं। जैसे- राम के लिए पानी लाओ। यहाँ राम सम्प्रदान है। इसका चिह्न है 'के लिये'। संस्कृत में यह कारक मुख्य रूप से 'देना' अर्थ वाली क्रियाओं के योग में आता है। कई जगह हिन्दी में जहाँ सम्प्रदान आता है, संस्कृत में उस जगह कर्म कारक भी आजाता है। इनका सूक्ष्म विवेचन दोनों भाषाओं की व्याकरण पढ़ने से मालूम पड़ सकता है।

(५) अपादान- जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग होती हो वहाँ अपादान आता है। जैसे- वृक्ष से पत्ता गिरता है। यहाँ वृक्ष अपादान है। इसका चिह्न है 'से'।

(६) सम्बन्ध- जहाँ दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध बताया गया हो, उसे सम्बन्ध कहते हैं। जैसे राजा का पुरुष। इसके चिह्न हैं 'का, के, की'। संस्कृत में इसे कारक नहीं माना जाता, क्योंकि इसका क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७) अधिकरण- आधार को अधिकरण कहते हैं। जैसे मेज पर किताब है, यहाँ मेज। इसके चिह्न हैं 'में, पे, पर'।

(८) सम्बोधन- किसी व्यक्ति को दूर से बुलाने में सम्बोधन विभक्ति आती है। जैसे हे राम! यहाँ आओ। इसके चिह्न

'हे, अरे, ओ' इत्यादि हैं। विना चिह्न के भी इसका प्रयोग होता है।

हिन्दी में सम्बोधन सहित आठ कारक माने जाते हैं। संस्कृत में सम्बोधन और सम्बन्ध को छोड़ कर छः। अंग्रेजी में इन्हें केस कहते हैं। केस तीन ही हैं- कर्ता, कर्म और सम्बन्ध। बाकी कारकों का काम अव्यय पद (Preposition) जोड़ने से चलता है।

(वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी कारक प्रकरण) (अनुयोगद्वार) (ठाणांग, सूत्र ६०६)

५६६- गण आठ

काव्य में छन्दों का लक्षण वताने के लिए तीन तीन मात्राओं के आठ गण होते हैं। इनके स्वरूप और भेद इसी पुस्तक के प्रथम भाग बोल नं० २१३ में दे दिये गए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं- १ मगण (SSS) २ नगण (|||) ३ भगण (S||) ४ यगण (|SS) ५ जगण (|S|) ६ रगण (S|S) ७ सगण (||S) ८ तगण (SS|)। 'S' यह चिह्न गुरु का है और '|' लघु का।

गणों का भेद जानने के लिए नीचे लिखा श्लोक उपयोगी है-

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोन्तलघुस्तः

अर्थात्- मगण में तीनों गुरु होते हैं और नगण में तीनों लघु। भगण में पहला अक्षर गुरु होता है और यगण में पहला लघु। जगण में मध्यमाक्षर गुरु होता है और रगण में लघु। सगण में अन्तिम अक्षर गुरु होता है और तगण में अन्तिम लघु।

(पिंगल) (छन्दोमञ्जरी)

५६७- स्पर्श आठ

(१) कर्कश- पत्थर जैसा कठोर स्पर्श कर्कश कहलाता है।
(२) मृदु- मक्खन की तरह कोमल स्पर्श मृदु कहलाता है।
(३) लघु- जो हल्का हो उसे लघु कहते हैं।
(४) गुरु- जो भारी हो वह गुरु कहलाता है।

(५) स्निग्ध– चिकना स्पर्श स्निग्ध कहलाता है।
(६) रूक्ष– रूखे पदार्थ का स्पर्श रूक्ष कहलाता है।
(७) शीत– ठण्डा स्पर्श शीत कहलाता है।
(८) उष्ण– अग्नि की तरह उष्ण (गर्म) स्पर्श को उष्ण कहते हैं। (ठाणांग ८, सूत्र ५९६) (पन्नवणा पद २३ वा उ० २)

५९८– दर्शन आठ

वस्तु के सामान्य प्रतिभास को दर्शन कहते हैं। ये आठ हैं–
(१) सम्यग्दर्शन– यथार्थ प्रतिभास को सम्यग्दर्शन कहते हैं।
(२) मिथ्यादर्शन– मिथ्या अर्थात् विपरीत प्रतिभास को मिथ्यादर्शन कहते हैं।
(३) सम्यग् मिथ्यादर्शन–कुछ सत्य और कुछ मिथ्या प्रतिभास को सम्यग् मिथ्यादर्शन कहते हैं।
(४) चक्षुदर्शन (५) अचक्षुदर्शन (६) अवधिदर्शन (७) केवलदर्शन। इन चारों का स्वरूप प्रथम भाग के बोल नं० १९९ में दे दिया गया है।
(८) स्वप्नदर्शन– स्वप्न में कल्पित वस्तुओं को देखना।

(ठाणांग, सूत्र ६१८)

५९९– वेदों का अल्प बहुत्व आठ प्रकार से

संख्या में कौन किससे कम है और कौन किससे अधिक है, यह बताने को अल्पबहुत्व कहते हैं। जीवाभिगम सूत्र में यह आठ प्रकार का बताया गया है।
(१) तिर्यञ्चयोनि के स्त्री पुरुष और नपुंसकों की अपेक्षा से– तिर्यञ्च योनि के पुरुष सब से थोड़े हैं, तिर्यञ्च योनि की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी अधिक हैं, नपुँसक उनसे अनन्तगुणे हैं।
(२) मनुष्य गति के पुरुष, स्त्री और नपुंसकों की अपेक्षा से– सब से कम मनुष्य पुरुष हैं, मनुष्य स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी

तथा मनुष्य नपुँसक उनसे असंख्यात गुणे हैं।

(३) औपपातिक जन्म वालों अर्थात् देव स्त्री पुरुष और नारक नपुँसकों की अपेक्षा से- नरक गति के नपुँसक सब से थोड़े हैं। देव उनसे असंख्यातगुणे तथा देवियाँ देवों से संख्यातगुणी।

(४) चारों गतियों के स्त्री पुरुष और नपुँसकों की अपेक्षा से- मनुष्य पुरुष सब से कम हैं, मनुष्य स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी, मनुष्य नपुँसक उनसे असंख्यातगुणे। नारकी नपुँसक उनसे असंख्यातगुणे, तिर्यश्चयोनि के पुरुष उनसे असंख्यागुणे, तिर्यश्च योनि की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी, देव पुरुष उनसे असंख्यात-गुणे, देवियाँ उनसे संख्यातगुणी, तिर्यश्चयोनि के नपुँसक उनसे अनन्तगुणे।

(५) जलचर, स्थलचर और खेचर तथा एकेन्द्रियादि भेदों की अपेक्षा से- खेचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के पुरुष सब से कम हैं। खेचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि की स्त्रियाँ उनसे संख्यात-गुणी हैं। स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं, स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी, जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के पुरुष उनसे संख्यातगुणे, तथा स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी हैं। खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के नपुँसक उनसे असंख्यातगुणे, स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के नपुँसक उनसे संख्यातगुणे, जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यश्चयोनि के नपुँसक उनसे संख्यातगुणे, चतुरिन्द्रिय तिर्यश्च उनसे कुछ अधिक हैं, त्रीन्द्रिय उनसे विशेषाधिक हैं तथा बेइन्द्रिय उनसे विशेषाधिक हैं। उनकी अपेक्षा तेउकाय के तिर्यश्चयोनिक नपुँसक असंख्यातगुणे हैं, पृथ्वीकाय के नपुँसक उनसे विशेषा-धिक, अप्काय के उनसे विशेषाधिक, वायुकाय के उनसे विशेषा-धिक, वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय नपुँसक उनसे अनन्तगुणे हैं।

(६) कर्मभूमिज आदि मनुष्य, स्त्री, पुरुष तथा नपुँसकों की अपेक्षा से– अन्तर्द्वीपों की स्त्रियाँ और पुरुष सब से कम हैं। युगल के रूप में उत्पन्न होने से स्त्री और पुरुषों की संख्या वहाँ बराबर ही है। देवकुरु और उत्तरकुरु रूप अकर्मभूमियों के स्त्री पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं। स्त्री और पुरुषों की संख्या वहाँ भी बराबर ही है। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के स्त्री पुरुष उनसे संख्यातगुणे तथा हैमवत और हैरण्यवत के उनसे संख्यातगुणे हैं। युगलिए होने के कारण स्त्री और पुरुषों की संख्या इनमें भी बराबर ही है। भरत और ऐरावत के कर्मभूमिज पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं, लेकिन आपस में बराबर हैं। दोनों क्षेत्रों की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी (सत्ताईस गुणी) हैं। आपस में ये बराबर हैं। पूर्वविदेह और अपरविदेह के कर्मभूमिज पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं। स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी अर्थात् सत्ताईसगुणी हैं। अन्तर्द्वीपों के नपुँसक उनसे असंख्यातगुणे हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु के नपुँसक उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के नपुंसक उनसे संख्यातगुणे तथा हैमवत और हैरण्यवत के उनसे संख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा भरत और ऐरावत के नपुँसक संख्यातगुणे हैं तथा पूर्व और पश्चिमविदेह के उनसे संख्यातगुणे हैं।

(७) भवनवासी आदि देव और देवियों की अपेक्षा से– अनुत्तरौपपातिक के देव सब से कम हैं। इसके बाद ऊपर के ग्रैवेयक, बीच के ग्रैवेयक, नीचे के ग्रैवेयक, अच्युत, आरण, प्राणत और आनतकल्प के देव क्रमशः संख्यातगुणे हैं। इनके बाद सातवीं पृथ्वी के नारक, छठी पृथ्वी के नारक, सहस्रार कल्प के देव, महाशुक्र कल्प के देव, पाँचवीं पृथ्वी के नारक, लान्तक कल्प के देव, चौथी पृथ्वी के नारक, ब्रह्मलोक कल्प

के देव, तीसरी पृथ्वी के नारक, माहेन्द्र कल्प के देव, सनत्कुमार कल्प के देव और दूसरी पृथ्वी के नारक क्रमशः असंख्यात गुणे हैं। ईशानकल्प के देव उनसे असंख्यातगुणे हैं। ईशानकल्प की देवियाँ उनसे संख्यातगुणी अर्थात् बत्तीसगुणी हैं। सौधर्म कल्प के देव उनसे संख्यातगुणे हैं। स्त्रियाँ उनसे संख्यात अर्थात् बत्तीसगुणी। भवनवासी देव उनसे असंख्यातगुणे हैं, स्त्रियाँ उनसे संख्यात अर्थात् बत्तीसगुणी। रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक उनसे असंख्यातगुणे हैं। वाणव्यन्तर देव पुरुष उनसे असंख्यातगुणे हैं, स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी। ज्योतिषी देव उनसे संख्यातगुणे तथा ज्योतिषी देवियाँ उनसे बत्तीसगुणी हैं।

(८) सभी जाति के भेदों का दूसरों की अपेक्षा से— अन्तर्द्वीपों के मनुष्य स्त्री पुरुष सब से थोड़े हैं। देवकुरु उत्तरकुरु, हरिवर्ष रम्यकवर्ष, हैमवत हैरण्यवत के स्त्री पुरुष उनसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं। भरत और ऐरावत के पुरुष संख्यातगुणे हैं, भरत और ऐरावत की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी, पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह के पुरुष उनसे संख्यातगुणे तथा स्त्रियाँ पुरुषों से संख्यातगुणी हैं। इसके बाद अनुत्तरोपपातिक, ऊपर के ग्रैवेयक, बीच के ग्रैवेयक, नीचे के ग्रैवेयक, अच्युतकल्प, आरणकल्प, प्राणतकल्प और आनतकल्प के देव उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं। उनके बाद सातवीं पृथ्वी के नारक, छठी पृथ्वी के नारक, सहस्रार कल्प के देव, महाशुक्र कल्प के देव, पाँचवीं पृथ्वी के नारक, लान्तक कल्प के देव, चौथी पृथ्वी के नारक, ब्रह्मलोक कल्प के देव, तीसरी पृथ्वी के नारक, माहेन्द्र कल्प के देव, सनत्कुमार कल्प के देव, दूसरी पृथ्वी के नारक, अन्तर्द्वीप के नपुंसक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं। देवकुरु उत्तरकुरु, हरिवर्ष रम्यकवर्ष, हैमवत हैरण्यवत, भरत ऐरावत, पूर्वविदेह पश्चिम-

विदेह के नपुंसक मनुष्य उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं। ईशानकल्प के देव उनसे संख्यात गुणे हैं। इसके बाद ईशानकल्प की देवियाँ, सौधर्म कल्प के देव और सौधर्म कल्प की देवियाँ उत्तरोत्तर संख्यातगुणी हैं। भवनवासी देव उनसे असंख्यात गुणे हैं। भवनवासी देवियाँ उनसे संख्यात गुणी। रत्नप्रभा के नारक उनसे असंख्यातगुणे हैं। इनके बाद खेचर तिर्यञ्च योनि के पुरुष, खेचर तिर्यञ्चयोनि की स्त्रियाँ, स्थलचर तिर्यञ्चयोनि के पुरुष, स्थलचर स्त्रियाँ, जलचर पुरुष, जलचर स्त्रियाँ, वाणव्यन्तर देव, वाणव्यन्तर देवियाँ, ज्योतिषी देव, ज्योतिषी देवियाँ उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है। खेचर तिर्यञ्च नपुंसक उनसे असंख्यात गुणे, स्थलचर नपुंसक उनसे संख्यातगुणे तथा जलचर उनसे संख्यातगुणे हैं। इसके बाद चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय नपुंसक उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। तेउकाय उनसे असंख्यातगुणी है। पृथ्वी, जल और वायु के जीव उनसे उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। वनस्पतिकाय के जीव उनसे अनन्तगुणे हैं, क्योंकि निगोद के जीव अनन्तानन्त हैं।

(जीवाभिगम प्रतिपत्ति २ सूत्र ६३)

६००– आयुर्वेद आठ

जिस शास्त्र में पूरी आयु को स्वस्थ रूप से बिताने का तरीका बताया गया हो अर्थात् जिस में शरीर को नीरोग और पुष्ट रखने का मार्ग बताया हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। इसका दूसरा नाम चिकित्सा शास्त्र है। इसके आठ भेद हैं–

(१) कुमारभृत्य– जिस शास्त्र में बच्चों के भरणपोषण, माँ के दूध वगैरह में कोई दोष हो, अथवा दूध के कारण बच्चे में कोई बीमारी हो तो उसे और दूसरे सब तरह के बालरोगों को दूर करने की विधि बताई हो।

(२) कायचिकित्सा–ज्वर, अतिसार, रक्त, शोथ, उन्माद, प्रमेह

और कुष्ठ आदि बीमारियों को दूर करने की विधि बताने वाला तंत्र।

(३) शालाक्य– गले से ऊपर अर्थात् कान, मुँह, आँख, नाक वगैरह की बीमारियाँ, जिन की चिकित्सा में सलाई की जरूरत पड़ती हो, उन्हें दूर करने की विधि बताने वाला शास्त्र।

(४) शल्यहत्या– शल्य अर्थात् कांटा वगैरह उनकी हत्या अर्थात् बाहर निकालने का उपाय बताने वाला शास्त्र। शरीर में तिनका, लकड़ी, पत्थर, धूल, लोह, हड्डी, नख आदि चीजों के द्वारा पैदा हुई किसी अङ्ग की पीड़ा को दूर करने के लिए भी यह शास्त्र है।

(५) जङ्गोली– विष को नाश करने की औषधियाँ बताने वाला शास्त्र। साँप, कीड़ा, मकड़ी वगैरह के विष को शान्त करने के लिए अथवा संखिया वगैरह विषों का असर दूर करने के लिए।

(६) भूतविद्या– भूत पिशाच वगैरह को दूर करने की विद्या बताने वाला शास्त्र। देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच, नाग आदि के द्वारा अभिभूत व्यक्ति की शान्ति और स्वस्थता के लिए उस विद्या का उपयोग होता है।

(७) क्षारतन्त्र– शुक्र अर्थात् वीर्य के क्षरण को क्षार कहते हैं। जिस शास्त्र में यह विषय हो उसे क्षारतन्त्र कहते हैं। सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इसे वाजीकरण कहा जाता है। उसका भी अर्थ यही है कि जिस मनुष्य का वीर्य क्षीण हो गया है उसे वीर्य बढ़ाकर हृष्ट पुष्ट बना देना।

(८) रसायन शास्त्र– रस अर्थात् अमृत की आयन अर्थात् प्राप्ति जिस से हो उसे रसायन कहते हैं, क्योंकि रसायन से वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती, बुद्धि और आयु की वृद्धि होती है और सभी तरह के रोग शान्त होते हैं। (ठाणांग, सूत्र ६११)

६०१– योगांग आठ

चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। अर्थात् चित्त की

चञ्चलता को दूर कर उसे किसी एक ही बात में लगाना या उसके व्यापार को एक दम रोक देना योग है। योग के आठ अङ्ग हैं। इनका क्रमशः अभ्यास करने से ही मनुष्य योग प्राप्त कर सकता है। वे इस प्रकार हैं–

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

(१) यम– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनका पालन करने से आत्मा दृढ़ तथा उन्नत होता है और मन संयत होता है।

(२) नियम– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और भगवान् की भक्ति ये नियम हैं। इनसे मन संयत होता है। इन दोनों के अभ्यास के बाद ही मनुष्य योग सीखने का अधिकारी होता है। जो व्यक्ति चञ्चल मन वाला, विषयों में गृद्ध तथा अनियमित आहार विहार वाला है वह योग नहीं सीख सकता।

(३) आसन– आरोग्य तथा मन की स्थिरता के लिए शरीर के व्यायाम विशेष को आसन कहते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि जितने प्राणी हैं उतने ही आसन हैं। इसलिए उनकी निश्चित संख्या नहीं बताई जा सकती। कई पुस्तकों में चौरासी योगासन दिए हैं। कहीं कहीं बत्तीस मुख्य बताए हैं। यहाँ हेम-चन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र में बताए गए योग के उपयोगी कुछ आसनों का स्वरूप दिया जाता है।

(क) पर्यङ्कासन– दोनों पैर घुटनों के नीचे हों, हाथ नाभि के पास हों, बाएं हाथ पर दाहिना हाथ उत्तान रक्खा हो तो उसे पर्यङ्कासन कहते हैं। भगवान् महावीर का निर्वाण के समय यही आसन था। पतञ्जलि के मत से हाथों को घुटनों तक फैलाकर सोने का नाम पर्यङ्कासन है।

(ख) वीरासन– बायाँ पैर दक्षिण जंघा पर और दक्षिण पैर बाईं जंघा पर रखने से वीरासन होता है। हाथों को इसमें भी पर्यङ्कासन की तरह रखना चाहिए। इसको पद्मासन भी कहा जाता है। एक ही पैर को जंघा पर रखने से अर्द्धपद्मासन होता है। अगर इसी अवस्था में पीछे से ले जाकर दाँए हाथ से बायाँ अङ्गूठा तथा बाएँ हाथ से दायाँ अङ्गूठा पकड़ ले तो वह बद्धपद्मासन हो जाता है।

(ग) वज्रासन– बद्धपद्मासन को ही वज्रासन कहते हैं। यह वेतालासन भी कहा जाता है।

(घ) वीरासन– कुर्सी पर बैठे हुए व्यक्ति के नीचे से कुर्सी खींच ली जाय तो उसे वीरासन कहा जाता है। वीरासन का यह स्वरूप कायक्लेश रूप तप के प्रकरण में आया है। पतञ्जलि के मत से एक पैर पर खड़ा रहने का नाम वीरासन है।

(ङ) पद्मासन– दक्षिण या वाम जंघा का दूसरी जंघा से सम्बन्ध होना पद्मासन है।

(च) भद्रासन– पैर के तलों को सम्पुट करके हाथों को कछुए के आकार रखने से भद्रासन होता है।

(छ) दण्डासन– जमीन पर उल्टा लेटने को दण्डासन कहते हैं। इसमें अङ्गुलियाँ, पैर के गट्टे और जंघाएं भूमि को छूते रहने चाहियें।

(ज) उत्कटिकासन– पैर के तले तथा एड़ी जमीन पर लगे रहें तो उसे उत्कटिकासन कहते हैं। इसी आसन से बैठे हुए भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था।

(झ) गोदोहनासन– अगर एड़ी उठाकर सिर्फ पंजों पर बैठा जाय तो गोदोहनासन हो जाता है। पडिमाधारी साधु तथा श्रावकों के लिए इसका विधान किया गया है।

(ञ) कायोत्सर्गासन– खड़े होकर या बैठकर कायोत्सर्ग करने

में जो आसन लगाया जाता है उसे कायोत्सर्गासन कहते हैं। खड़े होकर करने में बाहुएं लम्बी रहती हैं। जिनकल्पी और छद्मस्थ अवस्था में तीर्थङ्करों का ध्यान खड़े खड़े ही होता है। स्थविरकल्पियों का दोनों तरह से होता है। विशेष अवस्था में लेटे हुए भी कायोत्सर्ग होता है। यहाँ थोड़े से आसन बताए गए हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से हैं– आम की तरह ठहरने को आम्रकुब्जासन कहते हैं। इसी आसन से बैठ कर भगवान् ने एकरात्रिकी प्रतिमा अङ्गीकार की थी। उसी आसन में संगम के उपसर्गों को सहा था। मुँह ऊपर की तरफ, नीचे की तरफ या तिर्छा करके एक ही पसवाड़े से सोना। डण्डे की तरह जंघा, घुटने, हाथ वगैरह फैलाकर बिना हिले डुले सोना। सिर्फ मस्तक और एड़ियों से जमीन को छूते हुए बाकी सब अङ्गों को अधर रखकर सोना। समसंस्थान अर्थात् एड़ी और पंजों को संकुचित करके एक दूसरे के द्वारा दोनों को पीड़ित करना। दुर्योधासन अर्थात् सिर को जमीन पर रखते हुए पैरों को ऊपर ले जाना। इसी को कपालीकरण या शीर्षासन भी कहा जाता है। शीर्षासन करते हुए अगर पैरों से पद्मासन लगा ले तो वह दण्डपद्मासन हो जाता है। बाएँ पैर को संकुचित कर के दाएं ऊरु और जंघा के बीच में रक्खे और दाएं पैर को संकुचित करके बाएँ ऊरु और जंघा के बीच में रक्खे तो स्वस्तिकासन हो जाता है। इसी तरह क्रौञ्च, हंस, गरुड़ आदि के बैठने की तरह अनेक आसन हो सकते हैं।

जिस व्यक्ति का जिस आसन से मन स्थिर रहता है, योग-सिद्धि के लिए वही आसन अच्छा माना गया है। योगसाधन के लिए आसन करते समय नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए। ऐसे आसन से बैठे जिस में अधिक से अधिक देर तक बैठने पर भी कोई अङ्ग न दुखे। अङ्ग दुखने से मन

चञ्चल हो जायगा। ओठ बिल्कुल बन्द हों। दृष्टि नाक के अग्रभाग पर जमी हो। ऊपर के दान्त नीचे वालों को न छूते हों। प्रसन्न मुख से पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुँह करके प्रमाद रहित होते हुए अच्छे संस्थान वाला ध्याता ध्यान में उद्यत हो।

(४) प्राणायाम– योग का चौथा अङ्ग प्राणायाम है। प्राण अर्थात् श्वास के ऊपर नियंत्रण करने को प्राणायाम कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन बोल संग्रह के द्वितीय भाग, प्राणायाम सात बोल नं० ५५६ में दे दिया गया है।

(५) प्रत्याहार– योग का पाँचवां अङ्ग प्रत्याहार है। इस का अर्थ है इकट्ठा करना। मन की बाहर जाने वाली शक्तियों को रोकना और उसे इन्द्रियों की दासता से मुक्त करना। जो व्यक्ति अपने मन को इच्छानुसार इन्द्रियों में लगा या उनसे अलग कर सकता है वह प्रत्याहार में सफल है। इसके लिए नीचे लिखे अनुसार अभ्यास करना चाहिए।

कुछ देर के लिए चुपचाप बैठ जाओ और मन को इधर उधर दौड़ने दो। मन में प्रतिक्षण ज्वार सा आया करता है। यह पागल बन्दर की तरह उचकने लगता है। इसे उचकने दो। चुपचाप बैठे इसका तमाशा देखते जाओ। जब तक यह अच्छी तरह न जान लिया जाय कि मन किधर जाता है, वह वश में नहीं होता। मन को इस तरह स्वतन्त्र छोड़ देने से भयंकर से भयंकर विचार उठेंगे। उन्हें देखते रहना चाहिए। कुछ दिनों बाद मन की उछल कूद अपने आप कम होने लगेगी और अन्त में वह बिल्कुल थक जायगा। रोज अभ्यास करने से इसमें सफलता मिल सकती है। इस प्रकार अभ्यास द्वारा मन को वश में करना प्रत्याहार है।

(६) धारणा–धारणा का अर्थ है मन को दूसरी जगह से हटा

कर शरीर के किसी स्थलविन्दु पर लगाना। जैसे- बाकी सब अङ्गों को भूलकर सारा ध्यान हाथ, पैर या और किसी अङ्ग पर जमा लेना। इस तरह ध्यान जमाने का अभ्यास हो जाने से शरीर के किसी भी अङ्ग की बीमारी दूर की जा सकती है।

धारणा कई प्रकार की होती है। इसके साथ थोड़ी कल्पना का सहारा ले लेना अच्छा होता है। जैसे मन से हृदय में एक बिन्दु का ध्यान करना। यह बहुत कठिन है। सरलता के लिए किसी कमल या प्रकाश पुञ्ज वगैरह की कल्पना की जा सकती है। इसी तरह मस्तिष्क में कमल की कल्पना या सुषुम्ना नाड़ी में शक्ति और कमल आदि की कल्पना की जाती है।

(७) ध्यान- योग का सातवाँ अङ्ग ध्यान है। बहुत देर तक चित्त को किसी एक ही बात के सोचने में लगाए रखना ध्यान है। ध्यान में चित्त की लहरें बिल्कुल बन्द हो जाती हैं। बारह सेकण्ड तक चित्त एक स्थान पर रहे तो वह धारणा है। बारह धारणाओं का एक ध्यान होता है। ध्यान के चार भेद और उनकी व्याख्या इसी ग्रन्थ के पहले भाग बोल नं २१५ में है।

(८) समाधि- बारह ध्यानों की एक समाधि होती है। इसके दो भेद हैं- सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। मन से किसी अच्छी बात का ध्यान करना और उसी वस्तु पर बहुत देर तक मन को टिकाए रखना सम्प्रज्ञात समाधि है। मन में कुछ न सोचना और इसी तरह बहुत देर तक मन के व्यापार को बन्द रखना असम्प्रज्ञात समाधि है।

योगाभ्यास करने के लिए योगी को हमेशा अभ्यास करना चाहिए। एकान्त में रहना चाहिए। आहार विहारादि नियमित रखना तथा इन्द्रिय विषयों से सदा अलग रहना चाहिए। तभी क्रमशः यम नियमादि का साधन करते हुए असम्प्रज्ञातावस्था

तक पहुँच सकता है।

योग से तरह तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उनके प्रलोभन में न पड़कर अगर मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाया जाय तो इसी तरह अभ्यास करते करते अन्त में मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

(योगशास्त्र, हेमचन्द्राचार्य ४–५ प्रकाश) (राजयोग, स्वामी विवेकानन्द)

६०२– छद्मस्थ आठ बातें नहीं देख सकता

नीचे लिखी आठ बातों को सम्पूर्णरूप से छद्मस्थ देख या जान नहीं सकता। (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) शरीर रहित जीव (५) परमाणुपुद्गल (६) शब्द (७) गन्ध और (८) वायु।

(ठाणांग, सूत्र ६१०)

६०३– चित्त के आठ दोष

चित्त के नीचे लिखे आठ दोष ध्यान में विघ्न करते हैं तथा कार्यसिद्धि के प्रतिबन्धक हैं। इसलिए उन्नतिशील व्यक्ति को इन से दूर रहना चाहिए।

दोषो ग्लानिरनुष्ठितौ प्रथम उद्वेगो द्वितीयस्तथा।
स्याद्भ्रान्तिश्च तृतीयकश्चपलतोत्थानं चतुर्थो मतः॥
क्षेपः स्यान्मनसः क्रियान्तरगतिर्मुक्त्वा प्रवृत्तक्रिया–
मासङ्गः प्रकृतक्रियारतिरतो दुर्लक्ष्यतोर्ध्वं पुनः॥ १॥
तत्कालोचितवर्तनेऽरुचिरथो रागश्च कालान्तर–
कर्तव्येऽन्यमुदाह्वयो निगदितो दोषः पुनः सप्तमः॥
उच्छेदः सदनुष्ठिते रुगभिधो दोषोऽष्टमो गद्यते।
ध्याने विघ्नकरा इमेऽष्ट मनसो दोषा विमोच्याः सदा॥२॥

(१) ग्लानि– धार्मिक अनुष्ठान में ग्लानि होना चित्त का पहला दोष है।

(२) उद्वेग– काम करते हुए चित्त में उद्वेग अर्थात् उदासी रहना, उत्साह का न होना दूसरा दोष है।
(३) भ्रान्ति– चित्त में भ्रान्ति रहना अर्थात् कुछ का कुछ समझ लेना भ्रान्ति नाम का तीसरा दोष है।
(४) उत्थान– किसी एक कार्य में मन का स्थिर न होना, चञ्चलता बनी रहना उत्थान नाम का चौथा दोष है।
(५) क्षेप– प्रारम्भ किए हुए कार्य को छोड़ कर नए नए कार्यों की तरफ मन का दौड़ना क्षेप नाम का पाँचवा दोष है।
(६) आसंग– किसी एक बात में लीन होकर सुध बुध खो बैठना आसंग नाम का छठा दोष है।
(७) अन्यमुद्– अवसर प्राप्त कार्य को छोड़ कर और और कामों में लगे रहना अन्यमुद् नाम का सातवाँ दोष है।
(८) रुक्– कार्य को प्रारम्भ करके छोड़ देना रुक् नाम का आठवाँ दोष है। (कर्तव्य कौमुदी भाग २ श्लोक १६०-१६१)

६०४– महाग्रह आठ

जिन के अनुकूल और प्रतिकूल होने से मनुष्य तथा तिर्यञ्चों को शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है उन्हें महाग्रह कहते हैं। ये आठ हैं– (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) शुक्र (४) बुध (५) बृहस्पति (६) अंगार (मंगल) (७) शनैश्चर (८) केतु। (ठाणांग, सूत्र ६१२)

६०५– महानिमित्त आठ

भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के जो पदार्थ इन्द्रियों के विषय नहीं हैं उन्हें जानने में हेतु भूत बातें निमित्त कहलाती हैं। उन बातों को बताने वाले शास्त्र भी निमित्त कहलाते हैं। सूत्र, वार्तिक आदि के भेद से प्रत्येक शास्त्र लाखों श्लोक परिमाण हो जाता है। इस लिये यह महानिमित्त कहलाता है। महा-

निमित्त के आठ भेद हैं- (१) भौम (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) आन्तरिक्ष (५) अङ्ग (६) स्वर (७) लक्षण (८) व्यञ्जन।

(१) भौम- भूमि में किसी तरह की हलचल या और किसी लक्षण से शुभाशुभ जानना। जैसे- जब पृथ्वी भयङ्कर शब्द करती हुई काँपती है तो सेनापति, प्रधानमन्त्री, राजा और राज्य को कष्ट होता है।

(२) उत्पात- रुधिर या हड्डी वगैरह की वृष्टि होना। जैसे- जहाँ चर्बी, रुधिर, हड्डी, धान्य, अङ्गारे या पीप की वृष्टि होती है वहाँ चारों तरह का भय है।

(३) स्वप्न- अच्छे या बुरे स्वप्नों से शुभाशुभ बताना। जैसे- स्वप्न में देव, यज्ञ, पुत्र, बन्धु, उत्सव, गुरु, छत्र और कमल का देखना; प्राकार, हाथी, मेघ, वृक्ष, पहाड़ या प्रासाद पर चढ़ना; समुद्र को तैरना; सुरा, अमृत, दूध और दही का पीना; चन्द्र और सूर्य का मुख में प्रवेश तथा मोक्ष में बैठा हुआ अपने को देखना; ये सभी स्वप्न शुभ हैं अर्थात् अच्छा फल देने वाले हैं। जो व्यक्ति स्वप्न में लाल रंग वाले मूत्र या पुरीष करता है और उसी समय जग जाता है, उसे अर्थहानि होती है। यह अशुभ है।

(४) आन्तरिक्ष- आकाश में होने वाले निमित्त को आन्तरिक्ष कहते हैं। यह कई तरह का है- ग्रहवेध अर्थात् एक ग्रह में से दूसरे ग्रह का निकल जाना। भूताट्टहास अर्थात् आकाश में अचानक अव्यक्त शब्द सुनाई पड़ना। गन्धर्वनगर अर्थात् सन्ध्या के समय बादलों में हाथी घोड़े वगैरह की बनावट। पीले गन्धर्वनगर से धान्य का नाश जाना जाता है। मञ्जीठ के रंग वाले से गौओं का हरण। अव्यक्त (धुंधला) वर्ण वाले से बल या सेना का क्षोभ अर्थात् अशान्ति। अगर सौम्या (पूर्व) दिशा में स्निग्ध प्राकार तथा तोरण वाला गन्धर्वनगर हो

तो वह राजा की विजय का सूचक है।

(५) अङ्ग– शरीर के किसी अङ्ग के स्फुरण वगैरह से शुभाशुभ निमित्त का जानना। पुरुष के दक्षिण तथा स्त्री के वाम अङ्गों का स्फुरण शुभ माना गया है। अगर सिर में स्फुरण (फड़कन) हो तो पृथ्वी की प्राप्ति होती है, ललाट में हो तो पद वृद्धि होती है, इत्यादि।

(६) स्वर– षड्जादि सात स्वरों से शुभाशुभ बताना। जैसे– षड्ज स्वर से मनुष्य आजीविका प्राप्त करता है, किया हुआ काम विगड़ने नहीं पाता, गौएं मित्र तथा पुत्र प्राप्त होते हैं। वह स्त्रियों का वल्लभ होता है। अथवा पक्षियों के शब्द से शुभाशुभ जानना। जैसे–श्यामा का चिलिचिलि शब्द पुण्य अर्थात् मंगल रूप होता है। सूलिसूलि धन देने वाला होता है। चेरीचेरी दीप्त तथा 'चिकुत्ती' लाभ का हेतु होता है।

(७) लक्षण– स्त्री पुरुषों के रेखा या शरीर की बनावट वगैरह से शुभाशुभ बताना लक्षण है। जैसे– हड्डियों से जाना जाता है कि यह व्यक्ति धनवान होगा। मांसल होने से सुखी समझा जाता है। शरीर का चमड़ा प्रशस्त होने से विलासी होता है। आंखें सुन्दर होने से स्त्रियों का वल्लभ, ओजस्वी तथा गम्भीर शब्द वाला होने से हुक्म चलाने वाला तथा शक्तिसम्पन्न होने से सब का स्वामी समझा जाता है।

शरीर का परिमाण वगैरह लक्षण हैं तथा मसा वगैरह व्यञ्जन हैं। अथवा लक्षण शरीर के साथ उत्पन्न होता है और व्यञ्जन बाद में उत्पन्न होता है। निशीथ सूत्र में पुरुष के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं- साधारण मनुष्यों के बत्तीस, बलदेव और वासुदेवों के एक सौ आठ, चक्रवर्ती और तीर्थङ्करों के एक हजार आठ लक्षण हाथ पैर वगैरह में होते हैं। जो मनुष्य

सरल स्वभाव, पराक्रमी, ज्ञानी या दूसरे विशेष गुणों वाले होते हैं उनमें उतने लक्षण अधिक पाए जाते हैं।

(८) व्यञ्जन–मसा वगैरह। जैसे– जिस स्त्री की नाभि से नीचे कुंकुम की बूंद के समान मसा या कोई लक्षण हो तो वह अच्छी मानी गई है। (ठाणांग, सूत्र ६०८) (प्रवचनसारोद्धार गा० १५०६ द्वार २५७)

६०६– प्रयत्नादि के योग्य आठ स्थान

नीचे लिखी आठ बातें अगर प्राप्त न हों तो प्राप्त करने के लिए कोशिश करनी चाहिए। अगर प्राप्त हों तो उनकी रक्षा के लिए अर्थात् वे नष्ट न हों, इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। शक्ति न हो तो भी उनके पालन में लगे रहना चाहिए तथा दिन प्रतिदिन उत्साह बढ़ाते जाना चाहिए।

(१) शास्त्र की जिन बातों को या जिन सूत्रों को न सुना हो उन्हें सुनने के लिए उद्यम करना चाहिए।

(२) सुने हुए शास्त्रों को हृदय में जमाकर उनकी स्मृति को स्थायी बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(३) संयम द्वारा पाप कर्म रोकने की कोशिश करनी चाहिए।

(४) तप के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करते हुए आत्मविशुद्धि के लिए यत्न करना चाहिए।

(५) नए शिष्यों का संग्रह करने के लिए कोशिश करनी चाहिए।

(६) नए शिष्यों को साधु का आचार तथा गोचरी के भेद अथवा ज्ञान के पाँच प्रकार और उनके विषयों को सिखाने में प्रयत्न करना चाहिए।

(७) ग्लान अर्थात् बीमार साधु की उत्साह पूर्वक वैयावच्च करने के लिए यत्न करना चाहिए।

(८) साधर्मियों में विरोध होने पर राग द्वेष रहित होकर अथवा आहारादि और शिष्यादि की अपेक्षा से रहित होकर बिना

किसी का पक्ष लिए मध्यस्थभाव रक्खे। दिल में यह भावना करे कि किस तरह ये सब साधर्मिक जोर जोर से बोलना, असम्बद्ध प्रलाप तथा तू तू मैं मैं वाले शब्द छोड़ कर शान्त, स्थिर तथा प्रेम वाले हों। हर तरह से उनका कलह दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। (ठाणांग, सूत्र ६४९)

६०७- रुचक प्रदेश आठ

रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर तिर्यक् लोक के मध्य भाग में एक राजु परिमाण आयाम विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई) वाले आकाश प्रदेशों के दो प्रतर हैं। वे प्रतर सब प्रतरों से छोटे हैं। मेरु पर्वत के मध्य प्रदेश में इनका मध्यभाग है। इन दोनों प्रतरों के बीचोबीच गोस्तनाकार चार चार आकाश प्रदेश हैं। ये आठों आकाश प्रदेश जैन परिभाषा में रुचक प्रदेश कहे जाते हैं। ये ही रुचक प्रदेश दिशा और विदिशाओं की मर्यादा के कारणभूत हैं।

(आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्ययन १ उद्देशा १ टीका)

उक्त आठों रुचक प्रदेश आकाशास्तिकाय के हैं। आकाशास्तिकाय के मध्यभागवर्ती होने से इन्हें आकाशास्तिकाय मध्य प्रदेश भी कहते हैं। आकाशास्तिकाय की तरह ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के मध्य भाग में भी आठ आठ रुचक प्रदेश रहे हुए हैं। इन्हें क्रमशः धर्मास्तिकाय मध्यप्रदेश और अधर्मास्तिकाय मध्यप्रदेश कहते हैं। जीव के भी आठ रुचक प्रदेश हैं जो जीव के मध्यप्रदेश कहलाते हैं। जीव के ये आठों रुचक प्रदेश सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रहते हैं। इन आठ प्रदेशों के साथ कभी कर्मबन्ध नहीं होता। भव्य, अभव्य सभी जीवों के रुचक प्रदेश सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों की तरह शुद्ध स्वरूप में रहते हैं। 'सभी जीव समान हैं' निश्चय नय का यह कथन इसी अपेक्षा से है। (आगमसार) (भग० श० ८ उ० ६) (ठाणांग ८, सूत्र ६२४)

६०८- पृथ्वियाँ आठ

(१) रत्नप्रभा (२) शर्कराप्रभा (३) वालुकाप्रभा (४) पंकप्रभा (५) धूमप्रभा (६) तमःप्रभा (७) तमस्तमःप्रभा (८) ईषत्प्राग्भारा। सात पृथ्वियों का वर्णन इसी के द्वितीय भाग सातवें बोल संग्रह बोल नं० ५६० में दिया गया है। ईषत्प्राग्भारा का स्वरूप इस प्रकार है- ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी सर्वार्थसिद्ध विमान की सब से ऊपर की थूभिका (स्तूपिका-चूलिका) के अग्रभाग से बारह योजन ऊपर अवस्थित है। मनुष्य क्षेत्र की लम्बाई चौड़ाई की तरह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी की लम्बाई चौड़ाई भी ४५ लाख योजन है। इसका परिक्षेप एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास (१४२३०२४९) योजन विशेषाधिक है। इस पृथ्वी के मध्य भाग में आठ योजन आयाम विष्कम्भ वाला क्षेत्र है, इसकी मोटाई भी आठ योजन ही है। इसके आगे ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी की मोटाई क्रमशः थोड़ी थोड़ी मात्रा में घटने लगती है। प्रति योजन मोटाई में अंगुलपृथक्त्व का ह्रास होता है। घटते घटते इस पृथ्वी के चरम भाग की मोटाई मक्खी के पंख से भी कम हो जाती है। यह पृथ्वी उत्तान छत्र के आकार रही हुई है। इसका वर्ण अत्यन्त श्वेत है एवं यह स्फटिक रत्न-मयी है। इस पृथ्वी के एक योजन ऊपर लोक का अन्त होता है। इस योजन के ऊपर के कोस का छठा भाग जो ३३३ धनुष और ३२ अंगुल परिमाण है वहीं पर सिद्ध भगवान् विराजते हैं।

(ठाणांग ८, सूत्र ६४८) (पन्नवणा पद २) (उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० ५६ से ६२)

६०९-ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के आठ नाम

(१) ईषत् (२) ईषत्प्राग्भारा (३) तन्वी (४) तनुतन्वी (५) सिद्धि (६) सिद्धालय (७) मुक्ति (८) मुक्तालय।

(१) ईषत्- रत्नप्रभादि पृथ्वियों की अपेक्षा ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी

छोटी है। इसलिए इसका नाम ईषत् है। अथवा पद के एक देश में पद समुदाय का उपचार कर ईषत्प्राग्भारा का नाम ईषत् रखा गया है।

(२) ईषत्प्राग्भारा– रत्नप्रभादि पृथ्वियों की अपेक्षा इसका उच्छ्राय (ऊँचाई) रूप प्राग्भार थोड़ा है, इसलिए इसका नाम ईषत्प्राग्भारा है।

(३) तन्वी–शेष पृथ्वियों की अपेक्षा छोटी होने से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तन्वी नाम से कही जाती है।

(४) तनुतन्वी– जगत्प्रसिद्ध तनु पदार्थों से भी अधिक तनु (पतली) होने से यह तनुतन्वी कहलाती है। मक्खी के पंख से भी इस पृथ्वी का चरम भाग अधिक पतला है।

(५) सिद्धि– सिद्धि क्षेत्र के समीप होने से इसका नाम सिद्धि है। अथवा यहाँ जाकर जीव सिद्ध, कृतकृत्य हो जाते हैं। इस लिए यह सिद्धि कहलाती है।

(६) सिद्धालय– सिद्धों का स्थान।

(७) मुक्ति–जहाँ जीव सकल कर्मों से मुक्त होते हैं वह मुक्ति है।

(८) मुक्तालय– मुक्त जीवों का स्थान।

(पन्नवणा पद २) (ठाणांग ८, सूत्र ६४८)

६१०– त्रस आठ

इच्छानुसार चलने फिरने की शक्ति रखने वाले जीवों को त्रस कहते हैं, अथवा बेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस कहते हैं। इनके आठ भेद हैं–

(१) अंडज– अंडे से पैदा होने वाले जीव, पक्षी आदि।

(२) पोतज– गर्भ से पोत अर्थात् कोथली सहित पैदा होने वाले जीव। जैसे हाथी वगैरह।

(३) जरायुज– गर्भ से जरायु सहित पैदा होने वाले जीव।

जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, मृग आदि । ये जीव जब गर्भ से बाहर आते हैं तब इनके शरीर पर एक झिल्ली रहती है, उसी को जरायु कहते हैं। उससे निकलते ही ये जीव चलने फिरने लगते हैं।
(४) रसज- दूध, दही, घी आदि तरल पदार्थ रस कहलाते हैं। उनके विकृत हो जाने पर उनमें पड़ने वाले जीव ।
(५) संस्वेदज- पसीने में पैदा होने वाले जीव। जूँ, लीख आदि।
(६) संमूर्छिम- शीत, उष्ण आदि के निमित्त मिलने पर आस पास के परमाणुओं से पैदा होने वाले जीव। मच्छर, पिपीलिका, पतंगिया वगैरह ।
(७) उद्भिज्ज- उद्‌भेद अर्थात् जमीन को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले जीव। जैसे पतंगिया, टिड्डीफाका, खंजरीट (ममोलिया)।
(८) औपपातिक- उपपात जन्म से उत्पन्न होने वाले जीव। शय्या तथा कुम्भी से पैदा होने वाले देव और नारकी जीव औपपातिक हैं। (दशवै० अध्ययन ४)(ठाणांग, सूत्र ५९५ आठ योनिसंग्रह)

६११- सूक्ष्म आठ

बहुत मिले हुए होने के कारण या छोटे परिमाण वाले होने के कारण जो जीव दृष्टि में नहीं आते या कठिनता से आते हैं, वे सूक्ष्म कहे जाते हैं। सूक्ष्म आठ हैं-

सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंग तहेवय ।
पणगं बीयहरिअं च अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

(१) स्नेह सूक्ष्म- ओस, बर्फ, धुंध, ओले इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेह सूक्ष्म कहते हैं ।
(२) पुष्प सूक्ष्म- बड़ और उदुम्बर वगैरह के फूल जो सूक्ष्म तथा उसी रंग के होने से जल्दी नजर नहीं आते उन्हें पुष्प सूक्ष्म कहते हैं।
(३) प्राणि सूक्ष्म- कुन्थुआ वगैरह जीव जो चलते हुए ही दिखाई देते हैं, स्थिर नजर नहीं आते वे प्राणि सूक्ष्म हैं ।

(४) उत्तिंग सूक्ष्म- कीड़ी नगरा अर्थात् कीड़ियों के बिल को उत्तिंग सूक्ष्म कहते हैं। उस बिल में दिखाई नहीं देने वाली चींटियां और बहुत से दूसरे सूक्ष्म जीव होते हैं।
(५) पनक सूक्ष्म- चौमासे अर्थात् वर्षा काल में भूमि और काठ वगैरह पर होने वाली पाँचों रंग की लीलन फूलन को पनक सूक्ष्म कहते हैं।
(६) बीज सूक्ष्म-- शाली आदि बीज का मुखमूल जिससे अंकुर उत्पन्न होता है, जिसे लोक में तुष कहा जाता है वह बीज सूक्ष्म है।
(७) हरित सूक्ष्म-- नवीन उत्पन्न हुई हरित काय जो पृथ्वी के समान वर्ण वाली होती है वह हरित सूक्ष्म है।
(८) अण्ड सूक्ष्म- मक्खी, कीड़ी, छिपकली गिरगट आदि के सूक्ष्म अंडे जो दिखाई नहीं देते वे अंड सूक्ष्म हैं।

(दशवैकालिक अध्ययन ८ गाथा १५) (ठाणांग, सूत्र ६१५)

६१२- तृणवनस्पतिकाय आठ

बादर वनस्पतिकाय को तृणवनस्पतिकाय कहते हैं। इसके आठ भेद हैं- (१) मूल अर्थात् जड़। (२) कन्द- स्कन्ध के नीचे का भाग। (३) स्कन्ध- धड़, जहाँ से शाखाएं निकलती हैं। (४) त्वक्- ऊपर की छाल। (५) शाखाएं। (६) प्रवाल अर्थात् अंकुर। (७) पत्ते और (८) फूल।

६१३- गन्धर्व (वाणव्यन्तर) के आठ भेद

जो वाणव्यन्तर देव तरह तरह की राग रागिणियों में निपुण होते हैं, हमेशा संगीत में लीन रहते हैं उन्हें गन्धर्व कहते हैं। ये बहुत ही चञ्चल चित्त वाले, हँसी-खेल पसन्द करने वाले, गम्भीर हास्य और बातचीत में प्रेम रखने वाले, गीत और नृत्य में रुचि वाले, वनमाला वगैरह सुन्दर सुन्दर आभूषण पहन कर प्रसन्न होने वाले, सभी ऋतुओं के पुष्प पहन कर

आनन्द मनाने वाले होते हैं। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन वाले रत्नकाण्ड में नीचे सौ योजन तथा ऊपर सौ योजन छोड़ कर बीच के आठ सौ योजनों में रहते है। इनके आठ भेद हैं-

(१) आणपण्णे (२) पाणपण्णे (३) इसिवाई (ऋषिवादी) (४) भूयवाई (भूतवादी) (५) कन्दे (६) महाकन्दे (७) कुम्भाण्ड (कूष्माण्ड) (८) पयदेव (प्रेत देव)। (उववाई सूत्र २४) (पन्नवणा पद २)

६१४- व्यन्तर देव आठ

वि अर्थात् आकाश जिनका अन्तर अवकाश अर्थात् आश्रय है उन्हें व्यन्तर कहते हैं। अथवा विविध प्रकार के भवन, नगर और आवास रूप जिनका आश्रय है। रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले रत्नकाण्ड में सौ योजन ऊपर तथा सौ योजन नीचे छोड़ कर बाकी के आठ सौ योजन मध्यभाग में भवन हैं। तिर्यक् लोक में नगर होते हैं। जैसे- तिर्यक् लोक में जम्बूद्वीप द्वार के अधिपति विजयदेव की बारह हजार योजन प्रमाण नगरी है। आवास तीनों लोकों में होते हैं। जैसे ऊर्ध्वलोक में पंडकवन वगैरह में आवास हैं। अथवा 'विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः' जिनका मनुष्यों से अन्तर अर्थात् फरक नहीं रहा है, क्योंकि बहुत से व्यन्तर देव चक्रवर्ती, वासुदेव वगैरह की नौकर की तरह सेवा करते हैं। इसलिए मनुष्यों से उनका भेद नहीं है। अथवा 'विविधमन्तरमाश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः' पर्वत, गुफा, वनखण्ड वगैरह जिनके अन्तर अर्थात् आश्रय विविध हैं, वे व्यन्तर कहलाते हैं। सूत्रों में 'वाणमन्तर' पाठ है 'वनानामन्तरेषु भवाः वानमन्तराः' पृषोदरादि होने से बीच में मकार आगया। अर्थात् वनों के अन्तर में रहने वाले। इनके आठ भेद हैं-

(१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किम्पुरुष (७) महोरग (८) गन्धर्व।

ये सभी व्यन्तर मनुष्य क्षेत्रों में इधर उधर घूमते रहते हैं। टूटे फूटे घर, जंगल और शून्य स्थानों में रहते हैं।

स्थान- रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन में सौ योजन ऊपर तथा सौ योजन नीचे छोड़कर बीच के आठ सौ योजन तिर्छे लोक में वाणव्यन्तरों के असंख्यात नगर हैं। वे नगर बाहर से गोल, अन्दर समचौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार वाले हैं। ये पर्याप्त तथा अपर्याप्त देवों के स्थान बताए गए हैं। वैसे उपपात, समुद्घात और स्वस्थान इन तीनों की अपेक्षा से लोक का असंख्यातवाँ भाग उनका स्थान है। वहाँ आठों प्रकार के व्यन्तर रहते हैं। गन्धर्व नाम के व्यन्तर संगीत से बहुत प्रीति करते हैं। वे भी आठ प्रकार के होते हैं- आणपन्निक, पाणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कंदित, महाकंदित, कुहंड और पतंगदेव। वे बहुत चपल, चञ्चल चित्त वाले तथा क्रीड़ा और हास्य को पसन्द करने वाले होते हैं। हमेशा विविध आभूषणों से अपने सिंगारने में अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे रहते हैं। वे विचित्र चिह्नों वाले, महाऋद्धि वाले, महाकान्ति वाले, महायश वाले, महाबल वाले, महासामर्थ्य वाले तथा महा सुख वाले होते हैं।

व्यन्तर देवों के इन्द्र अर्थात् अधिपतियों के नाम इस प्रकार हैं- पिशाचों के काल तथा महाकाल। भूतों के सुरूप और प्रतिरूप। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र। राक्षसों के भीम और महाभीम। किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष। किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष। महोरगों के अतिकाय और महाकाय। गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश। काल इन्द्र दक्षिण दिशा का है और महाकाल उत्तर दिशा का। इसी तरह सुरूप और प्रतिरूप वगैरह को भी जानना चाहिए।

आणपन्निक के इन्द्र सन्निहित और सामान्य। पाणपन्निक के धाता और विधाता। ऋषिवादी के ऋषि और ऋषिपाल। भूतवादी के ईश्वर और माहेश्वर। कंदित के सुवत्स और विशाल। महाकंदित के हास और रति। कोहंड के श्वेत और महाश्वेत। पतंग के पतंग और पतंगपति।

स्थिति- व्यन्तर देवों का आयुष्य जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट एक पल्योपम होता है। व्यन्तर देवियों का जघन्य दस हजार वर्ष उत्कृष्ट अर्द्धपल्योपम।

(पन्नवणा संज्ञापद सूत्र ७८, स्थिति पद सूत्र २१, स्थान पद सूत्र ३८-४१)
(ठाणांग, सूत्र ६०५) (जीवाभिगम, देवाधिकार)

६१५- लौकान्तिक देव आठ

आठ कृष्णराजियों के अवकाशान्तरों में आठ लौकान्तिक विमान हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) अर्ची (२) अर्चिमाली (३) वैरोचन (४) प्रभंकर (५) चन्द्राभ (६) सूर्याभ (७) शुक्राभ (८) सुप्रतिष्ठाभ।

अर्ची विमान उत्तर और पूर्व की कृष्णराजियों के बीच में है। अर्चिमाली पूर्व में है। इसी प्रकार सभी को जानना चाहिए। रिष्टविमान बिल्कुल मध्य में है। इनमें आठ लौकान्तिक देव रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- (१) सारस्वत (२) (२) आदित्य (३) वह्नि (४) वरुण (५) गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध (८) आग्नेय। ये देव क्रमशः अर्ची आदि विमानों में रहते हैं।

सारस्वत और आदित्य के सात देव तथा उनके सात सौ परिवार है। वह्नि और वरुण के चौदह देव तथा चौदह हजार परिवार है। गर्दतोय और तुषित के सात देव तथा सात हजार परिवार है। बाकी देवों के नव देव और नव सौ परिवार है।

लौकान्तिक विमान वायु पर ठहरे हुए हैं। उन विमानों में जीव असंख्यात और अनन्त वार उत्पन्न हुए हैं किन्तु देव के रूप में अनन्त वार उत्पन्न नहीं हुए।

लौकान्तिक देवों की आठ सागरोपम की स्थिति है। लौकान्तिक विमानों से लोक का अन्त असंख्यात हजार योजन दूरी पर है।

(भग० श० ६ उ० ५) (ठाणांग, सूत्र ६२३) (जीवा० देव उ० ब्रह्मलोकवक्तव्यता)

६१६- कृष्णराजियाँ आठ

कृष्ण वर्ण की सचित्त अचित्त पृथ्वी की भित्ति के आकार व्यवस्थित पंक्तियाँ कृष्ण राजि हैं एवं उनसे युक्त क्षेत्र विशेष भी कृष्णराजि नाम से कहा जाता है।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्ट विमान नामका पाथड़ा है। यहाँ पर आखाटक (आसन विशेष) के आकार की समचतुरस्र संस्थान वाली आठ कृष्णराजियाँ हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में दो दो कृष्णराजियाँ हैं। पूर्व में दक्षिण और उत्तर दिशा में तिर्छी फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। दक्षिण में पूर्व और पश्चिम दिशा में तिर्छी फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा में दक्षिण और उत्तर में फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं और उत्तर दिशा में पूर्व पश्चिम में फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम की वाहर वाली कृष्णराजियों को छूती हुई हैं। जैसे पूर्व की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए है। इसी प्रकार दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि को, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि को और उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि पूर्व की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए है।

इन आठ कृष्णराजियों में पूर्व पश्चिम की बाह्य दो कृष्णराजियाँ षट्कोणाकार हैं एवं उत्तर दक्षिण की बाह्य दो कृष्णराजियाँ त्रिकोणाकार हैं। अन्दर की चारों कृष्णराजियाँ चतुष्कोण हैं।

कृष्णराजि के आठ नाम हैं- (१) कृष्णराजि (२) मेघराजि (३) मघा (४) माघवती (५) वातपरिघा (६) वातपरिक्षोभा (७) देवपरिघा (८) देवपरिक्षोभा।

काले वर्ण की पृथ्वी और पुद्गलों के परिणाम रूप होने से इसका नाम कृष्णराजि है। काले मेघ की रेखा के सदृश होने से इसे मेघराजि कहते हैं। छठी और सातवीं नारकी के सदृश अंधकारमय होने से कृष्णराजि को मघा और माघवती नाम से कहते हैं। आँधी के सदृश सघन अंधकार वाली और दुर्लंघ्य होने से कृष्णराजि वातपरिघा कहलाती है। आँधी के सदृश अंधकार वाली और क्षोभ का कारण होने से कृष्णराजि को वात परिक्षोभा कहते हैं। देवता के लिये दुर्लंघ्य होने से कृष्णराजि का नाम देवपरिघा है और देवों को क्षुब्ध करने वाली होने से यह देवपरिक्षोभा कहलाती है।

यह कृष्णराजि सचित अचित्त पृथ्वी के परिणाम रूप है और इसीलिये जीव और पुद्गल दोनों के विकार रूप है।

ये कृष्णराजियाँ असंख्यात हजार योजन लम्बी और संख्यात हजार योजन चौड़ी हैं। इनका परिक्षेप (घेरा) असंख्यात हजार योजन है। (ठाणांग ८, सूत्र ६२३) (भगवती शतक ६ उद्देशा ५)

(प्रवचन सारोद्धार गाथा १४४१ से १४४४)

६१७- वर्गणा आठ

समान जाति वाले पुद्गल परमाणुओं के समूह को वर्गणा कहते हैं। पुद्गल का स्वरूप समझने के लिए उसके अनन्तानन्त परमाणुओं को तीर्थङ्कर भगवान् ने बाँट दिया है, उसी विभाग को

वर्गणा कहते हैं। इसके लिए विशेषावश्यक भाष्य में कुचिकर्ण का दृष्टान्त दिया गया है-

भरतक्षेत्र के मगध देश में कुचिकर्ण नाम का गृहपति रहता था। उसके पास बहुत गौएं थीं। उन्हें चराने के लिए बहुत से ग्वाले रक्खे हुए थे। हजार से लेकर दस हजार गौओं तक के टोले बनाकर उसने ग्वालों को सौंप दिया। गौएं चरते चरते जब आपस में मिल जातीं तो ग्वाले झगड़ने लगते। वे अपनी गौओं को पहिचान न सकते। इस कलह को दूर करने के लिए सफेद, काली, लाल, कबरी आदि अलग अलग रंग की गौओं के अलग अलग टोले बनाकर उसने ग्वालों को सौंप दिया। इसके बाद उनमें कभी झगड़ा नहीं हुआ।

इसी प्रकार सजातीय पुद्गल परमाणुओं के समुदाय की भी व्यवस्था है। गौओं के स्वामी कुचिकर्ण के तुल्य तीर्थङ्कर भगवान् ने ग्वाल रूप अपने शिष्यों को गायों के समूह रूप पुद्गल परमाणुओं का स्वरूप अच्छी तरह समझाने के लिए वर्गणाओं के रूप में विभाग कर दिया। वे वर्गणाएं आठ हैं—

(१) औदारिक वर्गणा- जो पुद्गल परमाणु औदारिक शरीर रूप में परिणत होते हैं, उनके समूह को औदारिक वर्गणा कहते हैं।

(२) वैक्रिय वर्गणा- वैक्रिय शरीर रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणुओं का समूह।

(३) आहारक वर्गणा- आहारक शरीर रूप में परिणत होने वाले परमाणु पुद्गलों का समूह।

(४) तैजस वर्गणा- तैजस शरीर रूप में परिणत होने वाले परमाणुओं का समूह।

(५) भाषा वर्गणा- भाषा अर्थात् शब्द के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलपरमाणुओं का समूह।

(६) आनप्राण या श्वासोच्छ्वास वर्गणा- साँस के रूप में परिणत होने वाले परमाणुओं का समूह।

(७) मनोवर्गणा- मन रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणुओं का समूह।

(८) कार्मण वर्गणा- कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणुओं का समूह।

इन वर्गणाओं में औदारिक की अपेक्षा वैक्रियक तथा वैक्रियक की अपेक्षा आहारक, इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्म और बहुप्रदेशी हैं।

प्रत्येक वर्गणा के ग्रहण योग्य, अयोग्य और मिश्र के रूप से फिर तीन भेद हैं। प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भेद हैं। विस्तार विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ६३१, निर्युक्ति गाथा ३८-३९)

६१८- पुद्गलपरावर्तन आठ

अद्धा पल्योपम की अपेक्षा से बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। अनन्त कालचक्र बीतने पर एक पुद्गलपरावर्तन होता है। इसके आठ भेद हैं-

(१) बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन (२) सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन (३) बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन (४) सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन (५) बादर कालपुद्गलपरावर्तन (६) सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्तन (७) बादर भावपुद्गलपरावर्तन (८) सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्तन।

(१) बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन- औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण वर्गणा के परमाणुओं को सूक्ष्म तथा बादर परिणमना के द्वारा एक जीव औदारिक आदि नोकर्म अथवा कार्मण से अनन्त भवों में घूमता हुआ जितने काल में ग्रहण करे, फरसे तथा छोड़े, उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन कहते हैं। पहिले गृहीत किए हुए पुद्गलों को दुबारा ग्रहण करना

गृहीतग्रहणा है। कुछ गृहीत तथा कुछ अगृहीत पुद्गलों को ग्रहण करना अगृहीतग्रहणा है। काल की इस गिनती में अगृहीतग्रहणा के द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गलस्कन्ध ही लिए जाते हैं गृहीत या मिश्र नहीं लिए जाते।

प्रत्येक परमाणु औदारिक आदि रूप सात वर्गणाओं में परिणमन करे। जब जीव सारे लोक में व्याप्त उन सभी परमाणुओं को प्राप्त करले तो एक द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है।

(२) सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन-- जिस समय जीव सर्वलोकवर्ती अणु को औदारिक आदि के रूप में परिणमाता है, अगर उस समय बीच में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण कर लेवे तो वह समय पुद्गल परावर्तन की गिनती में नहीं आता। इस प्रकार एक औदारिक पुद्गलपरावर्तन में ही अनन्त भव करने पड़ते हैं। बीच में दूसरे परमाणुओं की परिणति को न गिनते हुए जब जीव सारे लोक के परमाणुओं को औदारिक के रूप में परिणत कर लेता है तब औदारिक सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है। इसी तरह वैक्रिय आदि सातों वर्गणाओं के परमाणुओं को परिणमाने के बाद वैक्रियादि रूप सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है।

इनमें कार्मण पुद्गलपरावर्तनकाल अनन्त है। उससे अनन्तगुणा तैजस पुद्गलपरावर्तनकाल। इस प्रकार अधिक होते हुए औदारिक पुद्गलपरावर्तन सब से अनन्तगुणा हो जाता है। कार्मण वर्गणा का ग्रहण प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक भव में होता है। इस लिए उसकी पूर्ति जल्दी होती है। तैजस उससे अनन्तगुणे काल में पूरा होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर जानना चाहिये।

अतीत काल में एक जीव के अनन्त वैक्रिय पुद्गलपरावर्तन हुए। उससे अनन्तगुणे भाषा पुद्गलपरावर्तन। उससे अनन्तगुणे मनःपुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणे श्वासोच्छ्वास पुद्गल-

परावर्तन, उससे अनन्तगुणे औदारिक पुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणे तैजस पुद्गलपरावर्तन तथा उससे अनन्तगुणे कार्मण पुद्गलपरावर्तन हुए।

किसी आचार्य का मत है कि जीव जब लोक में रहे हुए सभी पुद्गलपरमाणुओं को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर द्वारा फरस लेता है अर्थात् प्रत्येक परमाणु को प्रत्येक शरीर रूप में परिणत कर लेता है तो बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है। सभी परमाणुओं को एक शरीर के रूप में परिणमा कर फिर दूसरे शरीर रूप में परिणमावे, इस प्रकार क्रम से जब सभी शरीरों के रूप में परिणमा लेता है तो सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है। कुछ परमाणुओं को औदारिक शरीर के रूप में परिणमा कर अगर वैक्रिय के रूप में परिणमाने लग जाय तो वह इसमें नहीं गिना जाता।

(३) बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन— एक अंगुल आकाश में इतने आकाशप्रदेश हैं कि प्रत्येक समय में एक एक प्रदेश को स्पर्श करने से असंख्यात कालचक्र बीत जायँ। इस प्रकार के सूक्ष्मप्रदेशों वाले सारे लोकाकाश को जब जीव प्रत्येक प्रदेश में जीवन-मरण पाता हुआ पूरा कर लेता है तो बादर क्षेत्रपुद्गल-परावर्तन होता है। जिस प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका है अगर उसी प्रदेश में फिर मृत्यु प्राप्त करे तो वह इसमें नहीं गिना जायगा। सिर्फ वे ही प्रदेश गिने जाएंगे जिनमें पहले मृत्यु प्राप्त नहीं की। यद्यपि जीव असंख्यात प्रदेशों में रहता है, फिर भी किसी एक प्रदेश को मुख्य रख कर गिनती की जा सकती है।

(४) सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन— एक प्रदेश की श्रेणी के ही दूसरे प्रदेश में मरण प्राप्त करता हुआ जीव जब लोकाकाश को पूरा कर लेता है तो सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन होता है। अगर

जीव एक श्रेणी को छोड़कर दूसरी श्रेणी के किसी प्रदेश में जन्म प्राप्त करता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। चाहे वह प्रदेश बिल्कुल नया ही हो। बादर में वह गिन लिया जाता है। जिस श्रेणी के प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त की है जब उसी श्रेणी के दूसरे प्रदेश में मृत्यु प्राप्त करे तभी वह गिना जाता है।

(५) बादर कालपुद्गलपरावर्तन– बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। जब कालचक्र के प्रत्येक समय को जीव अपनी मृत्यु के द्वारा फरस लेता है तो बादर काल पुद्गलपरावर्तन होता है। जब एक ही समय में जीव दूसरी बार मरण प्राप्त कर लेता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। इस प्रकार अनेक भव करता हुआ जीव कालचक्र के प्रत्येक समय को फरस लेता है। तब बादर कालपुद्गलपरावर्तन होता है।

(६) सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्तन– काल चक्र के प्रत्येक समय को जब क्रमशः मृत्यु द्वारा फरसता है तो सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन होता है। अगर पहले समय को फरस कर जीव तीसरे समय को फरस ले तो वह इसमें नहीं गिना जाता। जब दूसरे समय में जीव की मृत्यु होगी तभी वह गिना जायगा। इस प्रकार क्रमशः कालचक्र के सभी समय पार कर लेने पर सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन होता है।

(७) बादर भाव पुद्गलपरावर्तन– रसबन्ध के कारणभूत कषाय के अध्यवसायस्थानक मन्द, मन्दतर और मन्दतम के भेद से असंख्यात लोकाकाश प्रमाण हैं। उनमें से बहुत से अध्यवसाय-स्थानक सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम वाले रसबन्ध के कारण हैं। उन सब अध्यवसायों को जब जीव मृत्यु के द्वारा फरस लेता है अर्थात् मन्द मन्दतर आदि उनके सभी परिणामों में एक बार मृत्यु प्राप्त कर लेता है तब एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है।

(८) सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन– ऊपर लिखे हुए सभी भावों को जीव जब क्रमशः फरस लेता है तो भाव सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन होता है। अर्थात् किसी एक भव के मन्द परिणाम को फरसने के बाद अगर वह दूसरे भावों को फरसता है तो वह इसमें नहीं गिना जायगा। जब उसी भाव के दूसरे परिणाम को फरसेगा तभी वह गिना जायगा। इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक भाव के सभी परिणामों को फरसता हुआ जब सभी भावों को फरस लेता है तो भाव सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन होता है।

इन आठ के सिवाय किसी किसी ग्रन्थ में भव पुद्गलपरावर्तन भी दिया है। उसका स्वरूप निम्नलिखित है–

कोई जीव नरक गति में दस हजार वर्ष की आयु से लेकर एक एक समय को बढ़ाते हुए असंख्यात भवों में नब्बे हजार वर्ष तक की आयु प्राप्त करे तथा दस लाख वर्ष स्थिति की आयु से लेकर एक एक समय बढ़ाते हुए तेतीस सागरोपम की आयु प्राप्त करे। इसी प्रकार देवगति में दस हजार वर्ष से लेकर एक एक समय बढ़ाते हुए तेतीस सागरोपम की आयु प्राप्त करे। मनुष्य तथा तिर्यञ्च भव में क्षुल्लक भव से लेकर एक एक समय बढ़ाते हुए तीन पल्योपम की स्थिति को फरसे तब बादर भव पुद्गलपरावर्तन होता है।

जब नरक वगैरह की स्थिति को क्रमशः फरस ले तो सूक्ष्म भव पुद्गलपरावर्तन होता है। पूरे दस हजार वर्ष की आयु फरस कर जब तक दस हजार वर्ष और एक समय की आयु नहीं फरसेगा वह काल इसमें नहीं गिना जाता। जब क्रमशः पहिले एक समय की फिर दूसरे समय की इस प्रकार सभी भव स्थितियों को फरस लेता है तभी सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन होता है। भव पुद्गलपरावर्तन की मान्यता दिगम्बरों में प्रचलित है।

दूसरे परमाणुओं का आकर मिलना पूरण है। मिले हुए परमाणुओं का अलग होना गलन है। पुद्गल के ये दो स्वभाव हैं। परमाणुओं का मिलना और अलग होना पुद्गलस्कन्ध में होता है। वे जीव की अपेक्षा अनन्त गुणे हैं। सारा लोकाकाश अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धों द्वारा भरा है। जितने समय में जीव सभी परमाणुओं को औदारिक आदि शरीर के रूप में परिणत करके छोड़े उस काल को सामान्य रूप से बादर द्रव्यपुद्गल-परावर्तन कहते हैं। इसी प्रकार काल आदि में भी जानना चाहिए। सूक्ष्म और बादर के भेद से वे आठ हैं। बादर का स्वरूप सूक्ष्म को अच्छी तरह समझने के लिए दिया गया है। शास्त्रों में जहाँ पुद्गलपरावर्तन काल का निर्देश आता है वहाँ सूक्ष्म पुद्गल-परावर्तन ही लेना चाहिए। जैसे सम्यक्त्व पाने के बाद जीव अधिक से अधिक कुछ न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ काल का सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन ही लिया जाता है

(कर्म ग्रन्थ भाग ५ गाथा ८६-८८)

६१६– संख्याप्रमाण आठ

जिसके द्वारा गिनती, नाप, परिमाण या स्वरूप जाना जाय उसे संख्याप्रमाण कहते हैं। इसके आठ भेद हैं–

(१) नामसंख्या (२) स्थापना संख्या (३) द्रव्य संख्या (४) उपमान संख्या (५) परिमाण संख्या (६) ज्ञान संख्या (७) गणना संख्या (८) भाव संख्या।

(१) नाम संख्या– किसी जीव या अजीव का नाम 'संख्या' रख देना नाम संख्या है।

(२) स्थापना संख्या– काठ या पुस्तक वगैरह में संख्या की कल्पना कर लेना स्थापना संख्या है। नामसंख्या आयुपर्यन्त रहती है और स्थापना संख्या थोड़े काल के लिए भी हो सकती है।

दो संख्या को जघन्य संख्येयक कहते हैं। तीन से लेकर उत्कृष्ट से एक कम तक की संख्या को मध्यम संख्येयक कहते हैं। उत्कृष्ट संख्येयक का स्वरूप नीचे दिया जाता है- तीन पल्य अर्थात् कूए जम्बूद्वीप की परिधि जितने कल्पित किए जायँ। अर्थात् प्रत्येक पल्य की परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, १२८ धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक हो। एक लाख योजन लम्बाई तथा एक लाख योजन चौड़ाई हो। एक हजार योजन गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊँचाई हो। पल्यों का नाम क्रमशः शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हो। पहले शलाका पल्य को सरसों से भरा जाय। उसमें जितने दाने आएं उन सब को निकाल कर एक द्वीप तथा एक समुद्र में डाल दिया जाय। इस प्रकार जितने द्वीप समुद्रों में वे दाने पड़ें उतनी लम्बाई तथा चौड़ाई वाला एक अनवस्थित पल्य बनाया जाय। इसके बाद अनवस्थित पल्य को सरसों से भरे। अनवस्थित पल्य की सरसों निकाल कर एक दाना द्वीप तथा एक दाना समुद्र में डालता जाय। उन सब के खतम हो जाने पर सरसों का एक दाना शलाका पल्य में डाल दे। जितने द्वीप और समुद्रों में पहले अनवस्थित पल्य के दाने पड़े हैं उन सब को तथा प्रथम अनवस्थित पल्य को मिला कर जितना विस्तार हो उतने बड़े एक और सरसों से भरे अनवस्थित पल्य की कल्पना करे। उसके दाने भी निकाल कर एक द्वीप तथा एक समुद्र में डाले और शलाका पल्य में तीसरा दाना डाल दे। उतने द्वीप समुद्र तथा द्वितीय अनवस्थित पल्य जितने परिमाण वाले तीसरे अनवस्थित पल्य की कल्पना करे। इस प्रकार उत्तरोत्तर बड़े अनवस्थित पल्यों की कल्पना करता हुआ शलाका पल्य

में एक एक दाना डालता जाय। जब शलाका पल्य इतना भर जाय कि उसमें एक भी दाना और न पड़ सके और अनवस्थित पल्य भी पूरा भरा हो तो शलाका पल्य के दानों को एक द्वीप तथा एक समुद्र में डालता हुआ फिर खाली करे। उसके खाली हो जाने के बाद एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डाल दे। शलाका पल्य को फिर पहले की तरह नए नए अनवस्थित पल्यों की कल्पना करता हुआ भरे। जब फिर भर जाय तो उसे द्वीप समुद्रों में डालता हुआ फिर खाली करे और एक दाना प्रति-शलाका पल्य में डाल दे। इस प्रकार प्रतिशलाका पल्य को भर दे। उसे भरने के बाद फिर उसी तरह खाली करे और एक दाना महाशलाका पल्य में डाल दे। प्रतिशलाका पल्य को फिर पहले की तरह शलाका पल्यों से भरे। इस प्रकार जब शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित पल्य सरसों से इतने भर जायँ कि एक भी दाना और न आ सके तो उन सब पल्यों तथा द्वीप समुद्रों में जितने दाने पड़ें उतना उत्कृष्ट संख्यात होता है।

असंख्येयक के भेदों का स्वरूप इस प्रकार है–

(क) जघन्यपरीतासंख्येयक– उत्कृष्ट संख्येयक से एक अधिक हो जाने पर जघन्य परीतासंख्येयक होता है।

(ख) मध्यम परीतासंख्येयक– जघन्य की अपेक्षा एक अधिक से लगाकर उत्कृष्ट से एक कम तक मध्यम परीतासंख्येयक होता है।

(ग) उत्कृष्ट परीतासंख्येयक–जघन्य परीतासंख्येयक की संख्या जितनी जघन्य संख्याएं रक्खे। फिर पहले से गुणन करते हुए जितनी संख्या प्राप्त हो उससे एक कम को उत्कृष्ट परीतासंख्येयक कहते हैं। जैसे– मान लिया जाय जघन्य परीतासंख्येयक '५' है, तो उतने ही अर्थात् पॉच पाँचों को स्थापित करे (५, ५, ५, ५, ५)। अब इनको गुणा करता जाय। पहले पाँच को दूसरे

पाँच से गुणा किया तो २५ हुए। फिर पाँच से गुणा करने पर १२५। फिर गुणा करने पर ६२५। अन्तिम दफा गुणा करने पर ३१२५।

(घ) जघन्य युक्तासंख्येयक– उत्कृष्ट परीतासंख्येयक से एक अधिक को जघन्य युक्तासंख्येयक कहते हैं।

(ङ) मध्यम युक्तासंख्येयक– जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या को मध्यम युक्तासंख्येयक कहते हैं।

(च) उत्कृष्ट युक्तासंख्येयक– जघन्य युक्तासंख्येयक को उसी संख्या से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उससे एक न्यून संख्या को उत्कृष्ट युक्तासंख्येयक कहते हैं।

(छ) जघन्यासंख्येयासंख्येयक– उत्कृष्ट युक्तासंख्येयक में एक और मिला देने पर जघन्यासंख्येयासंख्येयक हो जाता है।

(ज) मध्यमासंख्येयासंख्येयक– जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या को मध्यमासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

(झ) उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयक–उत्कृष्ट परीतासंख्येयक की तरह यहाँ भी जघन्यासंख्येयासंख्येयक की उतनी ही राशियाँ स्थापित करे। फिर उनमें से प्रत्येक के साथ गुणा करते हुए बढ़ाता जाय। अन्त में जो संख्या प्राप्त हो उनसे एक कम तक को उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

किसी आचार्य का मत है कि जघन्यासंख्येयासंख्येयक को उसी से गुणा करना चाहिए। जो राशि प्राप्त हो उसे फिर उतनी ही से गुणा करे। जो राशि प्राप्त हो उसे फिर गुणन करे। इस तरह तीन वर्ग करके उसमें दस असंख्येयक राशि मिला दे। वे निम्नलिखित हैं– (१) लोकाकाश के प्रदेश (२) धर्म द्रव्य के प्रदेश (३) अधर्म द्रव्य के प्रदेश (४) एक जीव द्रव्य के प्रदेश (५) द्रव्यार्थिक निगोद अर्थात् सूक्ष्म साधारण वनस्पति

के शरीर (६) अनन्तकाय को छोड़कर शेष पाँचों कायों के जीव (७) ज्ञानावरणीय आदि कर्म बन्धन के असंख्यात अध्यवसाय स्थान (८) अध्यवसाय विशेष उत्पन्न करने वाला असंख्यात लोकाकाश की राशि जितना अनुभाग (९) योगप्रतिभाग और (१०) दोनों कालों के समय। इस प्रकार जो राशि प्राप्त हो उसे फिर तीन वार गुणा करे। अन्त में जो राशि प्राप्त हो उससे एक कम राशि को उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

(८) भाव संख्या– शंख योनि वाले द्वीन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों को भाव शंख कहते हैं।

नोट– प्राकृत में 'संखा' शब्द के दो अर्थ होते हैं, संख्या और शंख। इसलिए सूत्र में इन दोनों को लेकर आठ भेद बताए गए हैं। (अनुयोगद्वार, सूत्र १४६)

६२०– अनन्त आठ

उत्कृष्टासंख्येया संख्येयक से अधिक संख्या को अनन्त कहते हैं। इसके आठ भेद हैं।

(१) जघन्य परीतानन्तक– उत्कृष्ट संख्येयासंख्येयक से एक अधिक संख्या।

(२) मध्यम परीतानन्तक–जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या।

(३) उत्कृष्ट परीतानन्तक– जघन्य परीतानन्तक की संख्या को उसी से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उससे एक कम को उत्कृष्ट परीतानन्तक कहते हैं।

(४) जघन्य युक्तानन्तक–जघन्य परीतानन्तक को उसी से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो अथवा उत्कृष्ट परीतानन्तक से एक अधिक संख्या को जघन्य युक्तानन्तक कहते हैं। इतने ही अभवसिद्धिक जीव होते हैं।

(५) मध्यम युक्तानन्तक–जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या

(६) उत्कृष्ट युक्तानन्तक-- जघन्य युक्तानन्त से अभव्यराशि या उसी संख्या का गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उससे एक कम को उत्कृष्ट युक्तानन्तक कहते हैं।

(७) जघन्यानन्तान्तक-- जघन्य युक्तानन्तक को उसी से गुणा करने पर या उत्कृष्ट युक्तानन्तक में एक और मिला देने पर जघन्यानन्तानन्तक हो जाता है।

(८) मध्यमानन्तानन्तक-- जघन्यानन्तान्तक से आगे की सब संख्या मध्यमानन्तानन्तक है। उत्कृष्टानन्तानन्तक नहीं होता।

किसी आचार्य का मत है कि जघन्य अनन्तों को तीन बार गुणा करके उसमें छः निम्नलिखित अनन्त बातों को मिलावे। (१) सिद्ध (२) निगोदजीव (३) वनस्पति (४) भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के समय (५) सब पुद्गलपरमाणु और (६) अलोकाकाश। इनको मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो उसे फिर तीन बार गुणा करे। तब भी उत्कृष्टानन्तानन्तक नहीं होता। उसमें केवल ज्ञान और केवल दर्शन के पर्याय मिला देने पर उत्कृष्टानन्तानन्तक होता है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन की पर्यायों में सभी का समावेश हो जाता है। इसलिए उनके मिला देने पर उत्कृष्ट हो जाता है। उसके आगे कोई संख्या नहीं रहती। सूत्रकार के अभिप्राय से तो इस प्रकार भी उत्कृष्ट अनन्तानन्तक नहीं होता। वास्तविक बात तो केवली भगवान् बता सकते हैं। शास्त्रों में जहाँ जहाँ अनन्तानन्तक आया है वहाँ मध्यमानन्तानन्तक ही समझना चाहिए। (अनुयोगद्वार, सूत्र १४६)

६२१- लोकस्थिति आठ

पृथ्वी, जीव, पुद्गल वगैरह लोक जिन पर ठहरा हुआ है उन्हें लोकस्थिति कहते हैं। वे आठ हैं--

(१) आकाश-- तनुवात और घनवात रूप दो तरह का वायु

आकाश के सहारे ठहरा हुआ है। आकाश को किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती। उसके नीचे कुछ नहीं है।
(२) वात- घनोदधि अर्थात् पानी वायु पर स्थिर है।
(३) घनोदधि- रत्नप्रभा वगैरह पृथ्वियाँ घनोदधि पर ठहरी हुई हैं। यद्यपि ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी जहाँ सिद्ध क्षेत्र है, घनोदधि पर ठहरी हुई नहीं है, उसके नीचे आकाश ही है, तो भी बाहुल्य के कारण यही कहा जाता है कि पृथ्वियाँ घनोदधि पर ठहरी हुई हैं।
(४) पृथ्वी- पृथ्वियों पर त्रस और स्थावर जीव ठहरे हैं।
(५) जीव- शरीर आदि पुद्गल रूप अजीव जीवों का आश्रय लेकर ठहरे हुए हैं, क्योंकि व सब जीवों में स्थित हैं।
(६) कर्म- जीव कर्मों के सहारे ठहरा हुआ है, क्योंकि संसारी जीवों का आधार उदय में नहीं आए हुए कर्म पुद्गल ही हैं। उन्हीं के कारण वे यहाँ ठहरे हुए हैं। अथवा जीव कर्मों के आधार से ही नरकादि गति में स्थिर हैं।
(७) मन और भाषा वर्गणा आदि के परमाणुओं के रूप में अजीव जीवों द्वारा संगृहीत (स्वीकृत) हैं।
(८) जीव कर्मों के द्वारा संगृहीत (बद्ध) हैं।

(भगवती शतक १ उद्देशा ६) (ठाणांग ८, सूत्र ६००)

पाँचवे छठे बोल में आधार आधेय भाव की विवक्षा है और सातवें आठवें बोल में संग्राह्य संग्राहक भाव की विवक्षा है। यही इनमें भेद है। यों संग्राह्य संग्राहक भाव में अर्थापत्ति से आधाराधेय भाव आ ही जाता है।

लोक स्थिति को समझाने के लिए मशक का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मशक को हवा से फुलाकर उसका मुँह बंद कर दिया जाय। इसके बाद मशक के मध्य भाग में गाँठ

(६) उत्कृष्ट युक्तानन्तक-- जघन्य युक्तानन्त से अभव्यराशि या उसी संख्या का गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उससे एक कम को उत्कृष्ट युक्तानन्तक कहते हैं।

(७) जघन्यानन्तान्तक-- जघन्य युक्तानन्तक को उसी से गुणा करने पर या उत्कृष्ट युक्तानन्तक में एक और मिला देने पर जघन्यानन्तानन्तक हो जाता है।

(८) मध्यमानन्तानन्तक-- जघन्यानन्तान्तक से आगे की सब संख्या मध्यमानन्तानन्तक है। उत्कृष्टानन्तानन्तक नहीं होता।

किसी आचार्य का मत है कि जघन्य अनन्तों को तीन बार गुणा करके उसमें छः निम्नलिखित अनन्त बातों को मिलावे। (१) सिद्ध (२) निगोदजीव (३) वनस्पति (४) भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के समय (५) सब पुद्गलपरमाणु और (६) अलोकाकाश। इनको मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो उसे फिर तीन बार गुणा करे। तब भी उत्कृष्टानन्तानन्तक नहीं होता। उसमें केवल ज्ञान और केवल दर्शन के पर्याय मिला देने पर उत्कृष्टानन्तानन्तक होता है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन की पर्यायों में सभी का समावेश हो जाता है। इसलिए उनके मिला देने पर उत्कृष्ट हो जाता है। उसके आगे कोई संख्या नहीं रहती। सूत्रकार के अभिप्राय से तो इस प्रकार भी उत्कृष्ट अनन्तानन्तक नहीं होता। वास्तविक बात तो केवली भगवान् बता सकते हैं। शास्त्रों में जहाँ जहाँ अनन्तानन्तक आया है वहाँ मध्यमानन्तानन्तक ही समझना चाहिए। (अनुयोगद्वार, सूत्र १४६)

६२१- लोकस्थिति आठ

पृथ्वी, जीव, पुद्गल वगैरह लोक जिन पर ठहरा हुआ है उन्हें लोकस्थिति कहते हैं। वे आठ हैं-

(१) आकाश-- तनुवात और घनवात रूप दो तरह का वायु

आकाश के सहारे ठहरा हुआ है। आकाश को किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती। उसके नीचे कुछ नहीं है।
(२) वात- घनोदधि अर्थात् पानी वायु पर स्थिर है।
(३) घनोदधि- रत्नप्रभा वगैरह पृथ्वियाँ घनोदधि पर ठहरी हुई हैं। यद्यपि ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी जहाँ सिद्ध क्षेत्र है, घनोदधि पर ठहरी हुई नहीं है, उसके नीचे आकाश ही है, तो भी बाहुल्य के कारण यही कहा जाता है कि पृथ्वियाँ घनोदधि पर ठहरी हुई हैं।
(४) पृथ्वी- पृथ्वियों पर त्रस और स्थावर जीव ठहरे हैं।
(५) जीव- शरीर आदि पुद्गल रूप अजीव जीवों का आश्रय लेकर ठहरे हुए हैं, क्योंकि वे सब जीवों में स्थित हैं।
(६) कर्म- जीव कर्मों के सहारे ठहरा हुआ है, क्योंकि संसारी जीवों का आधार उदय में नहीं आए हुए कर्म पुद्गल ही हैं। उन्हीं के कारण वे यहाँ ठहरे हुए हैं। अथवा जीव कर्मों के आधार से ही नरकादि गति में स्थिर हैं।
(७) मन और भाषा वर्गणा आदि के परमाणुओं के रूप में अजीव जीवों द्वारा संगृहीत (स्वीकृत) हैं।
(८) जीव कर्मों के द्वारा संगृहीत (बद्ध) हैं।

(भगवती शतक १ उद्देशा ६) (ठाणांग ८, सूत्र ६००)

पाँचवें छठे बोल में आधार आधेय भाव की विवक्षा है और सातवें आठवें बोल में संग्राह्य संग्राहक भाव की विवक्षा है। यही इनमें भेद है। यों संग्राह्य संग्राहक भाव में अर्थापत्ति से आधाराधेय भाव आ ही जाता है।

लोक स्थिति को समझाने के लिए मशक का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मशक को हवा से फुलाकर उसका मुँह बंद कर दिया जाय। इसके बाद मशक के मध्य भाग में गाँठ

लगाकर ऊपर को मुख खोल दिया जाय और उसकी हवा निकाल दी जाय। ऊपर के खाली भाग में पानी भरकर वापिस मुँह बंद कर दिया जाय और बीच की गांठ खोल दी जाय। अब मशक के नीचे के भाग में हवा और हवा पर पानी रहा हुआ है। अथवा जैसे हवा से फूली हुई मशक को कमर पर बाँध कर कोई पुरुष अथाह पानी में प्रवेश करे तो वह पानी की सतह पर ही रहता है। इसी प्रकार आकाश और वायु आदि भी आधाराधेय भाव से अवस्थित हैं।

६२२- अहिंसा भगवती की आठ उपमाएं

हिंसा से विपरीत अहिंसा कहलाती है, अर्थात्- 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' मन, वचन, काया रूप तीन योगों से प्राणियों के दस प्राणों में से किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। इसके विपरीत अहिंसा है। उसका लक्षण इस प्रकार है - 'अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणाऽव्यपरोपणमहिंसा' अप्रमत्तता (सावधानता) से शुभयोग पूर्वक प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना एवं कष्टापन्न प्राणी का कष्ट से उद्धार कर रक्षा करना अहिंसा कहलाती है। समुद्र के अगाध जल में डूबते हुए हिंसक जलजीवों से त्रस्त एवं महान् तरङ्गों से इतस्ततः उछलते हुए प्राणियों के लिए जिस तरह द्वीप आधार होता है उसी प्रकार संसार रूपी सागर में डूबते हुए, सैकड़ों दुःखों से पीड़ित, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग रूप तरङ्गों से भ्रान्तचित्त एवं पीड़ित प्राणियों के लिए अहिंसा द्वीप के समान आधारभूत होती है अथवा जिस तरह अन्धकार में पड़े हुए प्राणी को दीपक अन्धकार का नाश कर इष्ट पदार्थ को ग्रहण कराने आदि में प्रवृत्ति करवाने में कारणभूत होता है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीयादि अन्धकार को नष्ट कर विशुद्धबुद्धि

और प्रभा का प्रदान कर हेयोपादेय पदार्थों में तिरस्कार स्वीकार (अग्रहण और ग्रहण) रूप प्रवृत्ति कराने में कारण होने से अहिंसा दीपक के समान है तथा आपत्तियों से प्राणियों की रक्षा करने वाली होने से हिंसा त्राण तथा शरणरूप है और कल्याणार्थियों के द्वारा आश्रित होने से गति, सब गुणों का आधार एवं सब सुखों का स्थान होने से प्रतिष्ठा आदि नामों से कही जाती है। इस अहिंसा भगवती (दया माता) के ६० नाम कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) निव्वाण (निर्वाण)- मोक्ष का कारण होने से अहिंसा निर्वाण कही जाती है।

(२) निव्वुई (निर्वृत्ति)-मन की स्वस्थता (निश्चिन्तता) एवं दुःख की निवृत्ति रूप होने से अहिंसा को निर्वृत्ति कहा जाता है।

(३) समाही (समाधि)- चित्त की एकाग्रता।

(४) सत्ती (शक्ति)- मोक्ष गमन की शक्ति देने वाली अथवा शान्ति देने वाली।

(५) कित्ती (कीर्ति)- यश कीर्ति की देने वाली।

(६) कंती (कान्ति)- तेज, प्रताप एवं सौन्दर्य और शोभा को देने वाली।

(७) रति- आनन्द दायिनी होने से अहिंसा रति कहलाती है।

(८) सुयङ्ग (श्रुताङ्ग)-श्रुत अर्थात् ज्ञान ही जिसका अङ्ग है ऐसी।

(९) विरति- पाप से निवृत्त कराने वाली।

(१०) तित्ती (तृप्ति)- तृप्ति अर्थात् सन्तोष देने वाली।

(११) दया- सब प्राणियों की रक्षा रूप होने से अहिंसा दया अर्थात् अनुकम्पा है। शास्त्रकारों ने दया की बहुत महिमा बतलाई है और कहा है-'सव्वजगजीवरक्खण दयट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं।'

अर्थात्– सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान् ने प्रवचन कहे हैं अर्थात् सूत्र फरमाए हैं।

(१२) विमुत्ती (विमुक्ति)–संसार के सब बन्धनों से मुक्त कराने वाली होने से अहिंसा विमुक्ति कही जाती है।

(१३) खन्ती (क्षान्ति)– क्रोध का निग्रह कराने वाली।

(१४) सम्मत्ताराहणा (सम्यक्त्वाराधना) — समकित की आराधना कराने वाली।

(१५) महंती (महती)– सब धर्मों का अनुष्ठान रूप होने से अहिंसा महंती कहलाती है, क्योंकि–

एक्कं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥ १॥

अर्थात्– वीतराग देव ने प्राणातिपात विरमण (अहिंसा) रूप एक ही व्रत मुख्य बतलाया है। शेष व्रत तो उसकी रक्षा के लिए ही बतलाए गए हैं।

(१६) बोही (बोधि)– सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने वाली होने से अहिंसा बोधिरूप है अथवा अहिंसा का अपर नाम अनुकम्पा है। अनुकम्पा बोधि (समकित) का कारण है। इसलिए अहिंसा को बोधि कहा गया है।

(१७) बुद्धी (बुद्धि)– अहिंसा बुद्धिप्रदायिनी होने से बुद्धि कहलाती है, क्योंकि कहा है–

बावत्तरिकला कुसला पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं जे धम्म कलं न याणंति॥ १॥

अर्थात्– सब कलाओं में प्रधान अहिंसा रूप धर्मकला से अनभिज्ञ पुरुष शास्त्र में वर्णित पुरुष की ७२ कलाओं में प्रवीण होते हुए भी अपण्डित ही है।

(१८) धित्ती (धृति)– अहिंसा चित्त की दृढ़ता देने वाली होने

से धृति कही जाती है।
(१६) समिद्धी (समृद्धि), (२०) रिद्धी (ऋद्धि), (२१) विद्धी (वृद्धि)- अहिंसा समृद्धि, ऋद्धि और वृद्धि की देने वाली होने से क्रमशः उपरोक्त नामों से पुकारी जाती है।
(२२) ठिती (स्थिति)- मोक्ष में स्थिति कराने वाली होने से अहिंसा स्थिति कहलाती है।
(२३) पुण्य की वृद्धि करने वाली होने से पुट्ठी (पुष्टि), (२४) आनन्द की देने वाली होने से नन्दा, (२५) भद्र अर्थात् कल्याण की देने वाली होने से भद्रा, (२६) पाप का क्षय कर जीव को निर्मल करने वाली होने से विशुद्धि (२७) केवलज्ञानादि लब्धि का कारण होने से अहिंसा लद्धि (लब्धि) कहलाती है। (२८) विसिट्ठदिट्ठी (विशिष्ट दृष्टि) सब धर्मों में अहिंसा ही विशिष्ट दृष्टि अर्थात् प्रधान धर्म माना गया है। यथा-

किं तए पढियाए पयकोडीए पलाल भूयाए।
जत्थेत्तियं न णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥

अर्थात्- प्राणियों को किसी प्रकार की तकलीफ न पहुँचानी चाहिए, यदि यह तत्त्व न सीखा गया तो करोड़ों पद अर्थात् सैकड़ों शास्त्र पढ़ लेने से भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि अहिंसा के विना वे सब पलालभूत अर्थात् निःसार हैं।
(२९) कल्लाणं (कल्याण)- अहिंसा कल्याण की प्राप्ति कराने वाली है। (३०) मंगलं- मं (पापं) गालयतीति मङ्गलं अर्थात् जो पापों को नष्ट करे वह मंगल कहलाता है। मंगं श्रेयः कल्याणं लाति ददातीति मङ्गलं अर्थात् कल्याण को देने वाला मङ्गल कहलाता है। पाप विनाशिनी होने से अहिंसा मङ्गल कहलाती है।
(३१) प्रमोद की देने वाली होने से पमोओ (प्रमोद), (३२) सब विभूतियों की देने वाली होने से विभूति, (३३) सब जीवों की

रक्खा रूप होने से रक्खा, (३४) मोक्ष के अक्षय निवास को देने वाली होने से सिद्धावास, (३५) कर्मबन्ध को रोकने का उपाय रूप होने से अहिंसा अणासवो (अनाश्रव) कहलाती है।

(३६) केवलीण ठाणं- अहिंसा केवली भगवान् का स्थान है अर्थात् केवली प्ररूपित धर्म का मुख्य आधार अहिंसा ही है। इसीलिए अहिंसा केवलीठाण कहलाती है।

(३७) शिव अर्थात् मोक्ष का हेतु होने से सिवं(शिवं),(३८) सम्यक् प्रवृत्ति कराने वाली होने से समिति, (३९) चित्त की समाधि रूप होने से सील (शील), (४०) हिंसा से निवृत्ति कराने वाली होने से संजम (संयम), (४१) चारित्र का घर (आश्रय) होने से सीलपरिघर, (४२) नवीन कर्मों के वन्ध को रोकने वाली होने से संवर, (४३) मन की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाली होने से गुप्ति, (४४) विशिष्ट अध्यवसाय रूप होने से ववसाओ (व्यवसाय), (४५) मन के शुद्ध भावों को उन्नति देने वाली होने से उस्सओ(उच्छ्रय), (४६) भाव से देवपूजा रूप होने से जएणं (यज्ञ), (४७) गुणों का स्थान होने से आयतणं (आयतन), (४८) अभय दान की देने वाली होने से यजना अथवा प्राणियों की रक्षा रूप होने से जतना (यतना), (४९) प्रमाद का त्याग रूप होने से अप्पमाओ (अप्रमाद), (५०) प्राणियों के लिए आश्वासन रूप होने से अस्सासो (आश्वास), (५१) विश्वास रूप होने से वीसासो (विश्वास), (५२) जगत् के सब प्राणियों को अभयदान की देने वाली होने से अभओ (अभय), (५३). किसी भी प्राणी को न मारने रूप होने से अमाघाओ (अमाघात-अमारि), (५४) पवित्र होने से चोक्ख (चोक्ष), (५५) अति पवित्र होने के कारण अहिंसा पवित्त (पवित्र) कही जाती है। (५६) सूती (शुचि)- भाव शुचि रूप होने से अहिंसा

शुचि कही जाती है। कहा भी है-

सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम्॥

अर्थात्- सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियों की दया शुचि है और पाँचवी जल शुचि कही गई है।

उपरोक्त चार भाव शुचि हैं और जलशुचि द्रव्य शुचि है।

(५७) पूया (पूता-पूजा) पवित्र होने से पूता और भाव से देव-पूजा रूप होने से अहिंसा पूजा कही जाती है।

(५८) विमला (स्वच्छ) होने से विमला, (५९) दीप्ति रूप होने से पभासा (प्रभा), (६०) जीव को अति निर्मल बनाने वाली होने से णिम्मलतरा (निर्मलतरा) कही जाती है।

यथार्थ के प्रतिपादक होने से उपरोक्त साठ नाम अहिंसा भगवती (दया माता) के पर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं।

अहिंसा को आठ उपमाएं दी गई हैं-

(१) भयभीत प्राणियों के लिए जिस प्रकार शरण का आधार होता है, उसी प्रकार संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों के लिए अहिंसा आधारभूत है।

(२) जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश का आधार है उसी प्रकार भव्य जीवों को अहिंसा का आधार है।

(३) प्यासे पुरुष को जैसे जल का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को अहिंसा का आधार है।

(४) भूखे पुरुष को जैसे भोजन का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को अहिंसा का आधार है।

(५) समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज या नौका का आधार है उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में चक्कर खाते हुए भव्य प्राणियों को अहिंसा का आधार है।

(६) जिस प्रकार चतुष्पद (पशु) को खूंटे का, (७) रोगी को औषधि का और (८) अटवी (जंगल) में मार्ग भूले हुए पथिक को किसी के साथ का आधार होता है, उसी प्रकार संसार में कर्मों के वशीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार है। त्रस स्थावर आदि सभी प्राणियों के लिए अहिंसा क्षेमंकरी अर्थात् हितकारी है। इसीलिए इसे भगवती कहा गया है। (प्रश्न व्याकरण, प्रथम संवर द्वार)

६२३- संघ की आठ उपमाएं

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, इन चारों तीर्थों के समूह को संघ कहते हैं। नन्दी सूत्र की पीठिका में इसको निम्न लिखित आठ उपमाएं दी गई हैं—

(१) पहली उपमा नगर की दी गई है।

गुणभवणगहण सुयरयणभरिय दंसणविसुद्धरत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते अखंडचारित्तपागार ॥

अर्थात्- जो पिंडविशुद्धि, पाँच समितियाँ, बारह भावनाएं आभ्यन्तर और बाह्य तप, भिक्षु तथा श्रावक की पडिमाएं और अभिग्रह इन उत्तरगुण रूपी भवनों के द्वारा सुरक्षित है; जो शास्त्र रूपी रत्नों से भरा हुआ है; प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य रूप चिह्नों के द्वारा जाने हुए क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व जहाँ मार्ग हैं; अखंड अर्थात् निर्दोष मूलगुण रूपी चारित्र जिस का प्राकार है, ऐसे हे संघ रूपी नगर! तेरा कल्याण हो।

(२) दूसरी उपमा चक्र की दी गई है-

संजमतवतुंबारयस्स नमो सम्मत्तपारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ होउ सया संघचक्कस्स॥

अर्थात्- सतरह प्रकार का संयम जिस की धुरा है, बारह

तरह का तप आरे हैं, सम्यक्त्व जिस की परिधि है, जिसके समान दूसरा कोई चक्र नहीं है, ऐसे संघ रूपी चक्र की सदा जय हो।

(३) तीसरी उपमा रथ से दी गई है-

भद्दं सीलपडागूसियस्स तवनियम तुरयजुत्तस्स ।
संघरहस्स भगवओ सज्झायसुनंदिघोसस्स ॥

जिस पर अठारह हजार शील के अङ्ग रूपी पताकाएं फहरा रही हैं, तप और संयम रूपी घोड़े लगे हुए हैं, पाँच तरह का स्वाध्याय जहाँ मंगलनाद है अथवा धुरी का शब्द है ऐसे संघ भगवान् रूपी रथ का कल्याण हो।

(४) चौथी उपमा कमल से दी गई है-

कम्मरय जलोहविणिग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स ॥
पंच महव्वयथिरकन्नियस्स गुणकेसरालस्स ॥
सावगजणमहुअरिपरिवुडस्स जिणसूरतेयवुद्धस्स ॥
संघपउमस्स भद्दं समणगण सहस्सपत्तस्स ।

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूपी जलाशय से निकला है, जिस तरह कमल जल मे उत्पन्न होकर भी उसके ऊपर उठा रहता है उसी तरह संघ रूपी कमल संसार रूपी या कर्म रूपी जल से उत्पन्न होकर भी उनके ऊपर उठा हुआ है अर्थात् उन से बाहर निकल चुका है। यह नियम है कि जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है वह अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ में आया हुआ जीव संसार से निकला हुआ ही समझना चाहिए।

शास्त्रों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ही जीव कर्म रूपी जल से ऊपर उठता है और शास्त्रों के द्वारा ही धर्म में स्थिर रहता है। इसलिए शास्त्रों को नाल अर्थात् कमल दण्ड कहा गया है।

संघ रूपी पद्म के लिए श्रुतरत्न रूपी लम्बी नाल है।

पाँच महाव्रत रूप कर्णिकाएं अर्थात् शाखाएं हैं जिन पर कमल का पत्ता ठहरा रहता है। उत्तरगुण केसर अर्थात् कमल-रज हैं, जिस तरह कमल का रज चारों तरफ बिखर कर सुगन्ध फैलाता है उसी तरह उत्तरगुण भी उन्हें धारण करने वाले की यश कीर्ति फैलाते हैं। जो सम्यक्त्व तथा अणुव्रतों को धारण करके उत्तरोत्तर विशेष गुणों को प्राप्त करने के लिए समाचारी को सुनते हैं वे श्रावक कहलाते हैं। संघ रूपी पद्म के श्रावक ही भ्रमर हैं।

भ्रमर की तरह श्रावक भी प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा शास्त्ररस ग्रहण करते हैं। जिन्होंने चार घाती कर्मों का क्षय कर दिया है ऐसे जिन रूपी सूर्य के द्वारा संघ रूपी कमल खिलता है। जिन भगवान् ही धर्म के रहस्य की देशना देकर संघ रूपी कमल का विकास करते हैं। छः काया की रक्षा करने वाले तपस्वी, विशुद्धात्मा श्रमणों का समूह ही इसके सहस्र पत्र हैं। ऐसे श्री संघ रूपी कमल का कल्याण हो।

(५) पाँचवी उपमा चन्द्र से दी गई है-

तवसंजममयलंछण अकिरियसहु महदुद्धरिस निच्चं।
जय संघचंद! निम्मल सम्मत्तविशुद्ध जोण्हागा॥

तप और संयम रूपी मृग लाञ्छन अर्थात् मृग के चिह्न वाले, जिनवचन पर श्रद्धा न करने वाले नास्तिक रूपी राहुओं द्वारा दुष्प्राप्य, निर्दोष सम्यक्त्व रूपी विशुद्ध प्रभा वाले हे संघचन्द्र! तेरी सदा जय हो। परदर्शनरूपी तारों से तेरी प्रभा सदा अधिक रहे।

(६) छठी उपमा सूर्य से दी गई है-

परतित्थियगहपहनासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए भद्दं दम संघ सूरस्स॥

एक एक नय को पकड़ कर चलने वाले, सांख्य, योग, न्याय,

वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदि ग्रहों की प्रभा को नष्ट करने वाले, जैसे सूर्योदय होते ही सभी ग्रह और नक्षत्रों की प्रभा फीकी पड़ जाती है, इसी तरह एक एक नय को पकड़ कर चमकने वाले परतीर्थिकों की प्रभा सभी नयों का समन्वय करके चलने वाले स्याद्वाद के उदय होते ही नष्ट हो जाती है। संघ का मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है, इसलिए यह भी परतीर्थिकों की प्रभा को नष्ट करने वाला है। तप का तेज ही जिस में प्रखर प्रभा है। ज्ञान ही जिस का प्रकाश है, ऐसे दम अर्थात् उपशम प्रधान संघ रूपी सूर्य की सदा जय हो।

(७) सातवीं उपमा समुद्र से दी गई है—

भद्दं धिइवेलापरिगयस्स सज्झायजोगमगरस्स।
अक्खोहस्स भगवओ संघसमुद्दस्स रुंदस्स॥

मूल और उत्तर गुणों के विषय में प्रतिदिन बढ़ते हुए आत्मा के परिणाम को धृति कहते हैं। धृति रूपी ज्वार वाले, स्वाध्याय और शुभयोग रूपी मगरों वाले, परिषह और उपसर्गों से कभी क्षुब्ध अर्थात् व्याकुल न होने वाले, सब तरह के ऐश्वर्य, रूप, यश, धर्म, प्रयत्न, लक्ष्मी, उद्यम आदि से युक्त तथा विस्तीर्ण संघरूपी समुद्र का कल्याण हो। कर्मों को विदारण करने की शक्ति स्वाध्याय और शुभयोग में ही है, इसलिए उन्हें मगरमच्छ कहा है।

(८) आठवीं उपमा मेरु पर्वत से दी गई है—

सम्मद्दंसणवरवइरदढरूढगाढावगाढपेढस्स।
धम्मवररयण मंडिअ चामीयरमेहलागस्स॥
नियमूसियकणयसिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स।
नंदणवणमणहरसुरभिसीलगंधुद्धुमायस्स॥
जीवदया सुंदर कंदरुद्दरियमुणिवर मइंदइन्नस्स।
हेउसयधाउपगलंतरयणदित्तोसहिगुहस्स॥

संघ रूपी पद्म के लिए श्रुतरत्न रूपी लम्बी नाल है।

पाँच महाव्रत रूप कर्णिकाएं अर्थात् शाखाएं हैं जिन पर कमल का पत्ता ठहरा रहता है। उत्तरगुण केसर अर्थात् कमल-रज हैं, जिस तरह कमल का रज चारों तरफ बिखर कर सुगन्ध फैलाता है उसी तरह उत्तरगुण भी उन्हें धारण करने वाले की यश कीर्ति फैलाते हैं। जो सम्यक्त्व तथा अणुव्रतों को धारण करके उत्तरोत्तर विशेष गुणों को प्राप्त करने के लिए समाचारी को सुनते हैं वे श्रावक कहलाते हैं। संघ रूपी पद्म के श्रावक ही भ्रमर हैं।

भ्रमर की तरह श्रावक भी प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा शास्त्ररस ग्रहण करते हैं। जिन्होंने चार घाती कर्मों का क्षय कर दिया है ऐसे जिन रूपी सूर्य के द्वारा संघ रूपी कमल खिलता है। जिन भगवान् ही धर्म के रहस्य की देशना देकर संघ रूपी कमल का विकास करते हैं। छः काया की रक्षा करने वाले तपस्वी, विशुद्धात्मा श्रमणों का समूह ही इसके सहस्र पत्र हैं। ऐसे श्री संघ रूपी कमल का कल्याण हो।

(५) पाँचवीं उपमा चन्द्र से दी गई है-

तवसंजममयलंछण अकिरियराहु मुहदुद्धरिस निच्चं।
जय संघचंद ! निम्मल सम्मत्तविसुद्ध जोण्हागा ॥

तप और संयम रूपी मृग लाञ्छन अर्थात् मृग के चिह्न वाले, जिनवचन पर श्रद्धा न करने वाले नास्तिक रूपी राहुओं द्वारा दुष्प्राप्य, निर्दोष सम्यक्त्व रूपी विशुद्ध प्रभा वाले हे संघचन्द्र! तेरी सदा जय हो। परदर्शनरूपी तारों से तेरी प्रभा सदा अधिक रहे।

(६) छठी उपमा सूर्य से दी गई है-

परतित्थियगहपहनासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स।
णाणुज्जोयस्स जए भद्दं दम संघ सूरस्स ॥

एक एक नय को पकड़ कर चलने वाले, सांख्य, योग, न्याय,

वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदि ग्रहों की प्रभा को नष्ट करने वाले, जैसे सूर्योदय होते ही सभी ग्रह और नक्षत्रों की प्रभा फीकी पड़ जाती है, इसी तरह एक एक नय को पकड़ कर चमकने वाले परतीर्थिकों की प्रभा सभी नयों का समन्वय करके चलने वाले स्याद्वाद के उदय होते ही नष्ट हो जाती है। संघ का मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है, इसलिए यह भी परतीर्थिकों की प्रभा को नष्ट करने वाला है। तप का तेज ही जिस में प्रखर प्रभा है। ज्ञान ही जिस का प्रकाश है, ऐसे दम अर्थात् उपशम प्रधान संघ रूपी सूर्य की सदा जय हो।

(७) सातवीं उपमा समुद्र से दी गई है—

भद्दं धिइवेलापरिगयस्स सज्झायजोगमगरस्स।
अक्खोहस्स भगवओ संघसमुद्दस्स रुंदस्स॥

मूल और उत्तर गुणों के विषय में प्रतिदिन बढ़ते हुए आत्मा के परिणाम को धृति कहते हैं। धृति रूपी ज्वार वाले, स्वाध्याय और शुभयोग रूपी मगरों वाले, परिषह और उपसर्गों से कभी क्षुब्ध अर्थात् व्याकुल न होने वाले, सब तरह के ऐश्वर्य, रूप, यश, धर्म, प्रयत्न, लक्ष्मी, उद्यम आदि से युक्त तथा विस्तीर्ण संघरूपी समुद्र का कल्याण हो। कर्मों को विदारण करने की शक्ति स्वाध्याय और शुभयोग में ही है, इसलिए उन्हें मगरमच्छ कहा है।

(८) आठवीं उपमा मेरु पर्वत से दी गई है—

सम्मद्दंसणवरवइरदढरूढगाढावगाढपेढस्स।
धम्मवररयण मंडिअ चामीयरमेहलागस्स॥
नियमूसियकणयसिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स।
नंदणवणमणहरसुरभिसीलगंधुद्धुमायस्स॥
जीवदया सुंदर कंदरुद्दरियमुणिवर मइंदइन्नस्स।
हेउसयधाउपगलंतरयणदित्तोसहिगुहस्स॥

संवरवरजलपगलिय उज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउरवंतमोरनच्चंत कुहरस्स ॥
विणयनयपवरमुणिवर फुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविह गुण कप्परुक्खग फलभर कुसुमाउलवणस्स ॥
नाणवररयणदिप्पंत कंतवेरुलिय विमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥

इन गाथाओं में संघ की उपमा मेरु पर्वत से दी गई है। मेरु पर्वत के नीचे वज्रमय पीठ है, उसी के ऊपर सारा पर्वत ठहरा हुआ है। संघ रूपी मेरु के नीचे सम्यग्दर्शन रूपी वज्र-पीठ है। सम्यग्दर्शन की नींव पर ही संघ खड़ा होता है। संघ में प्रविष्ट होने के लिए सब से पहिली बात है सम्यक्त्व की प्राप्ति। मेरु के वज्रपीठ की तरह संघ का सम्यग्दर्शन रूपी पीठ भी दृढ़, रूढ़ अर्थात् चिरकाल से स्थिर, गाढ़ अर्थात् ठोस तथा अवगाढ़ अर्थात् गहरा धँसा हुआ है। शङ्का, कांक्षा आदि दोषों से रहित होने के कारण परतीर्थिक रूप जल का प्रवेश नहीं होने से सम्यग्दर्शन रूपी पीठ दृढ़ है अर्थात् विचलित नहीं हो सकता। चिन्तन, आलोचन, प्रत्यालोचन आदि से प्रतिसमय अधिकाधिक विशुद्ध होने के कारण चिरकाल तक रहने से रूढ़ है। तत्त्वविषयक तीव्र रुचि वाला होने से गाढ़ है। जीवादि पदार्थों के सम्यग्ज्ञान युक्त होने से हृदय में बैठा हुआ है अर्थात् अवगाढ़ है।

मेरु पर्वत के चारों तरफ रत्न जड़ी हुई सोने की मेखला है। संघरूपी मेरु के चारों तरफ उत्तरगुण रूपी रत्नों से जड़ी हुई मूलगुण रूपी मेखला है। मूलगुण उत्तरगुणों के बिना शोभा नहीं देते इसलिए मूलगुणों को मेखला और उत्तरगुणों को उसमें जड़े हुए रत्न कहा है। मेरु गिरि के ऊँचे, उज्ज्वल

और चमकीले शिखर हैं। संघमेरु के चित्त रूपी शिखर हैं। अशुभ विचारों के हट जाने से वे हमेशा ऊँचे उठे हुए हैं। प्रत्येक समय कर्मरूपी मैल के दूर होने से उज्वल हैं। उत्तरोत्तर सूत्रार्थ का स्मरण करने से हमेशा दीप्त अर्थात् चमकीले हैं। मेरुपर्वत नन्दन वन की मनोहर सुगन्ध से पूर्ण है। संघमेरु में सन्तोष ही नन्दन वन है, क्योंकि वह आनन्द देता है। वह नन्दन औषधियों और लब्धियों से भरा होने के कारण मनोहर है। शुद्ध चारित्र रूप शील ही उसकी गन्ध है। इन सब बातों से संघरूपी मेरु सुशोभित है। मेरु की गुफाओं में सिंह रहते हैं। संघ रूपी मेरु में दया रूप धर्म ही गुफा है, क्योंकि दया अपने और दूसरे सभी को आराम देती है। इस गुफा मे कर्मरूपी शत्रु को जीतने के लिए उदर्पित अर्थात् घमण्ड वाले और परतीर्थिक रूपी मृगों को पराजित करने से मृगेन्द्र रूप मुनिवर निवास करते हैं। मेरु पर्वत में चन्द्र के प्रकाश से झरने वाली चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, सोना चाँदी आदि धातुएं तथा बहुत सी चमकीली औषधियाँ होती हैं। संघमेरु में अन्वय व्यतिरेक रूप सैकड़ों हेतु धातुएं हैं, मिथ्या युक्तियों का खण्डन करने से वे स्वभावतः चमक रहे हैं। शास्त्र रूपी रत्न हैं जो हमेशा क्षायोपशमिक आदि भाव तथा चारित्र को झरते (बताते) रहते हैं। आमर्शौषधि वगैरह औषधियाँ उनको व्याख्यानशाला रूप गुफाओं में पाई जाती हैं। मेरु पर्वत में शुद्ध जल के झरते हुए झरने हार की तरह मालूम पड़ते हैं। संघमेरु में प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों के त्याग स्वरूप संवर रूपी श्रेष्ठ जल के झरने झरते हुए हार हैं। कर्म मल को धोने वाला, सांसारिक तृष्णा को दूर करने वाला तथा परिणाम में लाभकारी होने से संवर को श्रेष्ठ जल कहा है। मेरु पर्वत पर मोर नाचने

हैं। संघमेरु में भी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं का गुणग्राम करते हुए श्रावक मोर हैं। वे भी भगवान् की भक्ति और गुणग्राम से बहुत प्रसन्न होते हैं। मेरु पर्वत के शिखर बिजलियों से चमकते रहते हैं। संघमेरु के आचार्य उपाध्यायादि पदवी धारी शिखर विनय से नमे हुए साधु रूपी बिजलियों से चमक रहे हैं। विनय आदि तप के द्वारा दीप्त होने के कारण साधुओं को बिजली कहा है। मेरु पर्वत में विविध प्रकार के कल्पवृक्षों से भरे हुए कुसुमों से व्याप्त अनेक वन हैं। संघ मेरु में विविध गुण वाले साधु कल्पवृक्ष हैं क्योंकि वे विशेष कुल में उत्पन्न हुए हैं तथा परमसुख के कारणभूत धर्म रूपी फल को देने वाले हैं। साधु रूपी कल्प-वृक्षों द्वारा उपदेश किया गया धर्म फल के समान है। नाना प्रकार की ऋद्धियाँ कुल हैं और अलग अलग गच्छ वन हैं। मेरु पर्वत पर वैडूर्यमणि की चोटी है, वह चमकीली तथा निर्मल है। संघमेरु की ज्ञान रूपी चूड़ा है। वह भी दीप्त है और भव्य जनों के मन को हरण करने वाली होने से विमल है। इस प्रकार संघ रूपी मेरु के महात्म्य को मैं नमस्कार करता हूँ।

(नन्दी पीठिका गाथा ४–१७ मलयगिरि टीका)



नवां बोल संग्रह

६२४- भगवान् महावीर के शासन में तीर्थंकर गोत्र बाँधने वाले जीव नौ

जिस नाम कर्म के उदय से जीव तीर्थङ्कर रूप में उत्पन्न हो उसे तीर्थङ्कर गोत्र नामकर्म कहते हैं।

भगवान् महावीर के समय में नौ व्यक्तियों ने तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा था। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) श्रेणिक राजा।

(२) सुपार्श्व- भगवान् महावीर के चाचा।

(३) उदायी- कोणिक का पुत्र। कोणिक के बाद उसने पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। वह शास्त्रज्ञ और चारित्रवान् गुरु की सेवा किया करता था। आठम चौदस वगैरह पर्वों पर पोसा वगैरह किया करता था। धर्माराधन में लीन रहता और श्रावक के व्रतों को उत्कृष्ट रूप से पालता था। किसी शत्रुराजा ने उदायी का सिर काट कर लाने वाले के लिए बहुत पारितोषिक देने की घोषणा कर रक्खी थी। साधु के वेश में इस दुष्कर्म को सुसाध्य समझ कर एक अभव्य जीव ने दीक्षा ली। बारह वर्ष तक द्रव्य संयम का पालन किया। दिखावटी विनय आदि से सब लोगों में अपना विश्वास जमा लिया।

एक दिन उदायी राजा ने पोसा किया। रात को उस धूर्त साधु ने छुरी से राजा का सिर काट लिया। उदायी ने शुभ

ध्यान करते हुए तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा।

(४) पोट्टिल अनगार— अनुत्तरोववाई सूत्र में पोट्टिल अनगार की कथा आई है। हस्तिनागपुर में भद्रा नाम की सार्थवाही का एक लड़का था। बत्तीस स्त्रियाँ छोड़कर भगवान् महावीर का शिष्य हुआ। एक महीने की संलेखना के बाद सर्वार्थ सिद्ध नामक विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ से चवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

यहाँ बताया गया है कि वे तीर्थङ्कर होकर भरत क्षेत्र से ही सिद्धि प्राप्त करेंगे। इस से मालूम होता है, ये पोट्टिल अनगार दूसरे हैं।

(५) दृढायु— इनका वृत्तान्त प्रसिद्ध नहीं है।

(६-७) शंख और पोखली (शतक) श्रावक।

चौथे आरे में जिस समय भगवान् महावीर भरत क्षेत्र में भव्य प्राणियों को प्रतिबोध दे रहे थे, उस समय श्रावस्ती नाम की एक नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नाम का चैत्य था। श्रावस्ती नगरी में शंख वगैरह बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे धन धान्य से सम्पन्न थे, विद्या बुद्धि और शक्ति तीनों के कारण सर्वत्र सन्मानित थे। जीव अजीव आदि तत्त्वों के जानकार थे।

शंख श्रावक की उत्पला नाम की भार्या थी। वह बहुत सुन्दर, सुकुमार तथा सुशील थी। नव तत्त्वों को जानती थी। श्रावक के व्रतों को विधिवत् पालती थी। उसी नगरी में पोखली नाम का श्रावक भी रहता था। बुद्धि, धन और शक्ति से सम्पन्न था। सब तरह से अपरिभूत तथा जीवादि तत्त्वों का जानकार था।

एक दिन की बात है, श्रमण भगवान् महावीर विहार करते हुए श्रावस्ती के उद्यान में पधारे। सभी नागरिक धर्म कथा सुनने के लिए गए। शंख आदि श्रावक भी गए। उन्होंने भगवान् को वन्दना की, धर्म कथा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। भगवान्

के पास जाकर वन्दना नमस्कार करके प्रश्न पूछे। इसके बाद परम आनन्दित होते हुए भगवान् को फिर वन्दना की। कोष्ठक नामक चैत्य से निकल कर श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में शंख ने दूसरे श्रावकों से कहा- देवानुप्रियो! घर जाकर आहार आदि सामग्री तैयार करो। हम लोग पाक्षिक पौषध *(दया) अङ्गीकार करके धर्म की आराधना करेंगे। सब श्रावकों ने शंख की यह बात मान ली।

इसके बाद शंख ने मन में सोचा- 'अशनादि का आहार करते हुए पाक्षिक पौषध का आराधन करना मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है। मुझे तो अपनी पौषधशाला में मणि और सुवर्ण का त्याग करके, माला, उद्वर्तन (मसी आदि लगाना) और विलेपन आदि छोड़कर, शस्त्र और मूसल आदि का त्याग कर, दर्भ का संथारा (बिस्तर) बिछाकर, अकेले बिना किसी दूसरे की सहायता के पौषध की आराधना करनी चाहिए।' यह सोच कर वह घर आया और अपनी स्त्री के सामने अपने विचार प्रकट किये। फिर पौषधशाला में जाकर विधिपूर्वक पौषध ग्रहण करके बैठ गया।

दूसरे श्रावकों ने अपने अपने घर जाकर अशन आदि तैयार कराए। एक दूसरे को बुलाकर कहने लगे- हे देवानुप्रियो! हमने पर्याप्त अशनादि तैयार करवा लिये हैं, किन्तु शंखजी अभी तक नहीं आए। इसलिए उन्हें बुला लेना चाहिये।

इस पर पोखली श्रमणोपासक बोला- 'देवानुप्रियो! आप

---

* आठम चौदस या पक्खी आदि पर्व पौषध कहलाते हैं। उन तिथियों पर पन्द्रह पन्द्रह दिन में जो पोसा किया जाय वह पाक्षिक पौषध है। इसी को दया कहते हैं। छः कायों की दया पालते हुए सब प्रकार के सावद्य व्यापार का एक करण एक योग या दो करण तीन योग से त्याग करना दया है।

लोग चिन्ता मत कीजिए। मैं स्वयं जाकर शंखजी को बुला लाता हूँ ' यह कह कर वह वहाँ से निकला और श्रावस्ती के बीच से होता हुआ शंख श्रमणोपासक के घर पहुँचा।

घर में प्रवेश करते ही उत्पला श्रमणोपासिका ने पोखली श्रमणोपासक को देखा। देख कर वह बहुत प्रसन्न हुई। अपने आसन से उठकर सात आठ कदम उनके सामने गई। पोखली श्रावक को वन्दना नमस्कार किया। उन्हें आसन पर बैठने के लिये उपनिमन्त्रित किया। श्रावक के बैठ जाने पर उसने विनय पूर्वक कहा- हे देवानुप्रिय! कहिए! आपके पधारने का क्या प्रयोजन है? पोखली श्रावक ने पूछा- देवानुप्रिये! शंख श्रमणोपासक कहाँ हैं? उत्पला ने उत्तर दिया- शंख श्रमणो-पासक तो पौषधशाला में पोसा करके ब्रह्मचर्य आदि व्रत ले कर धर्म का आराधन कर रहे हैं।

पोखली श्रमणोपासक पौषधशाला में शंख के पास आए। वहाँ आकर गमनागमन (ईर्यावहि) का प्रतिक्रमण किया। इसके बाद शंख श्रमणोपासक को वन्दना नमस्कार करके बोला, हे देवानुप्रिय! आपने जैसा कहा था, पर्याप्त अशन आदि तैयार करवा लिये गए हैं। हे देवानुप्रिय! आइये! वहाँ चलें और आहार करके पाक्षिक पौषध की आराधना तथा धर्म जागृति करें। इसके बाद शंख ने पोखली से कहा- हे देवानुप्रिय! मैंने पौषधशाला में पोसा ले लिया है। अतः मुझे अशनादि का सेवन करना नहीं कल्पता। मुझे तो विधिपूर्वक पोसे का पालन करना चाहिए। आप लोग अपनी इच्छानुसार उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का सेवन करते हुए धर्म की जागरणा कीजिए।

इसके बाद पोखली पौषधशाला से बाहर निकला। नगरी

के बीच से होता हुआ श्रावकों के पास आया। उसने कहा— हे देवानुप्रियो! शंखजी तो पौषधशाला में पोसा लेकर धर्म की आराधना कर रहे हैं। वे अशन आदि का सेवन नहीं करेंगे। इसलिए आप लोग यथेच्छ आहार करते हुए धर्म की आराधना कीजिए। श्रावकों ने वैसा ही किया।

उसी रात्रि के मध्यभाग में धर्मजागरणा करते हुए शंख के मन में यह बात आई कि मुझे सुबह श्रमण भगवान् को वन्दना नमस्कार करके लौटकर पोसा पारना चाहिए। यह सोचकर वह सुबह होते ही पौषधशाला से निकला। शुद्ध, बाहर जाने के योग्य मांगलिक वस्त्रों को अच्छी तरह पहिन कर घर से बाहर आया। श्रावस्ती के बीच से होता हुआ पैदल कोष्ठक चैत्य में भगवान् के पास पहुँचा। भगवान् को वन्दना की। नमस्कार किया। पर्युपासना (सेवाभक्ति) करके एक स्थान पर बैठ गया। उस समय शंखजी ने अभिगम नहीं किए।

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ में निम्न लिखित पाँच अभिगम बताए गए हैं। धर्मस्थान में पहुँचने पर इनका पालन करके फिर वन्दना नमस्कार करना चाहिए।

(१) अपने पास अगर कोई सचित्त वस्तु हो तो उसे अलग रख दे। (२) अचित्त वस्तुओं को न त्यागे। (३) अंगोछा या चद्दर वगैरह ओढ़ने के वस्त्र का उत्तरासङ्ग करे। (४) साधु वगैरह को देखते ही दोनों हाथ जोड़ कर ललाट पर रख ले। (५) मन को एकाग्र करे। इनका विशेष स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ३१४ में दे दिया गया है।

शंख श्रावक पोसे में आए थे। उनके पास सचित्तादि वस्तुएं नहीं थीं। इसलिए उन्होंने अभिगम नहीं किए।

दूसरे श्रावक भी सुबह स्नानादि के बाद शरीर को अलंकृत

एक दिन स्वर्ग में इन्द्र द्वारा सुलसा के दृढ़ सम्यक्त्व की प्रशंसा सुन कर एक देव ने परीक्षा लेने की ठानी। साधु का रूप बना कर सुलसा के घर आया। सुलसा ने कहा– पधारिये महाराज! क्या आज्ञा है? देव बोला– तुम्हारे घर में लक्षपाक तेल है। मुझे किसी वैद्य ने बताया है, उसे दे दो। 'लाती हूँ' यह कह कर वह कोठार में गई। जैसे ही वह तेल को उतारने लगी देव ने अपने प्रभाव से बोतल (भाजन) फोड़ डाली। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बोतल भी फोड़ डाली। सुलसा वैसे ही शान्तचित्त खड़ी रही। देव उसकी दृढ़ता को देख कर प्रसन्न हुआ। उसने सुलसा को बत्तीस गोलियाँ दीं और कहा– एक एक खाने से तुम्हारे बत्तीस पुत्र होंगे। कोई दूसरा काम पड़े तो मुझे अवश्य याद करना। मैं उपस्थित हो जाऊँगा। यह कह कर वह चला गया।

'इन सभी से मुझे एक ही पुत्र हो' यह सोच कर उसने सभी गोलियाँ एक साथ खाली। उसके पेट में बत्तीस पुत्र आगये और कष्ट होने लगा। देव का ध्यान किया। देव ने उन पुत्रों को लक्षण के रूप में बदल दिया। यथासमय सुलसा के बत्तीस लक्षणों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ।

किसी आचार्य का मत है कि ३२ पुत्र उत्पन्न हुए थे।

(६) रेवती– भगवान् महावीर को औषध देने वाली।

विहार करते हुए भगवान् महावीर एक बार मेंढिक नाम के गाँव में आए। वहाँ उन्हें पित्तज्वर होगया। सारा शरीर जलने लगा। आम पड़ने लगे। लोग कहने लगे, गोशालक ने अपने तप के तेज से महावीर का शरीर जला डाला। छः महीने के अन्दर इनका देहान्त हो जायगा। वहीं पर सिंह नाम का मुनि रहता था। आतापना के बाद वह सोचने लगा, मेरे

धर्माचार्य भगवान् महावीर को ज्वर हो रहा है। दूसरे लोग कहेंगे, भगवान् महावीर को गोशालक ने अपने तेज से अभिभूत कर दिया। इसलिए आयु पूरी होने के पहले ही काल कर गए। इस प्रकार की भावना से उसके हृदय में दुःख हुआ। एक वन में जाकर जोर जोर से रोने लगा। भगवान् ने दूसरे स्थविरों के द्वारा उसे बुला कर कहा—सिंह! तुमने जो कल्पना की है वह नहीं होगी। मैं कुछ कम सोलह वर्ष की कैवल्य पर्याय को पूरा करूँगा।

नगर में रेवती नाम की गाथापत्नी (गृहपत्नी) ने दो पाक तैयार किए हैं। उनमें कूष्माण्ड अर्थात् कोहलापाक मेरे लिए तैयार किया है। उसे मत लाना। वह अकल्पनीय है। दूसरा बिजौरा पाक घोड़ों की वायु दूर करने के लिए तैयार किया है। उसे ले आओ।

रेवती ने बहुमान के साथ आत्मा को कृतार्थ समझते हुए बिजौरा पाक मुनि को वहरा दिया। मुनि ने लाकर भगवान् को दिया। उसके खाने से रोग दूर हो गया। सभी मुनि तथा देव प्रसन्न हुए। रेवती ने तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा।

(ठाणांग ६, सूत्र ६६१)

६२५– भगवान् महावीर के नौ गण

जिन साधुओं की क्रिया और वाचना एक सरीखी हो उन्हें गण कहते हैं। भगवान् महावीर के नौ गण थे–

(१) गोदास गण –गोदास भद्रबाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। इन्हीं के नाम से पहला गण प्रचलित हुआ।

(२) उत्तरबलिस्सह गण– उत्तरबलिस्सह स्थविर महागिरि के प्रथम शिष्य थे। इनके नाम से भगवान् महावीर का दूसरा गण प्रचलित हुआ।

(३) उद्देह गण (४) चारण गण (५) उडुवाति गण (६) विस्स-

वातित गण (७) कामर्द्धि गण (८) मानव गण (९) कोटिक गण।

(ठाणांग, सूत्र ६८०)

६२६–मनःपर्ययज्ञान के लिए आवश्यक नौ बातें

मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होने के लिए नीचे लिखी नौ बातें जरूरी हैं—

(१) मनुष्यभव (२) गर्भज (३) कर्मभूमिज (४) संख्यात वर्ष की आयु (५) पर्याप्त (६) सम्यग्दृष्टि (७) संयम (८) अप्रमत्त (९) ऋद्धिप्राप्त आर्य। (नन्दी, सूत्र १७)

६२७– पुण्य के नौ भेद

शुभ कर्मों के बन्ध को पुण्य कहते है। पुण्य के नौ भेद हैं-

अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनासनम्।
शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम्॥

(१) अन्नपुण्य- पात्र को अन्न देने से तीर्थङ्कर नाम वगैरह शुभ प्रकृतियों का बँधना।

(२) पानपुण्य- दूध, पानी वगैरह पीने की वस्तुओं को देने से होने वाला शुभ बन्ध।

(३) वस्त्रपुण्य- कपड़े देने से होने वाला शुभ बन्ध।

(४) लयनपुण्य- ठहरने के लिए स्थान देने से होने वाला शुभ कर्मों का बन्ध।

(५) शयनपुण्य- बिछाने के लिए पाटा बिस्तर और स्थान आदि देने से होने वाला पुण्य।

(६) मनःपुण्य- गुणियों को देख कर मन में प्रसन्न होने से शुभ कर्मों का बँधना।

(७) वचनपुण्य- वाणी के द्वारा दूसरे की प्रशंसा करने से होने वाला शुभ बन्ध।

(८) कायपुण्य- शरीर से दूसरे की सेवा भक्ति आदि करने से

होने वाला शुभ बन्ध।

(९) नमस्कारपुण्य- नमस्कार से होने वाला पुण्य।

(ठाणांग ९, सूत्र ६७६)

६२८- ब्रह्मचर्यगुप्ति नौ

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या अर्थात् लीन होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। सांसारिक विषयवासनाएं जीव को आत्मचिन्तन से हटा कर बाह्य विषयों की ओर खींचती हैं। उनसे बचने का नाम ब्रह्मचर्यगुप्ति है, अथवा वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है। वीर्य रहित पुरुष लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी तरह की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बातें आवश्यक हैं। इनके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। वे इस प्रकार हैं-

(१) ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से अलग स्थान में रहना चाहिए। जिस स्थान में देवी, मानुषी या तिर्यञ्च का वास हो, वहाँ न रहे। उनके पास रहने से विकार होने का डर है।

(२) स्त्रियों की कथा वार्ता न करे। अर्थात् अमुक स्त्री सुन्दर है या अमुक देशवाली ऐसी होती हैं, इत्यादि बातें न करे।

(३) स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उनके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे अथवा स्त्रियों में अधिक न आवे जावे। उनसे सम्पर्क न रक्खे।

(४) स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अङ्गों को न देखे। यदि अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो उनका ध्यान न करे और शीघ्र ही उन्हें भूल जाय।

(५) जिसमें घी वगैरह टपक रहा हो ऐसा पक्वान्न या गरिष्ठ भोजन न करे, क्योंकि गरिष्ठ भोजन विकार उत्पन्न करता है।

(६) रूखा सूखा भोजन भी अधिक न करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो हिस्से पानी से तथा एक हिस्सा हवा के लिए छोड़ दे। इससे मन स्वस्थ रहता है।

(७) पहिले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

(८) स्त्रियों के शब्द, रूप या ख्याति (वर्णन) वगैरह पर ध्यान न दे, क्योंकि इन से चित्त में चञ्चलता पैदा होती है।

(९) पुण्योदय के कारण प्राप्त हुए अनुकूल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वगैरह के सुखों में आसक्त न हो।

इन बातों का पालन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है। इनके विपरीत ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्तियाँ हैं।

(ठाणांग, सूत्र ६६३) (समवायांग, ९)

नोट- उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थान कहे गए हैं। वे दृष्टान्तों के साथ दसवें बोल संग्रह में दिए जायेंगे।

६२९- निव्विगई पच्चक्खाण के नौ आगार

विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को 'विकृति' कहते हैं। विकृतियाँ भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार की हैं। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और पक्वान्न ये भक्ष्य विकृतियाँ हैं। मांसादि अभक्ष्य विकृतियाँ हैं। अभक्ष्य का तो श्रावक को त्याग होता ही है। भक्ष्य विकृतियाँ छोड़ने को निव्विगई पच्चक्खाण कहते हैं। इसमें नौ आगार होते हैं-

(१) अणाभोगेणं (२) सहसागारेणं (३) लेवालेवेणं (४) गिहत्थसंसट्ठेणं (५) उक्खित्तविवेगेणं (६) पडुच्चमक्खिएणं (७) पारिट्ठावणियागारेणं (८) महत्तरागारेणं (९) सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

इनमें से आठ आगारों का स्वरूप आठवें बोल संग्रह बोल नं०

५८८ में दे दिया गया है। पडुच्चमक्खिएणं का स्वरूप इस प्रकार है- भोजन बनाते समय जिन चीजों पर सिर्फ अंगुली से घी तेल आदि लगा हो ऐसी चीजों को लेना।

ये सब आगार मुख्य रूप से साधु के लिए कहे गए हैं। श्रावक को अपनी मर्यादानुसार स्वयं समझ लेने चाहिए।

(हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्यन)

६३०- विगय नौ

शरीरपुष्टि के द्वारा इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले अथवा मन में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहते हैं। संयमी को यथाशक्ति इनका त्याग करना चाहिए। ये नौ हैं-

(१) दूध- बकरी, भेड़, गाय, भैंस और ऊँटनी (सांढ) के भेद से यह पाँच प्रकार का है।

(२) दही- यह चार प्रकार का है। ऊँटनी के दूध का दही, मक्खन और घी नहीं होता।

(३) मक्खन- यह भी चार प्रकार का होता है।

(४) घी- यह भी चार प्रकार का होता है।

(५) तेल- तिल, अलसी, कुसुम्भ और सरसों के भेद से यह चार प्रकार का है। बाकी तेल लेप हैं, विगय नहीं हैं।

(६) गुड़- यह दो तरह का होता है। ढीला और पिण्ड अर्थात् बंधा हुआ। यहाँ गुड़ शब्द से खांड, चीनी, मिश्री आदि सभी मीठी वस्तुएं ली जाती हैं।

(७) मधु- यह तीन प्रकार का होता है। मक्खियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ, कुन्ती फूलों का तथा भ्रमरों द्वारा फूलों से इकट्ठा किया हुआ।

(८) मद्य- शराब। यह कई तरह की होती है।

(९) मांस।

इनमें मद्य और मांस तो सर्वथा वर्जित हैं। श्रावक इनका सेवन नहीं करता। बाकी का भी यथाशक्ति त्याग करना चाहिए।

(ठाणांग, सुत्र ६७४) (हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यान अध्ययन)

६३१ भिक्षा की नौ कोटियाँ

निर्ग्रन्थ साधु को नौ कोटियों से विशुद्ध आहार लेना चाहिए।

(१) साधु आहार के लिए स्वयं जीवों की हिंसा न करे।

(२) दूसरे द्वारा हिंसा न करावे।

(३) हिंसा करते हुए का अनुमोदन न करे, अर्थात् उसे भला न समझे।

(४) आहार आदि स्वयं न पकावे।

(५) दूसरे से न पकवावे।

(६) पकाते हुए का अनुमोदन न करे।

(७) स्वयं न खरीदे।

(८) दूसरे को खरीदने के लिए न कहे।

(९) खरीदते हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन न करे।

ऊपर लिखी हुई सभी कोटियाँ मन, वचन और काया रूप तीनों योगों से हैं।

(ठाणांग, सुत्र ६८१) (आचारांग अध्ययन २ उद्देशा ५ सुत्र ८८,८९)

६३२–संभोगी को विसंभोगी करने के नौ स्थान

नौ कारणों से किसी साधु को संभोग से अलग करने वाला साधु जिन शासन की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

(१) आचार्य से विरुद्ध चलने वाले साधु को।

(२) उपाध्याय से विरुद्ध चलने वाले को।

(३) स्थविर से विरुद्ध चलने वाले को।

(४) साधुकुल के विरुद्ध चलने वाले को।

(५) गण के प्रतिकूल चलने वाले को।

(६) संघ से प्रतिकूल चलने वाले को ।
(७) ज्ञान से विपरीत चलने वाले को ।
(८) दर्शन से विपरीत चलने वाले को ।
(९) चारित्र से विपरीत चलने वाले को ।

इन्हीं कारणों का सेवन करने वाले प्रत्यनीक कहलाते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ६६१)

६३३- तत्त्व नौ

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं। इन्हें सद्भाव पदार्थ भी कहा जाता है। तत्त्व नौ हैं-

जीवाऽजीवा पुण्णं पापाऽऽसव संवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥

(नवतत्त्व, गाथा १)

(१) जीव- जिसे सुख दुःख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, उसे जीव कहते हैं।

(२) अजीव- जड़ पदार्थों को या सुख दुःख के ज्ञान तथा उपयोग से रहित पदार्थों को अजीव कहते हैं।

(३) पुण्य- कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ पुण्य कहलाती हैं।

(४) पाप- कर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ पाप कहलाती हैं।

(५) आस्रव- शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का कारण आस्रव कहलाता है।

(६) संवर- समिति गुप्ति वगैरह से कर्मों के आगमन को रोकना संवर है।

(७) निर्जरा- फलभोग या तपस्या के द्वारा कर्मों को धीरे धीरे खपाना निर्जरा है।

(८) बन्ध- आस्रव के द्वारा आए हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है।

(९) मोक्ष– सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना मोक्ष है। (ठाणांग, सूत्र ६६५)

तत्त्वों के अवान्तर भेद

उपरोक्त नव तत्त्वों में जीव तत्त्व के ५६३ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं– नारकी के १४, तिर्यञ्च के ४८, मनुष्य के ३०३ और देवता के १९८ भेद हैं।

नारकी जीवों के १४ भेद

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा ये सात नरकों के गोत्र तथा घम्मा, वंसा, शीला, अञ्जना, अरिष्ठा, मघा और माघवती ये सात नरकों के नाम हैं। इन सात में रहने वाले जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से नारकी जीवों के १४ भेद होते हैं। इनका विस्तार द्वितीय भाग सातवें बोल संग्रह के बोल नं० ५६० में दिया है।

तिर्यञ्च के ४८ भेद

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय के सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं। इस प्रकार १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण तीन भेद होते हैं। इन तीनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये छः भेद होते हैं। कुल मिला कर एकेन्द्रिय के २२ भेद हुए।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ६ भेद होते हैं।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के वीस भेद– जलचर, स्थलचर, खेचर उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प इनके संज्ञी असंज्ञी के भेद से दस भेद होते हैं। इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से वीस भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६ और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के २०, कुल मिलाकर तिर्यञ्च के ४८ भेद होते हैं।

मनुष्य के ३०३ भेद

कर्मभूमिज मनुष्य के १५ अर्थात् ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह में उत्पन्न मनुष्यों के १५ भेद। अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) मनुष्य के ३० भेद अर्थात् ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यकवास, ५ हैमवत, और ५ हैरण्यवत क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के ३० भेद। ५६ अन्तरद्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के ५६ भेद। ये सब मिलाकर गर्भज मनुष्य के १०१ भेद होते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से २०२ भेद होते हैं और सम्मूर्च्छिम मनुष्य के १०१ भेद। कुल मिलाकर मनुष्य के ३०३ भेद होते हैं। कर्मभूमिज आदि का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ७२ में दे दिया गया है।

देवता के १९८ भेद

भवनपति के १० अर्थात् असुर कुमार, नाग कुमार, सुवर्ण कुमार, विद्युत् कुमार, अग्नि कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार, दिशा कुमार, पवन कुमार और स्तनित कुमार।

परमाधार्मिक देवों के १५ भेद– अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शवल, रौद्र, महारौद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष, कुम्भ, वालुका, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष।

वाणव्यन्तर के २६ भेद अर्थात् पिशाचादि ८ (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व)। आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कन्दे, महाकन्दे, कूहण्डे, पयंगदेवे)। जृम्भक दस (अन्न जृम्भक, पानजृम्भक लयन जृम्भक, शयन जृम्भक, वस्त्र जृम्भक, फल जृम्भक, पुष्प जृम्भक, फलपुष्प जृम्भक, विद्या जृम्भक, अग्नि जृम्भक)।

ज्योतिषी देवों के ५ भेद– चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा। इनके चर (अस्थिर) अचर (स्थिर) के भेद से दस भेद हो जाते

हैं। इनका विशेष स्वरूप इसके प्रथम भाग पाँचवाँ बोल संग्रह बोल नं० ३६६ में दे दिया गया है।

वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न और कल्पातीत दो भेद हैं। इनमें कल्पोपपन्न के सौधर्म, ईशान आदि १२ भेद होते हैं।

कल्पातीत के दो भेद- ग्रैवेयक और अनुत्तर वैमानिक। भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमनस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, आमोह, सुप्रतिबद्ध, यशोधर ये ग्रैवेयक के नौ भेद हैं और विजय, वैजयन्त आदि के भेद से अनुत्तर वैमानिक के ५ भेद हैं।

तीन किल्विषिक देव- (१) त्रैपल्योपमिक (२) त्रैसागरिक और (३) त्रयोदश सागरिक। इनकी स्थिति क्रमशः तीन पल्योपम, तीन सागर और तेरह सागर की होती है। इनकी स्थिति के अनुसार ही इनके नाम हैं। समानाकार में स्थित प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे त्रैपल्योपमिक, तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे त्रैसागरिक और छठे देवलोक के नीचे त्रयोदश सागरिक किल्विषिक देव रहते हैं।

लौकान्तिक देवों के नौ भेद- सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोयक, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और अरिष्ट।

इस प्रकार १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाणव्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक, ९ लौकान्तिक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक, कुल मिलाकर ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से देवता के १९८ भेद होते हैं।

नारकी के १४, तिर्यञ्च के ४८, मनुष्य के ३०३ और देवता के १९८ भेद, कुल मिलाकर जीव के ५६३ भेद हुए।

(पन्नवणा पद १) (जीवाभिगम) (उत्तराध्ययन अध्ययन ३६)

अजीव के ५६० भेद–

अजीव के दो भेद–रूपी और अरूपी। अरूपी अजीव के ३० भेद। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। प्रत्येक के स्कन्ध, देश, प्रदेश के भेद से ६ और काल द्रव्य, ये दस भेद। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्रव्य का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के द्वारा जाना जाता है। इसलिए प्रत्येक के ५- ५ भेद होते हैं। इस प्रकार अरूपी अजीव के ३० भेद हुए।

रूपी अजीव के ५३० भेद

परिमण्डल, वर्त, त्र्यस्र, चतुरस्र, आयत इन पॉच संस्थानों के ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और आठ स्पर्श की अपेक्षा प्रत्येक के २०-२० भेद हो जाते हैं। अतः संस्थान के १०० भेद हुए।

काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद इन पांच वर्णों के भी उपरोक्त प्रकार से १०० भेद होते हैं। तिक्त, कटु, कषाय, खट्टा और मीठा इन पांच रसों के भी १०० भेद हैं।

सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रत्येक के २३-२३ भेद =४६।

स्पर्श के आठ भेद खर, कोमल, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष। प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध और ६ स्पर्श की अपेक्षा २३ भेद हो जाते हैं। २३×८ = १८४।

इस प्रकार अरूपी के ३० और रूपी के ५३० सब मिला कर अजीव के ५६० भेद हुए।

(पन्नवणा पद १) (उत्तराध्ययन अ० ३६)

पुण्य तत्त्व–

पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है - अन्नपुण्य, पानपुण्य, लयनपुण्य, शयनपुण्य, वस्त्रपुण्य, मनपुण्य, वचनपुण्य, कायपुण्य और नमस्कारपुण्य।

बंधे हुए पुण्य का फल ४२ प्रकार से भोगा जाता है–

(१) सातावेदनीय (२) उच्चगोत्र (३) मनुष्यगति (४) मनुष्यानुपूर्वी (५) मनुष्यायु (६) देवगति (७) देवानुपूर्वी (८) देवायु (९) पञ्चेन्द्रिय जाति (१०) औदारिक शरीर (११) वैक्रिय शरीर (१२) आहारक शरीर (१३) तैजस शरीर (१४) कार्मण शरीर (१५) औदारिक अङ्गोपाङ्ग (१६) वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग (१७) आहारक अङ्गोपाङ्ग (१८) वज्रऋषभ नाराच संहनन (१९) समचतुरस्र संस्थान (२०) शुभ वर्ण (२१) शुभ गन्ध (२२) शुभ रस (२३) शुभ स्पर्श (२४) अगुरुलघु (२५) पराघात (२६) श्वासोच्छ्वास (२७) आतप (२८) उद्योत (२९) शुभविहायोगति (३०) निर्माण नाम (३१) तीर्थङ्कर नाम (३२) तिर्यञ्चायु (३३) त्रस नाम (३४) बादर नाम (३५) पर्याप्त नाम (३६) प्रत्येक नाम (३७) स्थिर नाम (३८) शुभ नाम (३९) सुभग नाम (४०) सुस्वर नाम (४१) आदेय नाम (४२) यशःकीर्ति नाम।

पाप तत्त्व–

पाप १८ प्रकार से बांधा जाता है। उनके नाम–

(१) प्रणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति अरति (१७) माया मृषा (१८) मिथ्यादर्शन शल्य।

इस प्रकार बंधे हुए पाप का फल ८२ प्रकार से भोगा जाता है।

ज्ञानावरणीय की ५ प्रकृतियाँ (मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनःपर्यय ज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय) दर्शनावरणीय की नौ– चार दर्शनावरणीय (चक्षु-

दर्शनावरणीय, अचक्षु दर्शनावरणीय, अवधि दर्शनावरणीय, केवल दर्शनावरणीय) और पाँच निद्रा (निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला. प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि)। वेदनीय की एक, असाता वेदनीय।

मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियाँ-चार कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से १६ भेद। नोकषाय के नौ- हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुँसकवेद। मिथ्यात्व मोहनीय।

छः संहनन में से वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच (ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध नाराच, कीलक, सेवार्त)।

छः संस्थान में से समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर शेष पाँच (न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्ज, हुंडक)। स्थावर-दसक- (स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम, अयशःकीर्ति नाम) नरकत्रिक (नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु)। तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति। अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श, उपघात नाम, नीच गोत्र। अन्तराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय) अशुभ विहायोगति। ये सब मिलाकर पाप तत्त्व के ८२ भेद हुए।

आश्रव तत्त्व

आश्रव के सामान्यतः २० भेद हैं- पाँच अव्रत (प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह)। पाँच इन्द्रियाँ- श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियों की अपने अपने विषय में स्वच्छन्द प्रवृत्ति (उनको वश में न रखना)। ५ आश्रव- (मिथ्यात्व, अविरति,

प्रमाद, कषाय, अशुभ योग) तीन योग (मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति)। भंड, उपकरण आदि उपधि, अयतना से लेना और रखना, सूचीकुशाग्रमात्र अयतना से लेना और रखना।

आश्रव के दूसरी अपेक्षा से ४२ भेद होते हैं- ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अव्रत, ३ योग और २५ क्रियाएं (काईया, अहिगरणिया आदि क्रियाएं)। पाँच पाँच करके इनका स्वरूप प्रथम भाग बोल नं० २९२ से २९६ तक में दे दिया गया है।

संवर तत्त्व

संवर के सामान्यतः २० भेद हैं- ५ व्रतों का पालन करना (प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्ति रूप व्रतों का पालन करना) श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियों को वश में करना, ५ आश्रव का सेवन न करना (समकित, व्रत प्रत्याख्यान, कषाय का त्याग, शुभ योग की प्रवृत्ति, प्रमाद का त्याग) तीन योग अर्थात् मन, वचन और काया को वश में करना। भंड, उपकरण और सूचीकुशाग्रमात्र को यतना से लेना और रखना।

संवर के दूसरी अपेक्षा से ५७ भेद हैं- ५ समिति (ईर्या समिति, भाषा समिति आदि) तीन गुप्ति (मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति)। २२ परिषह (क्षुधा, तृषा आदि परिषह) १० यतिधर्म (क्षमा, मार्दव आर्जव आदि)। १२ भावना (अनित्य भावना, अशरण भावना आदि) ५ चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि) ये सब ५७ भेद हुए।

निर्जरा तत्त्व

निर्जरा के सामान्यतः बारह भेद हैं- अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, काय क्लेश, प्रतिसंलीनता ये छः बाह्य तप के भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छः आभ्यन्तर तप के भेद हैं।

अनशन के २० भेद

अनशन के दो मुख्य भेद हैं- इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक के १४ भेद-चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त, द्वादशभक्त, चतुर्दशभक्त, षोडशभक्त, अर्द्ध मासिक, मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पञ्चमासिक, षाण्मासिक।

यावत्कथिक के छः भेद- पादपोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण। इन तीनों के निहारी और अनिहारी के भेद से छः भेद हो जाते हैं।

आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी अङ्ग को किंचिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना पादपोपगमन कहलाता है। पादपोपगमन के दो भेद हैं-व्याघातिम और निर्व्याघातिम। सिंह, व्याघ्र तथा दावानल (वनाग्नि) आदि का उपद्रव होने पर जो संथारा (अनशन) किया जाता है वह व्याघातिम पादपोपगमन संथारा कहलाता है। जो किसी भी उपद्रव के बिना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है वह निर्व्याघातिम पादपोपगमन संथारा कहलाता है। चारों प्रकार के आहार का अथवा तीन आहार का त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है। इसको भक्तपरिज्ञा मरण भी कहते हैं।

दूसरे साधुओं से वैयावच्च न करवाते हुए नियमित प्रदेश की हद में रह कर संथारा करना इंगित मरण कहलाता है। ये तीनों निहारी और अनिहारी के भेद से दो तरह के होते हैं। निहारी संथारा ग्राम के अन्दर किया जाता है और अनिहारी ग्राम से बाहर किया जाता है अर्थात् जिस मुनि का मरण ग्राम में हुआ हो और उसके मृत शरीर को ग्राम से बाहर लेजाना पड़े तो उसे निहारी मरण कहते हैं। ग्राम के बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में जो मरण हो उसको अनिहारी मरण कहते हैं।

अनशन के दूसरी तरह से और भी भेद किये जाते हैं- इत्वरिक तप के छः भेद- श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्गवर्ग तप, प्रकीर्णक तप। श्रेणी तप आदि तपश्चर्याएं भिन्न भिन्न प्रकार से उपवासादि करने से होती हैं। इनका विशेष स्वरूप इसके दूसरे भाग छठे बोल संग्रह के बोल नं० ४७६ में दिया गया है। यावत्कथिक अनशन के कायचेष्टा की अपेक्षा दो भेद हैं। सविचार (काया की क्रिया सहित अवस्था) अविचार (निष्क्रिय)। अथवा दूसरी तरह से दो भेद-सपरिकर्म (संथारे की अवस्था में दूसरे मुनियों से सेवा लेना) और अपरिकर्म (सेवा की अपेक्षा रहित) अथवा निहारी और अनिहारी ये दो भेद भी हैं जो ऊपर बता दिये गये हैं।

ऊनोदरी तप के १४ भेद-

ऊनोदरी तप के दो भेद- द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद- उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी। उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद- एक पात्र, एक वस्त्र और जीर्ण उपधि। भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी के सामान्यतः ५ भेद हैं- आठ कवल प्रमाण आहार करना अल्पाहार ऊनोदरी। बारह कवल प्रमाण आहार करना उपार्द्ध ऊनोदरी। १६ कवल प्रमाण आहार करना अर्द्ध ऊनोदरी। २४ कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (पौन) ऊनोदरी। ३१ कवल प्रमाण आहार करना किञ्चित् ऊनोदरी और पूरे ३२ कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। भाव ऊनोदरी के सामान्यतः ६ भेद हैं- अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया, अल्प लोभ, अल्पशब्द, अल्प झञ्झ (कलह)।

भिक्षाचर्य्या के ३० भेद—

(१) द्रव्य-- द्रव्य विशेष का अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्य्या करना।

(२) क्षेत्र--स्वग्राम और परग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।
(३) काल-- प्रातःकाल या मध्याह्न में भिक्षाचर्य्या करना।
(४) भाव- गाना, हँसना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुषों से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।
(५) उत्क्षिप्त चरक--अपने प्रयोजन के लिए गृहस्थी के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवेषणा करना।
(६) निक्षिप्त चरक- भोजन के पात्र से बाहर न निकाले हुए आहार की गवेषणा करना।
(७) उत्क्षिप्तनिक्षिप्त चरक- भोजन के पात्र से उद्धृत और अनुद्धृत दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना।
(८) निक्षिप्त उत्क्षिप्त चरक- पहले भोजन पात्र में डाले हुए और फिर अपने लिए बाहर निकाले हुए आहार आदि की गवेषणा करना।

(९) वट्टिज्जमाण चरए (वर्त्यमान चरक)- गृहस्थी के लिए थाली में परोसे हुए आहार की गवेषणा करना।
(१०) साहरिज्जमाण चरिए-कूरा (एक तरह का धान्य) आदि जो ठंडा करने के लिए थाली आदि में डाल कर वापिस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो, ऐसे आहार की गवेषणा करना।
(११) उवणीअ चरए (उपनीत चरक)- दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिए लाये गये आहार की गवेषणा करना।
(१२) अवणीअ चरए (अपनीत चरक)- पकाने के पात्र में से निकाल कर दूसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवेषणा करना।
(१३) उवणीआवणीअ चरए (उपनीतापनीत चरक)- उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना, अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुन कर फिर ग्रहण करना अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दूसरे

(४) अरसाहार– नमक मिर्च आदि मसालों के बिना रस-रहित आहार करना।

(५) विरसाहार–जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(६) अन्ताहार– जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं ऐसे चने चबीने आदि खाना।

(७) प्रान्ताहार– बचा हुआ आहार करना।

(८) रूक्षाहार– बहुत रूखा सूखा आहार करना। कहीं कहीं तुच्छाहार पाठ है उसका अर्थ है तुच्छ सत्त्व रहित निःसार भोजन करना।

(९) निर्विगय– तेल, गुड़, घी आदि विगयों से रहित आहार करना।

रसपरित्याग के और भी अनेक भेद हो सकते हैं। यहाँ नौ ही दिए गए हैं। (उववाई, सूत्र १९)

कायक्लेश के १३ भेद

(१) ठाणट्ठितिए (स्थानस्थितिक)– कायोत्सर्ग करना।

(२) ठाणाइये (स्थानातिग)– आसन विशेष से बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

(३) उक्कुडुयासणिए (उत्कुटुकासनिक)–उकडु आसन से बैठना।

(४) पडिमट्ठाई (प्रतिमास्थायी)–एक मासिको पडिमा, दो मासिकी पडिमा आदि स्वीकार करके विचरना।

(५) वीरासणिए (वीरासनिक)– सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

(६) नेसज्जिए (नैषेद्यिक)– निषद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठना।

(७) दण्डायए- लम्बे डण्डे की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना।
(८) लगण्डशायी- जिस आसन में पैरों की दोनों एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगे, बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहे वह लगण्ड आसन कहलाता है, अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहे बाकी सारा शरीर (सिर और पैर आदि) जमीन से ऊपर रहें उसे लगण्ड आसन कहते हैं। इस प्रकार के आसन से तप आदि करना।
(९) आयावए (आतापक)- शीतकाल में शीत में बैठ कर और उष्ण काल में सूर्य की प्रचण्ड गरमी में बैठकर आतापना लेना।

आतापना के तीन भेद हैं- निष्पन्न, अनिष्पन्न, ऊर्ध्वस्थित।

निष्पन्न अर्थात् लेट कर ली जाने वाली आतापना निष्पन्न आतापना कहलाती है। इसके तीन भेद हैं-
अधोमुखशायिता- नीचे की ओर मुख करके सोना।
पार्श्वशायिता- पार्श्वभाग (पसवाड़े) से सोना।
उत्तानशायिता- समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना।

अनिष्पन्न अर्थात् बैठ कर आसन विशेष से आतापना लेना। इसके तीन भेद हैं-

गोदोहिका- गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है वह गोदोहिका आसन कहलाता है। इस प्रकार के आसन से बैठकर आतापना लेना।
उत्कुटुकासनता- उकडु आसन से बैठ कर आतापना लेना।
पर्यङ्कासनता- पलाठी मार कर बैठना।

ऊर्ध्वस्थित अर्थात् खड़े रह कर आतापना लेना। इसके भी तीन भेद हैं-
हस्तिशौण्डिका- हाथी के सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे

की ओर सीधे लटका कर खड़े रहना और आतापना लेना।
एकपादिका- एक पैर पर खड़े रह कर आतापना लेना।
समपादिका- दोनों पैरों को बराबर रख कर आतापना लेना।
उपरोक्त निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीनों भेदों के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन तीन भेद और भी होजाते हैं।
(१०) अवाउडए (अप्रावृतक)- खुले मैदान में आतापना लेना।
(११) अकण्डूयक-शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।
(१२) अनिष्ठीवक- निष्ठीवन (थूकना आदि) न करते हुए आतापना लेना।
(१३) धुयकेसमंसुलोम (धुतकेशश्मश्रुलोम)- दाढ़ी मूँछ आदि के केशों को न संवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोड़कर आतापना लेना।

प्रतिसंलीनता के १३ भेद-

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के ५ भेद- श्रोत्रेन्द्रिय विषय प्रचार निरोध अथवा श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्त अर्थों में राग द्वेष का निरोध। इसी तरह शेष चारों इन्द्रियों के विषयप्रचारनिरोध। कषाय प्रतिसंलीनता के चार भेद-क्रोधोदय निरोध, अथवा उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण। इसी तरह मान, माया और लोभ के उदय का निरोध करना या उदयप्राप्त का विफल करना। (९) योग प्रतिसंलीनता के तीन भेद- मनोयोग प्रतिसंलीनता, वचनयोग प्रतिसंलीनता, काययोग प्रतिसंलीनता (१२)।
(१३) विविक्त शयनासनता (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित स्थान में रहना)।

आभ्यन्तर तप के छः भेद-

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त के ५० भेद–

दस प्रकार का प्रायश्चित्त–(१) आलोयणारिहे (२) पडिक्कमणारिहे (३) तदुभयारिहे (४) विवेगारिहे (५) विउस्सग्गारिहे (६) तवारिहे (७) छेदारिहे (८) मूलारिहे (९) अणवट्ठप्पारिहे (१०) पारंचियारिहे।

प्रायश्चित्त देने वाले के दस गुण-(१) आचारवान् (२) आधारवान् (३) व्यवहारवान् (४) अपव्रीडक (५) प्रकुर्वक (६) अपरिस्रावी (७) निर्यापक (८) अपायदर्शी (९) प्रियधर्मा (१०) दृढधर्मा।

प्रायश्चित्त लेने वाले के दस गुण-(१) जातिसम्पन्न (२) कुलसम्पन्न (३) विनयसम्पन्न (४) ज्ञानसम्पन्न (५) दर्शनसम्पन्न (६) चारित्रसम्पन्न (७) क्षमावान (८) दान्त (९) अमायी (१०) अपश्चात्तापी।

प्रायश्चित के दस दोष–(१) आकम्पयित्ता (२) अणुमाणइत्ता (३) दिट्ठं (४) बायरं (५) सुहुमं (६) छन्नं (७) सद्दाउलयं (८) बहुजण (९) अव्वत्त (१०) तस्सेवी।

दोष प्रतिसेवना के दस कारण–(१) दर्प (२) प्रमाद (३) अणाभोग (४) आतुर (५) आपत्ति (६) संकीर्ण (७) सहसाकार (८) भय (९) प्रद्वेष (१०) विमर्श। इन सब की व्याख्या दसवें बोल संग्रह में है। (भगवती शतक २५ उद्देशा ७)

विनय के भेद

विनय के मूल भेद सात हैं– ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काय विनय और लोकोपचार विनय। इन सातों के अवान्तर भेद १३४ होते हैं, यथा– ज्ञान विनय के ५ भेद–मतिज्ञान विनय, श्रुतज्ञान विनय, अवधि ज्ञान विनय, मनःपर्ययज्ञान विनय, केवलज्ञान विनय। दर्शन विनय के दो भेद– शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय।

शुश्रूषा विनय के दस भेद– अब्भुट्ठाणे (अभ्युत्थान) आसणाभिग्गहे (आसनाभिग्रह), आसणप्पदाणे (आसनप्रदान), सक्कारे (सत्कार), सम्माणे (सन्मान), कीइकम्मे (कीर्तिकर्म), अंजलिपग्गहे (अंजलिप्रग्रह), अनुगच्छणया (अनुगमनता), पज्जुवासणया (पर्युपासनता) पडिसंसाहणा (प्रतिसंसाधनता)।

अनाशातना विनय के ४५ भेद—

अरिहन्त भगवान्, अरिहन्त प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक, क्रियावान्, मतिज्ञानवान्, श्रुतज्ञानवान्, अवधिज्ञानवान्, मनःपर्यय ज्ञानवान्, केवलज्ञानवान्, इन १५ की आशातना न करना अर्थात् विनय करना, भक्ति करना और गुणग्राम करना। इन तीन कार्यों के करने से ४५ भेद हो जाते हैं। चारित्र विनय के ५ भेद– सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात चारित्र, इन पाँचों चारित्रधारियों का विनय करना। मन विनय के दो भेद–प्रशस्त मन विनय और अप्रशस्त मन विनय। अप्रशस्त मन विनय के १२ भेद– सावद्य, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, फरुस (कठोर), आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी, भूतोपघातकारी। उपरोक्त १२ भेदों से विपरीत प्रशस्त मन विनय के भी १२ भेद होते हैं। वचन विनय के दो भेद–प्रशस्त और अप्रशस्त। इन दोनों के भी मन विनय की तरह २४ भेद होते हैं। काय विनय के दो भेद– प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त काय विनय के सात भेद–सावधानी से गमन करना, ठहरना, बैठना, सोना, उल्लंघन करना, बार बार उल्लंघन करना और सभी इन्द्रिय तथा योगों की प्रवृत्ति करना प्रशस्त काय विनय कहलाता है। अप्रशस्त काय विनय के सात भेद–उपरोक्त सात स्थानों में असावधानता रखना।

लोकोपचार विनय के सात भेद- अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना), परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना), कार्य्यहेतु (गुरु के कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करना), कृत प्रतिक्रिया (अपने लिए किये गये उपकार का बदला चुकाना), आर्त्तगवेषणा (बीमार साधुओं की साल सम्भाल करना), देशकालानुज्ञता (अवसर देख कर कार्य करना), सर्वार्थाप्रतिलोमता (सब कार्यों में अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

प्रशस्त, अप्रशस्त काय विनय और लोकोपचार विनय के भेदों का विशेष स्वरूप और वर्णन इसके द्वितीय भाग सातवें बोल संग्रह बोल नं० ५०३, ५०४, ५०५ में दे दिया गया है।

विनय के सात भेदों के अनुक्रम से ५, ५५ (१०+४५) ५, २४ (१२+१२), २४ (१२+१२), १४, ७ = १३४ भेद हुए।

वैयावृत्य के दस भेद

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, (नव-दीक्षित साधु), कुल, गण, संघ और साधर्मिक इन दस की वैयावृत्य करना।

स्वाध्याय के ५ भेद

वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

ध्यान के ४८ भेद

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आयु

आर्त्तध्यान के ४ भेद-अमनोज्ञ वियोग चिन्ता, रोग चिन्ता, मनोज्ञ संयोग चिन्ता और निदान। आर्त्तध्यान के चार लिंग (लक्षण)- आक्रन्दन, शोचन, परिदेवना ...

रौद्रध्यान के चार भेद- हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, ... नुबन्धी, संरक्षणानुबन्धी। रौद्रध्यान के चार लिंग ...

ओसन्न दोष, बहु दोष (बहुल दोष), अज्ञान दोष (नाना दोष) और आमरणान्त दोष।

धर्मध्यान के चार प्रकार– आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय। धर्मध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण)– आज्ञा रुचि, निसर्ग रुचि, सूत्र रुचि, अवगाढ रुचि (उपदेश रुचि)। धर्मध्यान के चार आलम्बन– वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं– अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा।

शुक्लध्यान के चार प्रकार– पृथक्त्व वितर्क सविचारी, एकत्व वितर्क अविचारी, सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती, समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती। शुक्लध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण)– विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथ, असम्मोह। शुक्लध्यान के चार आलम्बन– क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं– अपायानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा, अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा।

इन सब की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० २१५ से २२८ तक में दे दी गई है।

व्युत्सर्ग के भेद

व्युत्सर्ग के दो भेद– द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद– शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग, और भक्तपान व्युत्सर्ग।

भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद– कषाय व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग, कर्म व्युत्सर्ग। कषाय व्युत्सर्ग के चार भेद–क्रोध, मान, माया और लोभ व्युत्सर्ग। संसार व्युत्सर्ग के चार भेद– नैरयिक संसार व्युत्सर्ग, तिर्यञ्च संसार व्युत्सर्ग, मनुष्य संसार व्युत्सर्ग, देव संसार व्युत्सर्ग। कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म व्युत्सर्ग।

बन्ध तत्त्व के ४ भेद

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध, (४) प्रदेशबन्ध। प्रकृतिबन्ध की ज्ञानावरणीयादि आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। उत्तर प्रकृतियाँ १४८ नीचे लिखे अनुसार हैं-

ज्ञानावरणीय की ५ प्रकृतियाँ-- मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय की ९ प्रकृतियाँ--दर्शन ४, चक्षु दर्शनावरणीय, अचक्षु दर्शनावरणीय, अवधि दर्शनावरणीय, केवल दर्शनावरणीय। निद्रा ५--निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

वेदनीय की दो प्रकृतियाँ- साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ- दर्शन मोहनीय के ३ भेद-- मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र (सम्यग् मिथ्यात्व) मोहनीय। चारित्र मोहनीय के २५ भेद- कषाय मोहनीय के सोलह- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। नोकषाय के ९ भेद - हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

आयु कर्म की ४ प्रकृतियाँ- नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ-गति ४ (नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्यगति, देवगति) जाति ५ (एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) शरीर ५ (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण) अङ्गोपाङ्ग ३ (औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गो-

पाङ्ग, आहारक अङ्गोपाङ्ग) बन्धन ५ (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण बन्धन) संघात ५ (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण संघात) संस्थान ६ (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि (स्वाति), कुब्जक, वामन, हुण्डक) संहनन ६ (वज्रऋषभनाराच, ऋषभ नाराच, नाराच, अर्द्धनाराच कीलक, सेवार्त्त) वर्ण ५ (कृष्ण, नील, पीत, रक्त, श्वेत) गन्ध २ (सुगन्ध, दुर्गन्ध) रस ५ (खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, तीखा) स्पर्श ८ (हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, (कोमल), कठोर)। आनुपूर्वी ४ (नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी)। उपरोक्त ६३ प्रकृतियाँ और नीचे लिखी ३० प्रकृतियाँ- कुल ९३ होती हैं। अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति, उच्छ्वास, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थङ्कर नामकर्म।

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ- उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। आठों कर्मों की कुल मिलाकर १४८ प्रकृतियाँ हुईं।

(पन्नवणा पद २३, सूत्र २९३) (समवायांग ४२)

मोक्ष तत्त्व के भेद

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चारों मोक्ष का मार्ग हैं। मोक्ष तत्त्व का विचार नौ द्वारों से भी किया जाता है। वे द्वार ये हैं।

संतपय परूवणया, दव्व पमाणं च खित्त फुसणया।
कालो अ अंतर भाग, भावे अप्पा बहु चेव ॥

संतं सुद्धपयत्ता, विज्जंतं खकुसुमंव्व न असंतं ।
मुक्खत्ति पयं तस्स उ, परूवणा मग्गणाइहिं ॥

सत्पद प्ररूपणा– मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एवं एक पद है। संसार में जितने भी एक पद वाले पदार्थ हैं वे सब सत्स्वरूप हैं, यथा घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् एवं असत् दोनों तरह के हो सकते हैं, यथा खरशृङ्ग (गदहे के सींग) और वन्ध्यापुत्र आदि पदार्थ असत् हैं किन्तु गोशृङ्ग, मैत्रतनय, राजपुत्र आदि पदार्थ सत् स्वरूप हैं। मोक्ष एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है किन्तु आकाशकुसुम (आकाश के फूल) की तरह अविद्यमान नहीं है।

सत्पद प्ररूपणा द्वार का निम्न लिखित चौदह मार्गणाओं के द्वारा भी वर्णन किया जा सकता है। यथा–

गइ इंदिय काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, और आहार। इन चौदह मार्गणाओं के अवान्तर भेद ६२ होते हैं। यथा– गति ४, इन्द्रिय ५, काया ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८ (५ ज्ञान, ३ अज्ञान), संयम ७ (५ सामायिकादि चारित्र, देशविरति और अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २ (भवसिद्धिक, अभव सिद्धिक), सम्यक्त्व के ६ (औपशमिक, सास्वादान, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिश्र और मिथ्यात्व), संज्ञी २ (संज्ञी, असंज्ञी) आहारी २ (आहारी, अनाहारी)।

इन १४ मार्गणाओं में से अर्थात् ६२ भेदों में से जिन जिन मार्गणाओं से जीव मोक्ष जा सकता है, उनके नाम–

मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी,

यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन इन मार्गणाओं से युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त चार मार्गणाओं (कषाय, वेद, योग, लेश्या) से युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकता।

द्रव्य द्वार- सिद्ध जीव अनन्त हैं।

क्षेत्र द्वार-- लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं।

स्पर्शन द्वार- लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं।

काल द्वार-- एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

अन्तर द्वार--सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं है अर्थात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद फिर वे संसार में आकर जन्म नहीं लेते, इसलिए उनमें अन्तर (व्यवधान) नहीं पड़ता, अथवा सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा एक समान हैं।

भाग द्वार- सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं अर्थात् पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीव सिद्ध जीवों से अनन्तगुणे अधिक हैं।

भाव द्वार- औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पाँच भावों में से सिद्ध जीवों में दो भाव पाये जाते हैं अर्थात् केवल ज्ञान केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव और जीवत्व रूप पारिणामिक भाव होते हैं।

अल्प बहुत्व द्वार- सब से थोड़े नपुंसक सिद्ध, स्त्रीसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक और पुरुष सिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि नपुंसक एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं। स्त्री एक समय में उत्कृष्ट बीस और पुरुष एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

नव तत्त्वों का यह संक्षिप्त विवरण है। इन नव तत्त्वों के जानने के फल का निर्देश करते हुए बतलाया गया है कि—

जीवाइ नव पयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मतम्।
भावेण सद्दहंतो अयाणमाणे वि सम्मत्तम्॥

अर्थात्— जो जीवादि नव तत्त्वों को भली प्रकार जानता है तथा सम्यक् श्रद्धान करता है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(उववाई, सूत्र १६) (उत्तराध्ययन अ० ३०) (भगवती शतक २५ उ० ७)

नव तत्त्वों में जीव, अजीव और पुण्य ये तीन ज्ञेय हैं अर्थात् जानने योग्य हैं। संवर निर्जरा और मोक्ष ये तीन उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। पाप, आश्रव और बन्ध ये तीन हेय (छोड़ने योग्य) हैं।

पुण्य की तीन अवस्थाएं हैं—उपादेय, ज्ञेय और हेय। प्रथम अवस्था में जब तक मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र आदि पुण्य प्रकृतियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं तब तक के लिए पुण्य उपादेय है, क्योंकि इन प्रकृतियों के बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र प्राप्त हो जाने के बाद अर्थात् साधकावस्था में पुण्य ज्ञेय है अर्थात् उस समय न तो मनुष्यत्वादि पुण्य प्रकृतियों को प्राप्त करने की इच्छा की जाती है और न छोड़ने की, क्योंकि वे मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक हैं। चारित्र की पूर्णता होने पर अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में वे हेय हो जाती हैं, क्योंकि शरीर को छोड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। सब कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे समुद्र को पार करने के लिए समुद्र के किनारे पर खड़े व्यक्ति के लिए नौका उपादेय है। नौका में बैठे हुए व्यक्ति के लिए ज्ञेय है अर्थात् न हेय और न उपादेय। दूसरे किनारे पर पहुँच जाने के बाद नौका हेय है, क्योंकि नौका को छोड़े बिना दूसरे

किनारे पर स्थित अभीष्ट नगर की प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए पुण्य रूपी नौका की आवश्यकता है। किन्तु चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के पश्चात् मोक्ष रूपी नगर की प्राप्ति के समय पुण्य हेय हो जाता है।

६३४- काल के नौ भेद

जो द्रव्यों को नई नई पर्यायों में बदले उसे काल कहते है। इसके नौ भेद हैं-

(१) द्रव्यकाल-- वर्तना अर्थात् नये को पुराना करने वाला काल द्रव्यकाल कहा जाता है।

(२) अद्धाकाल-- अढ़ाई द्वीप में सूर्य और चन्द्र की गति से निश्चित होने वाला काल अद्धाकाल है।

(३) यथायुष्क काल- देव आदि की आयुष्य के काल को यथायुष्क काल कहते हैं।

(४) उपक्रमकाल- इच्छित वस्तु को दूर से समीप लाने में लगने वाला समय उपक्रम काल है।

(५) देशकाल- इष्ट वस्तु की प्राप्ति होना रूप अवसर रूपी काल देशकाल है।

(६) मरणकाल-- मृत्यु होना रूप काल मरणकाल है अर्थात् मृत्यु अर्थ वाले काल को मरण काल कहते हैं।

(७) प्रमाणकाल-- दिन, रात्रि, मुहूर्त वगैरह किसी प्रमाण से निश्चित होने वाला काल प्रमाणकाल है।

(८) वर्णकाल- काले रंग को वर्णकाल कहते हैं अर्थात् वह वर्ण की अपेक्षा काल है।

(९) भावकाल-औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक भावों के सादि सान्त आदि भेदों वाले काल को भावकाल कहते हैं। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा २०३०)

६३५- नोकषाय वेदनीय नौ

क्रोध आदि प्रधान कषायों के साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं, उन्हें नोकषाय कहते हैं। ये स्वयं प्रधान नहीं होते। जैसे बुध का ग्रह दूसरे के साथ ही रहता है, साथ ही फल देता है, इसी तरह नोकषाय भी कषायों के साथ रहते तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं। जो कर्म नोकषाय के रूप में वेदा जाता है उसे नोकषाय वेदनीय कहते हैं। इसके नौ भेद हैं-

(१) स्त्रीवेद- जिस के उदय से स्त्री को पुरुष की इच्छा होती है। जैसे- पित्त के उदय से मीठा खाने की इच्छा होती है। स्त्रीवेद छाणों की आग के समान होता है अर्थात् अन्दर ही अन्दर हमेशा बना रहता है।

(२) पुरुषवेद- जिस के उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है। जैसे श्लेष्म (कफ) के प्रकोप से खट्टी चीज खाने की इच्छा होती है। पुरुषवेद दावाग्नि के समान होता है। यह एक दम भड़क उठता है और फिर शान्त हो जाता है।

(३) नपुंसकवेद- जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा हो। जैसे पित्त और श्लेष्म के उदय से स्नान की अभिलाषा होती है। यह बडे भारी नगर के दाह के समान होता है अर्थात् तेज और स्थायी दोनों तरह का होता है।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में उत्तरोत्तर वेदना की अधिकता रहती है।

(४) हास्य- जिस के उदय से मनुष्य सकारण या बिना कारण हँसने लगे उसे हास्य कहते हैं।

(५) रति- जिस के उदय से जीव की सचित्त या अचित्त बाह्य पदार्थों में रुचि हो, उसे रति कहते हैं।

(६) अरति- जिसके उदय से बाह्य पदार्थों में अरुचि हो।
(७) भय- जीव को वास्तव में किसी प्रकार का भय न होने पर भी जिस कर्म के उदय से इहलोक पारलोकादि सात प्रकार का भय उत्पन्न हो।
(८) शोक- जिसके उदय से शोक और रुदन आदि हों।
(९) जुगुप्सा- जिसके उदय से घृणा उत्पन्न हो।

(ठाणांग, सूत्र ७००)

६३६- आयुपरिणाम नौ

आयुष्य कर्म की स्वाभाविक शक्ति को आयुपरिणाम कहते हैं अर्थात् आयुष्य कर्म जिस जिस रूप में परिणत होकर फल देता है वह आयुपरिणाम है। इसके नौ भेद हैं-

(१) गति परिणाम- आयुकर्म जिस स्वभाव से जीव को देव आदि निश्चित गतियाँ प्राप्त कराता है उसे गतिपरिणाम कहते हैं।
(२) गतिबन्ध परिणाम-- आयु के जिस स्वभाव से नियत गति का कर्मबन्ध होता है उसे गतिबन्ध परिणाम कहते हैं। जैसे नारक जीव मनुष्य या तिर्यञ्चगति की आयु ही बाँध सकता है, देवगति और नरकगति की नहीं।
(३) स्थिति परिणाम- आयुष्य कर्म की जिस शक्ति से जीव गतिविशेष में अन्तर्मुहूर्त से लेकर तेतीस सागरोपम तक ठहरता है।
(४) स्थितिबन्ध परिणाम- आयुष्य कर्म की जिस शक्ति से जीव आगामी भव के लिए नियत स्थिति की आयु बाँधता है उसे स्थितिबन्ध परिणाम कहते हैं। जैसे तिर्यञ्च आयु में जीव देवगति की आयु बाँधने पर उत्कृष्ट अठारह सागरोपम की ही बाँध सकता है।
(५) ऊर्ध्वगौरव परिणाम- आयु कर्म के जिस स्वभाव से जीव में ऊपर जाने की शक्ति आजाती है। जैसे पक्षी आदि में।

(६) अधोगौरव परिणाम--जिससे नीचे जाने की शक्ति प्राप्त हो।
(७) तिर्यग्गौरव परिणाम--जिससे तिर्छे जाने की शक्ति प्राप्त हो।
(८) दीर्घगौरव परिणाम-- जिससे जीव को बहुत दूर तक जाने की शक्ति प्राप्त हो। इस परिणाम के उत्कृष्ट होने से जीव लोक के एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकता है।
(९) ह्रस्वगौरव परिणाम--जिससे थोड़ी दूर चलने की शक्ति हो।

(ठाणांग, सूत्र ६८६)

६३७- रोग उत्पन्न होने के नौ स्थान

शरीर में किसी तरह के विकार होने को रोग कहते हैं। रोगोत्पत्ति के नौ कारण हैं-

(१) अच्चासण- अधिक बैठे रहने से। इससे अर्श (मसा) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा ज्यादा खाने से अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) अहितासण- अहित अर्थात् जो आसन अनुकूल न हो उस आसन से बैठने पर। कई आसनों से बैठने पर शरीर अस्वस्थ हो जाता है। अथवा अजीर्ण होने पर भोजन करने से।

(३) अतिनिद्दा- अधिक नींद लेने से।

(४) अतिजागरित- बहुत जागने से।

(५) उच्चारनिरोह- बड़ीनीति की बाधा रोकने से।

(६) पासवणनिरोह- लघुनीति (पेशाब) रोकने से।

(७) अद्धाणगमण- मार्ग में अधिक चलने से।

(८) भोयण पडिकूलता- जो भोजन अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो ऐसा भोजन करने से।

(९) इंदियत्थविकोवण-इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का विपाक अर्थात् काम विकार। स्त्री आदि में अत्यधिक सेवन तथा आसक्ति रखने से उन्माद वगैरह रोग उत्पन्न हो जाते हैं। विषयभोगों

में पहले अभिलाप अर्थात् प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसके बाद कैसे प्राप्त किया जाय यह चिन्ता। फिर स्मरण। इसके बाद उस वस्तु के गुणों का वार वार कीर्तन। फिर उद्वेग अर्थात् प्राप्त न होने पर आत्मा में अशान्ति तथा ग्लानि। फिर प्रलाप, उन्माद, रोग, मूर्छा और अन्त में मरण तक हो जाता है। विषयों के प्राप्त न होने पर रोग उत्पन्न होते हैं। बहुत अधिक आसक्ति से राजयक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ६६७)

६३८- स्वप्न के नौ निमित्त

अर्द्धनिद्रितावस्था में काल्पनिक हाथी, रथ, घोड़े आदि का दिखाई देना स्वप्न है। नीचे लिखे नौ निमित्तों में से किसी निमित्त वाली वस्तु ही स्वप्न में दिखाई देती है। वे निमित्त ये हैं-

(१) अनुभूत- जो वस्तु पहले कभी अनुभव की जा चुकी है उसका स्वप्न आता है। जैसे- पहले अनुभव किए हुए स्नान, भोजन, विलेपन आदि का स्वप्न में दिखाई देना।

(२) दृष्ट- पहले देखा हुआ पदार्थ भी स्वप्न में दिखाई देता है। जैसे- पहले कभी देखे हुए हाथी, घोड़े आदि स्वप्न में दिखाई देते हैं।

(३) चिन्तित- पहले सोचे हुए विषय का स्वप्न आता है। जैसे- मन में सोची हुई स्त्री आदि की स्वप्न में प्राप्ति।

(४) श्रुत- किसी सुनी हुई वस्तु का स्वप्न आता है। जैसे- स्वप्न में स्वर्ग, नरक आदि का दिखाई देना।

(५) प्रकृति विकार- वात, पित्त आदि किसी धातु की न्यूनाधिकता से होने वाला शरीर का विकार प्रकृति विकार कहा जाता है। प्रकृति विकार होने पर भी स्वप्न आता है।

(६) देवता- किसी देवता के अनुकूल या प्रतिकूल होने पर

स्वप्न दिखाई देने लगते हैं।

(७) अनूप–पानी वाला प्रदेश भी स्वप्न आने का निमित्त है।

(८) पुण्य– पुण्योदय से अच्छे स्वप्न आते हैं।

(९) पाप-- पाप के उदय से बुरे स्वप्न आते हैं।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा १७०३)

६३९– काव्य के रस नौ

कवि के अभिप्राय विशेष को काव्य कहते हैं। इस का लक्षण काव्य प्रकाश में इस प्रकार है-- निर्दोष गुण वाले और अलङ्कार सहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। कहीं कहीं विना अलङ्कार के भी वे काव्य माने जाते हैं। साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने तथा रसगङ्गाधर में जगन्नाथ पण्डितराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है। रीतिकार रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और ध्वनिकार ध्वनि को।

काव्य में रस का प्रधान स्थान है। नीरस वाक्य को काव्य नहीं कहा जा सकता।

विभावानुभावादि सहकारी कारणों के इकट्ठे होने से चित्त में जो खास तरह के विकार होते हैं उन्हें रस कहते हैं। इनका अनुभव अन्तरात्मा के द्वारा किया जाता है।

बाह्यार्थालम्बनो यस्तु, विकारो मानसो भवेत्।
स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः॥

अर्थात्– बाह्य वस्तुओं के सहारे से जो मन में विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें भाव कहते हैं। भाव जब उत्कर्ष को प्राप्त कर लेते हैं तो वे रस कहे जाते हैं।

रस नौ हैं–(१) वीर (२) शृङ्गार (३) अद्भुत (४) रौद्र (५) व्रीडा (६) वीभत्स (७) हास्य (८) करुण और (९) प्रशान्त।

तपस्या करके धैर्य रखना, आर्त्तध्यान न करना तथा शत्रु के विनाश में पराक्रम दिखाना आदि चिह्नों से वीर रस जाना जाता है अर्थात् वीर पुरुष दान देने के बाद घमण्ड या पश्चात्ताप नहीं करता, तपस्या करके धैर्य रखता है, आर्त्तध्यान नहीं करता तथा युद्ध में शत्रु का नाश करने के लिए पराक्रम दिखाता है। वीर पुरुष के इन गुणों का वर्णन काव्य में वीर रस है। जैसे-- **सो नाम महावीरो जो रज्जं पयहिऊण पव्वइओ।**

कामकोहमहासत्तूपक्खनिग्घायणं कुणई ॥

अर्थात्- वही महावीर है जिसने राज्य छोड़ कर दीक्षा ले ली। जो काम, क्रोध रूपी महा शत्रुओं की सेना का संहार कर रहा है।

(२) शृङ्गार रस- जिस से कामविकार उत्पन्न हो उसे शृङ्गार रस कहते हैं। स्त्रियों के शृङ्गार, उनके हावभाव, हास्य, विविध चेष्टाओं आदि का वर्णन काव्य में शृङ्गार रस है। जैसे--

महुरविलाससलिलअं, हिययउम्मादणकरं जुवाणाणं।

सामा सद्दुद्दामं, दाएती मेहलादामं ॥

अर्थात्- मनोहर विलास और चेष्टाओं के साथ, जवानों के हृदय में उन्माद करने वाले, किंकिणी शब्द करते हुए मेखला-सूत्र को श्यामा स्त्री दिखाती है।

(३) अद्भुत रस- किसी विचित्र वस्तु के देखने पर हृदय में जो आश्चर्य उत्पन्न होता है उसे अद्भुत रस कहते हैं। यह पहले बिना अनुभव की हुई वस्तु से अथवा अनुभव की हुई वस्तु से होता है। उस वस्तु के शुभ होने से हर्ष होता है, अशुभ होने से दुःख होता है। जैसे-

अब्भुअतरमिह एत्तो अन्नं किं अत्थि जीवलोगंमि।

जं जिणवयणे अत्था तिकालजुत्ता मुणिज्जंति ॥

है, जिससे भूत, भविष्यत और वर्तमान काल के सूक्ष्म, व्यवहित, छिपे हुए, अतीन्द्रिय तथा अमूर्त पदार्थ स्पष्ट जाने जाते हैं।

(४) रौद्र रस- भय को उत्पन्न करने वाले, शत्रु और पिशाच आदि के रूप, उनके शब्द, घोर अन्धकार तथा भयङ्कर अटवी आदि की चिन्ता, वर्णन तथा दर्शन से मन में रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। सम्मोह अर्थात् किंकर्तव्यमूढ हो जाना, व्याकुलता, दुःख, निराशा तथा गजसुकुमाल को मारने वाले सोमिल ब्राह्मण की तरह मृत्यु, इसके खास चिह्न हैं। जैसे-

भिउडीविडंबियमुहो संदट्ठोट्ठ इअ रुहिरमाकिण्णो।
हणसि पसुं असुरणिभो भीमरसिअ अइरोद्द ॥

अर्थात्-तुमने भृकुटी तान रक्खी है। मुँह टेढ़ा कर रक्खा है। ओठ काट रहे हो, रुधिर बिखरा हुआ है, पशुओं को मार रहे हो, भयङ्कर शब्द कर रहे हो, भयङ्कर आकृति है, इससे मालूम पड़ता है कि तुम रौद्र परिणाम वाले हो।

(५) व्रीडा रस- विनय के योग्य गुरु आदि की विनय न करने से, किसी छिपाने योग्य बात को दूसरे पर प्रकट करने से तथा किसी तरह का दुष्कर्म हो जाने से लज्जा या व्रीडा उत्पन्न होती है। लज्जित तथा शङ्कित रहना इसके लक्षण हैं। सिर नीचा करके अङ्गों को संकुचित कर लेने का नाम लज्जा है। कोई मुझे कुछ कह न दे, इस प्रकार हमेशा शङ्कित रहना शङ्का है।

(६) वीभत्स रस- अशुचि अर्थात् विष्ठा और पेशाब आदि, शव तथा जिस शरीर से लाला आदि टपक रही हो इस प्रकार की घृणित वस्तुओं के देखने तथा उनकी दुर्गन्ध से वीभत्स रस उत्पन्न होता है। निर्वेद तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति इसके लक्षण हैं। इस प्रकार की घृणित वस्तुओं को देखकर संसार से विरक्ति हो जाती है तथा मनुष्य पापों से निवृत्त होता है।

असुइमलभरिय निज्झर सभाव दुग्गंधि सव्वकालं वि।
धण्णा उ सरीरकलिं बहुमलकलुसं विमुंचंति ॥

अर्थात्- शरीर आदि के असार स्वरूप को जानने वाला कोई कहता है- हमेशा अपवित्र मलादि पदार्थों को निकालने वाले, स्वाभाविक दुर्गन्ध से भरे हुए, तरह तरह की विकृत वस्तुओं से अपवित्र ऐसे शरीर रूपी कलि अर्थात् पाप को जो छोड़ते हैं वे धन्य हैं। सब अनिष्टों का कारण तथा सब कलहों का मूल होने से शरीर को कलि कहा गया है।

(७) हास्य रस- रूप, वय, वेश तथा भाषा आदि के वैपरीत्य की विडम्बना आदि कारणों से हास्य रस की उत्पत्ति होती है। पुरुष होकर स्त्री का रूप धारण करना, वैसे कपड़े पहिन कर उसी तरह की चेष्टाएं करना रूपवैपरीत्य है। जवान होकर वृद्ध का अनुकरण करना वयोवैपरीत्य है। राजपुत्र होकर वनिए आदि का वेश पहिन लेना वेशवैपरीत्य है। गुजराती होकर मध्य प्रदेश आदि की बोली बोलना भाषावैपरीत्य है। मन के प्रसन्न होने पर नेत्र, मुख, आदि का विकास अथवा प्रकाशित रूप से पेट कंपाना तथा अट्टहास करना हास्य रस के चिह्न हैं। जैसे-

पासुत्तमसीमंडिअपडिबुद्धं देवरं वलोअंती।
ही जह थणभर कंपण पणमिअ मज्झा हसइ सामा ॥

अर्थात्-किसी बहू ने अपने सोए हुए देवर को मसी से रंग दिया। जब वह जगा तो वह हँसने लगी। उसे हँसती देखकर किसी ने अपने पास खड़े हुए दूसरे से कहा- देखो, वह श्यामा हँस रही है। मसी से रंगे हुए अपने देवर को देख कर हँसते हँसते नम गई है। उसका पेट दोहरा होगया है।

(८) करुण रस- प्रिय के वियोग, गिरफ्तारी, प्राणदण्ड, रोग

पुत्र आदि का मरण, शत्रुओं से भय आदि कारणों से करुण रस उत्पन्न होता है। शोक करना, विलाप करना, उदासी तथा रोना इसके चिह्न हैं। जैसे-

पज्झाय किलामिअ यं वाहागयवप्पु अच्छिअं बहुसो।
तस्स विओगे पुत्तिय ! दुब्बलयं ते मुहं जायं ॥

अर्थात्- बेटी ! प्रियतम के वियोग में तेरा मुँह दुर्बल हो गया है। हमेशा उसका ध्यान करते हुए उदासी छा गई है। हमेशा आँसू टपकते रहने से आँखें सूज गई हैं, इत्यादि।

(९) प्रशान्त रस- हिंसा आदि दोषों से रहित मन जब विषयों से निवृत्त हो जाता है और चित्त बिल्कुल स्वस्थ होता है तो शान्त रस की उत्पत्ति होती है। क्रोधादि न रहने से उस समय चित्त बिल्कुल शान्त होता है। किसी तरह का विकार नहीं रहता। जैसे-

सब्भावनिव्विगारं उवसंतपसंत सोमदिट्ठीअं।
ही जह मुणिणो सोहइ मुहकमलं पीवरसिरीअं ॥

अर्थात्- शान्तमूर्ति साधु को देख कर कोई अपने समीप खड़े हुए व्यक्ति को कहता है- देखो ! मुनि का मुख रूपी कमल कैसी शोभा दे रहा है ? जो अच्छे भावों के कारण विकार रहित है। सजावट तथा भ्रूविक्षेप आदि विकारों से रहित है। रूपादि देखने की इच्छा न होने से शान्त तथा क्रोधादि न होने से सौम्यदृष्टि वाला है। इन्हीं कारणों से इस की शोभा बढ़ी हुई है।

(अनुयोगद्वार गाथा ६३ से ८१, सूत्र १२६)

६४०- परिग्रह नौ

ममत्व पूर्वक ग्रहण किए हुए धन धान्य आदि को परिग्रह कहते हैं। इसके नौ भेद हैं-

(१) क्षेत्र- धान्य उत्पन्न करने की भूमि को क्षेत्र कहते हैं।

यह दो प्रकार का है-- सेतु और केतु । अरघट, नहर, कूआ वगैरह कृत्रिम उपायों से सींची जाने वाली भूमि को सेतु और सिर्फ बरसात से सींची जाने वाली को केतु कहते हैं ।

(२) वास्तु-- घर । वह तीन प्रकार का होता है। खात अर्थात् भूमिगृह । उत्सृत अर्थात् जमीन के ऊपर बनाया हुआ महल वगैरह । खातोच्छ्रित-- भूमिगृह के ऊपर बनाया हुआ महल ।

(३) हिरण्य-- चांदी, सिल या आभूषण के रूप में अर्थात् घड़ी हुई और बिना घड़ी हुई ।

(४) सुवर्ण- घड़ा हुआ तथा बिना घड़ा हुआ सोना। हीरा, माणिक, मोती आदि जवाहरात भी इसी में आजाते हैं ।

(५) धन-- गुड़, शक्कर आदि ।

(६) धान्य- चावल, मूंग, गेहूँ, चने, मोठ, बाजरा आदि ।

(७) द्विपद- दास दासी और मोर, हंस वगैरह।

(८) चतुष्पद-- हाथी, घोड़े, गाय, भैंस वगैरह।

(९) कुप्य- सोने, बैठने, खाने, पीने, वगैरह के काम में आने वाली धातु की बनी हुई तथा दूसरी वस्तुएं अर्थात् घर बिखेरे की वस्तुएं । (हरिभद्रीयावश्यक छठा, सूत्र ५ वां)

६४१- ज्ञाता (जाणकार) के नौ भेद

समय तथा अपनी शक्ति वगैरह के अनुसार काम करने वाला व्यक्ति ही सफल होता है और समझदार माना जाता है । उसके नौ भेद हैं-

(१) कालज्ञ- काम करने के अवसर को जानने वाला ।

(२) बलज्ञ- अपने बल को जानने वाला और शक्ति के अनुसार ही आचरण करने वाला ।

(३) मात्रज्ञ- कौनसी वस्तु कितनी चाहिए, इस प्रकार अपनी आवश्यकता के लिए वस्तु के परिमाण को जानने वाला ।

(४) खेदज्ञ अथवा क्षेत्रज्ञ- अभ्यास के द्वारा प्रत्येक कार्य के अनुभव वाला, अथवा संसारचक्र में घूमने से होने वाले खेद (कष्ट) को जानने वाला। जैसे--

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम्।
मन्ये जन्मैव धीरस्य, भूयो भूयस्त्रपाकरम्॥

अर्थात्-- जरा, मरण, नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों तथा व्याधियों को न गिना जाय तो भी धीर पुरुष के लिए बार बार जन्म होना ही लज्जा की बात है।

अथवा क्षेत्र अर्थात् संसक्त आदि द्रव्य तथा भिक्षा के लिए छोड़ने योग्य कुलों को जानने वाला साधु।

(५) क्षणज्ञ- क्षण अर्थात् भिक्षा के लिये उचित समय को जानने वाला क्षणज्ञ कहलाता है।

(६) विनयज्ञ-- ज्ञान, दर्शन आदि की भक्ति रूप विनय को जानने वाला विनयज्ञ कहलाता है।

(७) स्वसमयज्ञ - अपने सिद्धान्त तथा आचार को जानने वाला अथवा उद्गम आदि भिक्षा के दोषों को समझने वाला साधु।

(८) परसमयज्ञ-- दूसरे के सिद्धान्त को समझने वाला। जो आवश्यकता पड़ने पर दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा अपने सिद्धान्त की विशेषताओं को बता सके।

(९) भावज्ञ--दाता और श्रोता के अभिप्राय को समझने वाला।

इस प्रकार नौ बातों का जानकार साधु संयम के लिए अतिरिक्त उपकरणादि को नहीं लेता हुआ तथा जिस काल में जो करने योग्य हो उसे करता हुआ विचरे।

(आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्य० २ उद्देशा ५, सूत्र ८९)

६४२- नैपुणिक नौ

निपुण अर्थात् सूक्ष्म ज्ञान को धारण करने वाले नैपुणिक

कहलाते हैं। अनुप्रवाद नाम के नवम पूर्व में नैपुणिक वस्तुओं के नौ अध्ययन हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं-

(१) संख्यान- गणित शास्त्र में निपुण व्यक्ति।

(२) निमित्त- चूडामणि वगैरह निमित्तों का जानकार।

(३) कायिक- शरीर की इडा, पिंगला वगैरह नाडियों को जानने वाला अर्थात् प्राणतत्त्व का विद्वान्।

(४) पुराण- वृद्ध व्यक्ति, जिसने दुनियाँ को देखकर तथा स्वयं अनुभव करके बहुत ज्ञान प्राप्त किया है, अथवा पुराण नाम के शास्त्र को जानने वाला।

(५) पारिहस्तिक- जो व्यक्ति स्वभाव से निपुण अर्थात् होशियार हो। अपने सब प्रयोजन समय पर पूरे कर लेता हो।

(६) परपण्डित- उत्कृष्ट पण्डित अर्थात् बहुत शास्त्रों को जानने वाला, अथवा जिसका मित्र वगैरह कोई पण्डित हो और उसके पास बैठने उठने से बहुत कुछ सीख गया हो और अनुभव कर लिया हो।

(७) वादी- शास्त्रार्थ में निपुण जिसे दूसरा न जीत सकता हो, अथवा मन्त्रवादी या धातुवादी।

(८) भूतिकर्म- ज्वरादि उतारने के लिए भभूत वगैरह मन्त्रित करके देने में निपुण।

(९) चैकित्सिक- वैद्य, चिकित्सा में निपुण। (ठाणांग, सूत्र ६७९)

६४३- पाप श्रुत नौ

जिस शास्त्र के पठन पाठन और विस्तार आदि से पाप होता है उसे पाप श्रुत कहते हैं। पाप श्रुत नौ हैं-

(१) उत्पात- प्रकृति के विकार अर्थात् रक्त वृष्टि आदि या राष्ट्र के उत्पात आदि को बताने वाला शास्त्र।

(२) निमित्त- भूत, भविष्यत् की बात को बताने वाला शास्त्र।

(३) मन्त्र– दूसरे को मारना, वश में कर लेना आदि मन्त्रों को बताने वाला शास्त्र ।

(४) मातङ्गविद्या– जिस के उपदेश से भोपा आदि के द्वारा भूत तथा भविष्यत् की बातें बताई जाती हैं ।

(५) चैकित्सिक– आयुर्वेद ।

(६) कला– लेख आदि जिन में गणित प्रधान है । अथवा पक्षियों के शब्द का ज्ञान आदि । पुरुष की बहत्तर तथा स्त्री की चौंसठ कलाएं ।

(७) आवरण– मकान वगैरह बनाने की वास्तु विद्या ।

(८) अज्ञान–लौकिक ग्रन्थ भरत नाट्य शास्त्र और काव्य वगैरह ।

(९) मिथ्या प्रवचन– चार्वाक आदि दर्शन ।

ये सभी पाप श्रुत हैं, किन्तु ये ही धर्म पर दृढ व्यक्ति के द्वारा यदि लोकहित की भावना से जाने जावें या काम में लाये जावें तो पाप श्रुत नहीं हैं । जब इनके द्वारा वासनापूर्ति या दूसरे को नुकसान पहुँचाया जाता है तभी पाप श्रुत हैं । (ठाणांग, सूत्र ६७८)

६४४ निदान (नियाणा) नौ

मोहनीय कर्म के उदय से काम भोगों की इच्छा होने पर साधु, साध्वी, श्रावक या श्राविका का अपने चित्त में संकल्प कर लेना कि मेरी तपस्या से मुझे अमुक फल प्राप्त हो, इसे निदान (नियाणा) कहते हैं ।

एक समय राजगृही नगरी में भगवान् महावीर पधारे । श्रेणिक राजा तथा चेलना रानी बड़े समारोह के साथ भगवान् को वन्दना करने गए । राजा की समृद्धि को देख कर कुछ साधुओं ने मन में सोचा, कौन जानता है देवलोक कैसा है । श्रेणिक राजा सब तरह से सुखी है । देवलोक इससे बढ़कर नहीं हो सकता । उन्होंने मन में निश्चय किया कि हमारी तपस्या का

फल यही हो कि श्रेणिक सरीखे राजा बनें। साध्वियों ने चेलना को देखा, उन्होंने भी संकल्प किया कि हम अगले जन्म में चेलना रानी सरीखी भाग्यशालिनी बनें। उसी समय भगवान् ने साधु तथा साध्वियों को बुलाकर नियाणों का स्वरूप तथा नौ भेद बताए। साथ में कहा-- जो व्यक्ति नियाणा करके मरता है वह एक बार नियाणे के फल को प्राप्त करके फिर बहुत काल के लिए संसार में परिभ्रमण करता है। नौ नियाणे इस प्रकार हैं-

(१) एक पुरुष किसी दूसरे समृद्धि शाली पुरुष को देख कर नियाणा करता है।

(२) स्त्री अच्छा पुरुष प्राप्त होने के लिए नियाणा करती है।

(३) पुरुष स्त्री के लिए नियाणा करता है।

(४) स्त्री स्त्री के लिए नियाणा करती है अर्थात् किसी सुखी स्त्री को देख कर उस सरीखी होने का नियाणा करती है।

(५) देवगति में देवरूप से उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरी देवियों को वैक्रिय शरीर द्वारा भोगने का नियाणा करता है।

(६) देव भव में सिर्फ अपनी देवी को वैक्रिय करके भोगने के लिए नियाणा करता है।

(७) देव भव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय के भोगने का नियाणा करता है।

(८) अगले भव में श्रावक बनने का नियाणा करता है।

(९) अगले भव में साधु होने का नियाणा करता है।

इनमें से पहिले चार नियाणे करने वाला जीव केवली प्ररूपित धर्म को सुन भी नहीं सकता। पाँचवें नियाणे वाला सुन तो लेता है लेकिन दुर्लभबोधि होता है और बहुत काल तक संसार परिभ्रमण करता है। छठे वाला जीव जिनधर्म

को सुनकर और समझकर भी दूसरे धर्म की ओर रुचि वाला होता है। सातवें वाला सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, अर्थात् उसे धर्म पर श्रद्धा तो होती है लेकिन व्रत अंगीकार नहीं कर सकता। आठवें वाला श्रावक के व्रत ले सकता है किन्तु साधु नहीं हो सकता। नवें नियाणे वाला साधु हो सकता लेकिन उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकता। (दशाश्रुतस्कन्ध १० वीं दशा)

६४५- लौकान्तिक देव नौ

(१) सारस्वत (२) आदित्य (३) वह्नि (४) वरुण (५) गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध (८) आग्नेय और (९) रिष्ठ।

इनमें से पहले आठ कृष्णराजियों में रहते हैं। कृष्णराजियों का स्वरूप आठवें बोल संग्रह के बोल नं० ६१६ में बता दिया गया है। रिष्ठ नामक देव कृष्णराजियों के बीच में रिष्टाभ नामक विमान के प्रतर में रहते हैं। (ठाणाग, सूत्र ६८४)

६४६- बलदेव नौ

वासुदेव के बड़े भाई को बलदेव कहते हैं। बलदेव सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा स्वर्ग या मोक्ष में ही जाते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल के नौ बलदेवों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) अचल (२) विजय (३) भद्र (४) सुप्रभ (५) सुदर्शन (६) आनन्द (७) नन्दन (८) पद्म (रामचन्द्र) और (९) राम (बलराम)। इन में बलराम को छोड़ कर बाकी सब मोक्ष गए हैं। नवें बलराम पाँचवें देवलोक गए हैं।

(हरिभद्रीयावश्यक भाग १) (प्रवचनसारोद्धार द्वार २०९) (समवायांग १५८)

६४७- वासुदेव नौ

प्रतिवासुदेव को जीत कर जो तीन खण्ड पर राज्य करता है उसे वासुदेव कहते हैं। इसका दूसरा नाम अर्धचक्री भी है।

वर्तमान अवसर्पिणी के नौ वासुदेवों के नाम निम्न लिखित हैं।

(१) त्रिपृष्ठ (२) द्विपृष्ठ (३) स्वयम्भू (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुषसिंह (६) पुरुषपुण्डरीक (७) दत्त (८) नारायण (राम का भाई लक्ष्मण) (९) कृष्ण।

वासुदेव, प्रतिवासुदेव पूर्वभव में नियाणा करके ही उत्पन्न होते हैं। नियाणे के कारण वे शुभगति को प्राप्त नहीं करते।

(हरिभद्रीयावश्यक भाग १) (प्रवचनसारोद्धार द्वार ११०)

६४८- प्रतिवासुदेव नौ

वासुदेव जिसे जीत कर तीन खण्ड का राज्य प्राप्त करता है उसे प्रतिवासुदेव कहते हैं। वे नौ होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के प्रतिवासुदेव नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) अश्वग्रीव (२) तारक (३) मेरक (४) मधुकैटभ (इनका नाम सिर्फ मधु है, कैटभ इनका भाई था। साथ साथ रहने से मधुकैटभ नाम पड़ गया) (५) निशुम्भ (६) बलि (७) प्रभाराज अथवा प्रह्लाद (८) रावण (९) जरासन्ध।

(समवायाग १५८) (प्रवचनसारोद्धार द्वार २११)

६४९- बलदेवों के पूर्व भव के नाम

अचल आदि नौ बलदेवों के पूर्वभव में क्रमशः नीचे लिखे नौ नाम थे-

(१) विपनन्दी (२) सुबन्धु (३) सागरदत्त (४) अशोक (५) ललित (६) वाराह (७) धर्मसेन (८) अपराजित (९) राजललित।

(समवायांग १५८)

६५०- वासुदेवों के पूर्वभव के नाम

(१) विश्वभूति (२) पर्वतक (३) धनदत्त (४) समुद्रदत्त (५) ऋषिपाल (६) प्रियमित्र (७) ललितमित्र (८) पुनर्वसु (९) गंगदत्त।

(समवायांग १५८)

६५१- बलदेव और वासुदेवों के पूर्वभव के आचार्यों के नाम

(१) सम्भूत (२) सुभद्र (३) सुदर्शन (४) श्रेयांस (५) कृष्ण (६) गंगदत्त (७) आसागर (८) समुद्र (९) द्रुमसेन ।

पूर्वभव में बलदेव और वासुदेवों के ये आचार्य थे । इन्हीं के पास उत्तम करनी करके इन्हों ने बलदेव या वासुदेव का आयुष्य बाँधा था । (समवायांग १५८)

६५२- नारद नौ

प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में नौ नारद होते हैं । वे पहले मिथ्यात्वी तथा बाद में सम्यक्त्वी हो जाते हैं । सभी मोक्ष या स्वर्ग में जाते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) भीम (२) महाभीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महाकाल (७) चतुर्मुख (८) नवमुख (९) उन्मुख ।

(ऋषिमण्डल वृत्ति) (सेनप्रश्न उल्लास ३ प्रश्न ६६)

६५३- अनृद्धिप्राप्त आर्य के नौ भेद

अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण या विद्याधर की ऋद्धि से रहित आर्य को अनृद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं । इन के नौ भेद हैं --

(१) क्षेत्रार्य- आर्यक्षेत्रों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति । साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्रों का वर्णन पच्चीसवें बोल संग्रह के अन्त में दिया जायगा।

(२) जाति आर्य- अंबष्ठ, कलिंद, विदेह, वेदग, हरित और चुँचुण इन छः आर्य जातियों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।

(३) कुलार्य- उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात और कौरव्य इन छः कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।

(४) कर्मार्य-हिंसा आदि क्रूर कर्म नहीं करने वाला व्यक्ति ।

(५) शिल्पार्य– जिस शिल्प में हिंसा आदि पाप नहीं लगते ऐसे शिल्प को करने वाले।

(६) भाषार्य– जिनकी अर्धमागधी भाषा तथा ब्राह्मी लिपि है वे भाषार्य हैं।

(७) ज्ञानार्य– पाँच ज्ञानों में किसी ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानार्य हैं।

(८) दर्शनार्य– सरागदर्शनार्य और वीतरागदर्शनार्य को दर्शनार्य कहते हैं। सरागदर्शनार्य दस प्रकार के हैं, वे दसवें बोल में दिये जायेंगे। वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के हैं– उपशान्त कषाय वीतरागदर्शनार्य और क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्य।

(९) चारित्रार्य– पाँच प्रकार के चारित्र में से किसी चारित्र को धारण करने वाले चारित्रार्य कहे जाते हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ६५-७६)

६५४– चक्रवर्ती की महानिधियाँ नौ

चक्रवर्ती के विशाल निधान अर्थात् खजाने को महानिधि कहते हैं। प्रत्येक निधान नौ योजन विस्तार वाला होता है। चक्रवर्ती की सारी सम्पत्ति इन नौ निधानों में विभक्त है। ये सभी निधान देवता के द्वारा अधिष्ठित होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

नेसप्पे पंडुयए पिंगलते सव्वरयण महापउमे।
काले य महाकाले माणवग महानिही संखे ॥

अर्थात्– (१) नैसर्प (२) पाण्डुक (३) पिङ्गल (४) सर्वरत्न (५) महापद्म (६) काल (७) महाकाल (८) माणवक (९) शंख ये नौ महानिधियाँ हैं।

(१) नैसर्प निधि– नए ग्रामों का बसाना, पुराने ग्रामों को व्यवस्थित करना, जहाँ नमक आदि उत्पन्न होते हैं ऐसे समुद्र तट या दूसरे प्रकार की खानों का प्रबन्ध, नगर, पत्तन अर्थात्

बन्दरगाह, द्रोणमुख जहाँ जल और खुश्की दोनों तरह का मार्ग हो, मडंब अर्थात् ऐसा जंगल जहाँ नजदीक बस्ती न हो, स्कन्धावार अर्थात् सेना का पड़ाव, इत्यादि वस्तुओं का प्रबन्ध नैसर्प निधि के द्वारा होता है।

(२) पाण्डुक निधि– दीनार वगैरह सोना चाँदी के सिक्के आदि गिनी जाने वाली वस्तुएं और उन्हें बनाने की सामग्री, जिन का माप कर व्यवहार होता है ऐसे धान तथा वस्त्र वगैरह, उन्मान अर्थात् तोली जाने वाली वस्तुएं गुड़ खांड आदि तथा धान्यादि की उत्पत्ति का सारा काम पाण्डुक निधि में होता है।

(३) पिङ्गल निधि– स्त्री, पुरुष, हाथी घोड़े आदि सब के आभूषणों का प्रबन्ध पिङ्गल निधि में होता है।

(४) सर्वरत्न निधि– चक्रवर्ती के चौदह रत्न अर्थात् चक्रादि सात एकेन्द्रिय तथा सेनापति आदि सात पञ्चेन्द्रिय रत्न सर्वरत्न नाम की चौथी निधि में होते हैं।

(५) महापद्म निधि– रंगीन तथा सफेद सब प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति तथा उनका विभाग वगैरह सारा काम महापद्म नाम की पाँचवी निधि में होता है।

(६) काल निधि–भूत काल के तीन वर्ष, भविष्यत् काल के तीन वर्ष तथा वर्तमान काल का ज्ञान, घट, लोह, चित्र, वस्त्र नापित इन में प्रत्येक के बीस भेद होने से सौ प्रकार का शिल्प तथा कृषि-वाणिज्य वगैरह कर्म काल निधि में होते हैं। ये तीनों बातें अर्थात् काल ज्ञान, शिल्प और कर्म प्रजाहित के लिए होती हैं।

(७) महाकाल निधि–खानों से सोना चांदी लोहा आदि धातुओं की उत्पत्ति तथा चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, मोती, स्फटिक मणि की शिलाएं और मूँगे आदि को इकट्ठा करने का काम महाकाल निधि में होता है।

(८) माणवक निधि– शूरवीर योद्धाओं का इकट्ठा करना, कवच आदि बनाना, हथियार तैयार करना, व्यूह रचना आदि युद्धनीति तथा साम, दाम, दण्ड और भेद चार प्रकार की दण्डनीति माणवक निधि में होती है।

(९) शंख निधि– नाच तथा उसके सब भेद, नाटक और उसके सब भेद, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का साधक अथवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रन्श और संकीर्ण भाषा में बनाया हुआ अथवा सम छन्दों से बना हुआ, विषम छन्दों से बना हुआ, अर्द्धसम छन्दों से बना हुआ और गद्यबन्ध, इस प्रकार चार तरह के गद्य, पद्य और गेय काव्य की उत्पत्ति शंख निधि में होती है। सब तरह के बाजे भी इसी निधि में होते हैं।

ये निधियाँ चक्र पर प्रतिष्ठित हैं। इन की आठ योजन ऊँचाई, नौ योजन चौड़ाई तथा बारह योजन लम्बाई होती है। ये पेटी के आकार वाली हैं। गंगा नदी का मुँह इनका स्थान है। इनके किवाड़ वैडूर्यमणि के बने होते हैं। वे सोने से बनी हुई तरह तरह के रत्नों से प्रतिपूर्ण, चन्द्र, सूर्य चक्र आदि के चिह्न वाली तथा समान स्तम्भ और दरवाजों वाली होती हैं। इन्हीं नामों वाले निधियों के अधिष्ठाता त्रायस्त्रिंश देव हैं।

(ठाणांग, सूत्र ६७३)



दसवां बोल संग्रह

६५५- केवली के दस अनुत्तर

दूसरी कोई वस्तु जिससे बढ़ कर न हो अर्थात् जो सब से बढ़ कर हो उसे अनुतर कहते हैं। केवली भगवान् में दस बातें अनुत्तर होती हैं-

(१) अनुत्तर ज्ञान- ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान से बढ़ कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए केवली भगवान् का ज्ञान अनुत्तर कहलाता है।

(२) अनुत्तर दर्शन- दर्शनावरणीय अथवा दर्शनमोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

(३) अनुत्तर चारित्र- चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से यह उत्पन्न होता है।

(४) अनुत्तर तप- केवली के शुक्ल ध्यानादि रूप अनुत्तर तप होता है।

(५) अनुत्तर वीर्य्य- वीर्य्यान्तराय कर्म के क्षय से अनन्त वीर्य्य पैदा होता है।

(६) अनुत्तर क्षान्ति (क्षमा)- क्रोध का त्याग।

(७) अनुत्तर मुक्ति- लोभ का त्याग।

(८) अनुत्तर आर्जव (सरलता)- माया का त्याग।

(९) अनुत्तर मार्दव (मृदुता)- मान का त्याग।

(१०) अनुत्तर लाघव (हलकापन) घाती कर्मों का क्षय हो जाने के कारण उनके ऊपर संसार का बोझ नहीं रहता। क्षान्ति आदि पाँच चारित्र के भेद हैं और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६३)

६५६- पुण्यवान् को प्राप्त होने वाले दस बोल

जो मनुष्य अच्छे कर्म करते हैं, वे आयुष्य पूर्ण करके ऊँचे देवलोक में महाऋद्धि वाले देव होते हैं। वहाँ सुखों को भोगते हुए अपनी आयु पूरी करके मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं। उस समय उन्हें दस बोलों की प्राप्ति होती है-

(१) क्षेत्र (ग्रामादि), वास्तु (घर), सुवर्ण (उत्तम धातुएं) पशु दास (नौकर चाकर और चौपाए) इन चार स्कन्धों से भरपूर कुल में पैदा होते हैं।

(२) बहुत मित्रों वाले होते हैं।

(३) बहुत सगे सम्बन्धियों को प्राप्त करते हैं।

(४) ऊँचे गोत्र वाले होते हैं।

(५) कान्ति वाले होते हैं।

(६) शरीर नीरोग होता है।

(७) तीव्र बुद्धि वाले होते हैं।

(८) कुलीन अर्थात् उदार स्वभाव वाले होते हैं।

(९) यशस्वी होते हैं।

(१०) बलवान् होते हैं। (उत्तराध्ययन अ० ३ गाथा १७-१८)

६५७- भगवान् महावीर स्वामी के दस स्वप्न

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था में (गृहस्थ वास में) एक वर्ष पर्यन्त वर्षीदान देकर देव, मनुष्य और असुरों से परिवृत हो कुण्डपुर नगर से निकले। मिगसर कृष्णा

दशमी के दिन ज्ञातखण्ड वन के अन्दर अकेले महावीर स्वामी ने दीक्षा ली। तीर्थङ्करों को मति, श्रुत और अवधि ज्ञान तो जन्म से ही होता है। दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यय नामक चौथा ज्ञान उत्पन्न होगया। एक समय अस्थिक ग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के देहरे में भगवान् चतुर्मास के लिए ठहरे। एक रात्रि में भगवान् महावीर स्वामी को कष्ट देने के लिए शूलपाणि यक्ष ने अनेक प्रकार के उपसर्ग दिए। हाथी, पिशाच और सर्प का रूप धारण कर भगवान् को बहुत उपसर्ग दिये और उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए बहुत प्रयत्न किये। किन्तु जब वह अपने प्रयत्न में सफल न हुआ तब डांस, मच्छर बन कर भगवान् के शिर, नाक, कान, पीठ आदि में तेज डंक मारे किन्तु जिस प्रकार प्रचण्ड वायु के चलने पर भी सुमेरु पर्वत का शिखर विचलित नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् वर्द्धमान स्वामी को अविचलित देख कर वह शूलपाणि यक्ष थक गया। तब भगवान् के चरणों में नमस्कार कर विनय पूर्वक इस तरह कहने लगा कि हे भगवन्! मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा प्रदान कीजिये।

उसी समय सिद्धार्थ नाम का व्यन्तर देव उस यक्ष को दण्ड देने के लिए दौड़ा और इस प्रकार कहने लगा कि अरे शूल-पाणि यक्ष! जिसकी कोई इच्छा नहीं करता ऐसे मरण की इच्छा करने वाला! लज्जा, लक्ष्मी और कीर्ति से रहित, हीन पुण्य! तूँ नहीं जानता है कि ये सम्पूर्ण संसार के प्राणियों तथा सुर, असुर, इन्द्र, नरेन्द्र द्वारा वन्दित, त्रिलोक पूज्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं। तेरे इस दुष्ट कार्य्य को यदि शक्रेन्द्र जान लेंगे तो वे तुझे अतिकठोर दण्ड देंगे।

सिद्धार्थ व्यन्तर देव के वचनों को सुन कर वह शूलपाणि

यक्ष बहुत भयभीत हुआ और भगवान् से अति विनय पूर्वक अपने अपराध की पुनः पुनः क्षमा मांगने लगा।

उस रात्रि में पौने चार पहर तक भगवान् उस यक्ष द्वारा दिये गये उपसर्गों को समभाव से सहन करते रहे। रात्रि के अन्तिम भाग में अर्थात् प्रातः काल जब एक मुहूर्त्त मात्र रात्रि शेष रही तब भगवान् को एक मुहूर्त्त निद्रा आगई। उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दस स्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं-

(१) प्रथम स्वप्न में एक भयङ्कर अति विशाल काय और तेजस्वी रूप वाले ताड़ वृक्ष के समान पिशाच को पराजित किया।

(२) दूसरे स्वप्न में सफेद पंख वाले पुंस्कोकिल (पुरुष जाति के कोयल) को देखा। साधारणतया कोयल के पंख काले होते हैं, किन्तु भगवान् ने स्वप्न में सफेद पंख वाले कोयल को देखा।

(३) तीसरे स्वप्न में विचित्र रंगों के पंख वाले कोयल को देखा।

(४) चौथे स्वप्न में एक महान् सर्वरत्नमय मालायुगल (दो मालाओं) को देखा।

(५) पाँचवें स्वप्न में एक विशाल श्वेत गायों के झुण्ड को देखा।

(६) छठे स्वप्न में चारों तर्फ से खिले फूलों वाले एक विशाल पद्म सरोवर को देखा।

(७) सातवें स्वप्न में हजारों तरंगों (लहरों) और कल्लोलों से युक्त एक महान् सागर को भुजाओं से तैर कर पार पहुँचे।

(८) आठवें स्वप्न में अति तेज पुञ्ज से युक्त सूर्य को देखा।

(९) नवें स्वप्न में मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्य मणि के समान अपने अन्तरभाग (उदर मध्य स्थित अवयव विशेष) से चारों तरफ से आवेष्टित एवं परिवेष्टित (घिरा हुआ) देखा।

(१०) सुमेरु पर्वत की मंदर चूलिका नाम की चोटी पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए अपने आप को देखा।

उपरोक्त दस स्वप्न देखकर भगवान् महावीर स्वामी जागृत हुए। इन दस स्वप्नों का फल इस प्रकार है-
(१) प्रथम स्वप्न में पिशाच को पराजित किया। इसका यह फल है कि भगवान् महावीर मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करेंगे।
(२) श्वेत पक्ष वाले पुंस्कोकिल को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी शीघ्र ही शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर विचरेंगे।
(३) विचित्र पक्ष वाले पुंस्कोकिल को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचित्र (विविध विचार युक्त) स्वसमय और परसमय को बतलाने वाले द्वादशाङ्गी रूप गणि पिटक का कथन करेंगे। द्वादशाङ्ग के नाम इस प्रकार हैं-
(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (सूयगडांग) (३) स्थानाङ्ग (ठाणांग) (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (७) उपासक दशाङ्ग (८) अन्तकृद्दशाङ्ग (अन्तगड) (९) अनुत्तरौपपातिक (अनुत्तरोववाई) (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक सूत्र (१२) दृष्टिवाद।
(४) सर्वरत्नमय मालायुगल (दो माला) को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञानी होकर सागार धर्म (श्रावक धर्म) और अनगार धर्म (साधु धर्म) की प्ररूपणा करेंगे।
(५) श्वेत गायों के झुण्ड को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के (१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक (४) श्राविका रूप चार प्रकार का संघ होगा।
(६) पद्मसरोवर के देखने का यह फल होगा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों से परिवेष्टित रहेंगे और उन्हें धर्म

यक्ष बहुत भयभीत हुआ और भगवान् से अति विनय पूर्वक अपने अपराध की पुनः पुनः क्षमा मांगने लगा।

उस रात्रि में पौने चार पहर तक भगवान् उस यक्ष द्वारा दिये गये उपसर्गों को समभाव से सहन करते रहे। रात्रि के अन्तिम भाग में अर्थात् प्रातः काल जब एक मुहूर्त्त मात्र रात्रि शेष रही तब भगवान् को एक मुहूर्त्त निद्रा आगई। उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दस स्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं–

(१) प्रथम स्वप्न में एक भयङ्कर अति विशाल काय और तेजस्वी रूप वाले ताड़ वृक्ष के समान पिशाच को पराजित किया।

(२) दूसरे स्वप्न में सफेद पंख वाले पुँस्कोकिल (पुरुष जाति के कोयल) को देखा। साधारणतया कोयल के पंख काले होते हैं, किन्तु भगवान् ने स्वप्न में सफेद पंख वाले कोयल को देखा।

(३) तीसरे स्वप्न में विचित्र रंगों के पंख वाले कोयल को देखा।

(४) चौथे स्वप्न में एक महान् सर्वरत्नमय मालायुगल (दो मालाओं) को देखा।

(५) पाँचवें स्वप्न में एक विशाल श्वेत गायों के झुण्ड को देखा।

(६) छठे स्वप्न में चारों तर्फ से खिले फूलों वाले एक विशाल पद्म सरोवर को देखा।

(७) सातवें स्वप्न में हजारों तरंगों (लहरों) और कल्लोलों से युक्त एक महान् सागर को भुजाओं से तैर कर पार पहुँचे।

(८) आठवें स्वप्न में अति तेज पुञ्ज से युक्त सूर्य को देखा।

(९) नवें स्वप्न में मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्य्य मणि के समान अपने अन्तरभाग (उदर मध्य स्थित अवयव विशेष) से चारों तरफ से आवेष्टित एवं परिवेष्टित (घिरा हुआ) देखा।

(१०) सुमेरु पर्वत की मंदर चूलिका नाम की चोटी पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए अपने आप को देखा।

उपरोक्त दस स्वप्न देख कर भगवान् महावीर स्वामी जागृत हुए। इन दस स्वप्नों का फल इस प्रकार है–

(१) प्रथम स्वप्न में पिशाच को पराजित किया। इसका यह फल है कि भगवान् महावीर मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करेंगे।

(२) श्वेत पक्ष वाले पुंस्कोकिल को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी शीघ्र ही शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर विचरेंगे।

(३) विचित्र पक्ष वाले पुंस्कोकिल को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचित्र (विविध विचार युक्त) स्वसमय और परसमय को बतलाने वाले द्वादशाङ्गी रूप गणि पिटक का कथन करेंगे। द्वादशाङ्ग के नाम इस प्रकार हैं–
(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (सूयगडांग) (३) स्थानाङ्ग (ठाणांग) (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) (६) ज्ञाता-धर्मकथाङ्ग (७) उपासक दशाङ्ग (८) अन्तकृद्दशाङ्ग (अन्तगड) (९) अनुत्तरौपपातिक (अनुत्तरोववाई) (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक सूत्र (१२) दृष्टिवाद।

(४) सर्वरत्नमय मालायुगल (दो माला) को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञानी होकर सागार धर्म (श्रावक धर्म) और अनगार धर्म (साधु धर्म) की प्ररूपणा करेंगे।

(५) श्वेत गायों के झुण्ड को देखने का यह फल है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के (१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक (४) श्राविका रूप चार प्रकार का संघ होगा।

(६) पद्मसरोवर के देखने का यह फल होगा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों से परिवेष्टित रहेंगे और उन्हें धर्म

का स्वरूप समझाएंगे।

(७) महासागर को भुजाओं द्वारा तैरने रूप सातवें स्वप्न का यह फल होगा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनादि और अनन्त संसार समुद्र को पार कर निर्वाण पद को प्राप्त करेंगे।

(८) तेजस्वी सूर्य्य को देखने का यह फल होगा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनन्त, अनुत्तर, निरावरण समग्र और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करेंगे।

(९) नवें स्वप्न का यह फल होगा कि देवलोक, मनुष्यलोक और असुरलोक (भवनपति और वाणव्यन्तर देवों के रहने की जगह) में 'ये केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं' इस तरह की उदार कीर्ति, स्तुति, सन्मान और यश को प्राप्त होंगे।

(१०) दसवें स्वप्न में भगवान् ने अपने आप को मेरुपर्वत की मन्दर चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए देखा। इसका यह फल होगा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञानी होकर देव, मनुष्य और असुरों (भवनवासी और व्यन्तरदेव) से युक्त परिषद् में विराज कर धर्मोपदेश करेंगे।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था के अन्दर एक मुहूर्त की निद्रा में ये दस स्वप्न देखे, जिनका फल ऊपर बताया गया है। भगवान् साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। उस में सिर्फ यह एक मुहूर्तमात्र जो निद्रा (जिस में दस स्वप्न देखे थे) आई थी वह प्रमाद सेवन किया। इसके सिवाय उन्होंने किसी तरह का कोई भी प्रमाद सेवन नहीं किया।

(भगवती शतक १६ उद्देशा ६) (ठाणांग, सूत्र ७५०)

भगवान् महावीर स्वामी ने ये दस स्वप्न किस रात्रि में देखे थे, इस विषय में कुछ की ऐसी मान्यता है कि 'अन्तिम

राइयंसि' अर्थात् छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम रात्रि में ये स्वप्न देखे थे अर्थात् जिस रात्रि में ये स्वप्न देखे उसके दूसरे दिन ही भगवान् को केवल ज्ञान हो गया था। कुछ का कथन है कि 'अन्तिम राइयंसि' अर्थात् 'रात्रि के अन्तिम भाग में।' यहाँ पर किसी रात्रि विशेष का निर्देश नहीं किया गया है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि स्वप्न देखने के कितने समय बाद भगवान् को केवलज्ञान हुआ था। इस विषय में भिन्न भिन्न प्रतियों में जो अर्थ दिए गए हैं वे ज्यों के त्यों यहाँ उद्धृत किये जाते हैं–

समणे भगवं महावीरे छउमत्थ कालियाए अंतिम-राइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

(१) अर्थ– ज्यां रे श्रमण भगवन्त महावीर छद्मस्थपणां मां हता त्यारे ते ओ एक रात्रिना छेल्ला प्रहर मां आ दस स्वप्नो जोई ने जाग्या।

(भगवती शतक १६ उद्देशा ६, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद द्वारा विक्रम संवत् १९९० में प्रकाशित, पं० भगवानदास हरखचन्द दोशी कृत गुजराती अनुवाद, चतुर्थ खण्ड पृष्ठ १६)

(२) श्रमण भगवन्त श्री महावीर देव छद्मस्थ काल पणा नी रात्रइ नइ अन्तिम भागे एह दस वक्ष्यमाण मोटा स्वप्न देखी ने जागइ।

(हस्त लिखित भगवती ५७० पानों वाली का टब्बा अर्थ पृष्ठ ३८६, सेठिया जैन ग्रन्थालय बीकानेर की प्रति)

(३) 'अन्तिम राइयंसि'– रात्रेरन्तिमे भागे, अर्थात् रात्रि के अन्तिम भाग में।

(भगवती, आगमोदय समिति द्वारा वि० स० १९७७ में प्रकाशित संस्कृत टीका पृष्ठ ७१०)

(४) अन्तिम राइयंसि– अन्तिमा अन्तिम भागरूपा अवयवे

समुदायोपचारात्। सा चासौ रात्रिका च अन्तिमरात्रिका तस्यां, रात्रेरवसाने इत्यर्थः।

(आगमोदय समिति द्वारा सं० १९७६ में प्रकाशित ठाणाग १०, सूत्र ७५० पृष्ठ ५०१)

(५) अन्तिम राइया- अन्तिम रात्रिका, अन्तिमा अन्तिम भाग रूपा अवयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरात्रिका। रात्रेरवसाने इत्यर्थः।

अर्थात्- अन्तिम भाग रूप जो रात्रि वह अन्तिम रात्रि है। यहाँ रात्रि के एक भाग को रात्रि शब्द से कहा गया है। इस प्रकार अन्तिम भाग रूप रात्रि अर्थ निकलता है। अर्थात् रात्रि के अवसान में।

(अभिधानराजेन्द्र कोष प्रथम भाग पृष्ठ १०१)

(६) अन्तिम राइ- रात्रि नो छेड़ो (छेल्लो) भाग, पिछली रात।

(शतावधानी पं० रत्नचन्द्रजी महाराज कृत अर्धमागधी कोष प्रथम भाग पृष्ठ ३८)

(७) अन्तिम राइयंसि- श्रमण भगवन्त श्री महावीर छद्मस्था ए छेल्ली रात्रि ना अन्ते।

(विक्रम संवत १८८४ में हस्त लिखित सत्रा लन्बी भगवती शतक १६ उ० ६)

(८) छ० छद्मस्थ, का० काल में, अं० अन्तिम रात्रि में, इ० ये, द० दस, महा० महास्वप्न, पा० देख कर, प० जागृत हुए।

श्री श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम रात्रि में दस स्वप्नों को देख कर जागृत हुए।

(भगवती सूत्र अमोलख ऋषिजी कृत हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २२२४-२५ सन् १९२०, वीर संवत् २४४२ में प्रकाशित)

६५८- लब्धि दस

ज्ञान आदि के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षय,

क्षयोपशम या उपशम से आत्मा में ज्ञान आदि गुणों का प्रकट होना लब्धि है। इसके दस भेद हैं-

(१) ज्ञानलब्धि- ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयादि से आत्मा में मतिज्ञानादि का प्रकट होना।

(२) दर्शन लब्धि- सम्यक्, मिथ्या या मिश्र श्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम दर्शन लब्धि है।

(३) चारित्र लब्धि- चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम चारित्र लब्धि है।

(४) चारित्राचारित्र लब्धि- अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म के क्षयादि से होने वाले आत्मा के देशविरति रूप परिणाम को चारित्राचारित्र लब्धि कहते हैं।

(५) दान लब्धि- दानान्तराय के क्षयादि से होने वाली लब्धि को दान लब्धि कहते हैं।

(६) लाभ लब्धि- लाभान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि।

(७) भोग लब्धि- भोगान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि भोग लब्धि है।

(८) उपभोग लब्धि- उपभोगान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि उपभोग लब्धि है।

(९) वीर्य लब्धि- वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि वीर्य्य लब्धि है।

(१०) इन्द्रिय लब्धि- मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भावेन्द्रियों का तथा जाति नामकर्म और पर्याप्त नामकर्म के उदय से द्रव्येन्द्रियों का होना। (भगवती शतक ८ उद्देशा २)

६५९- मुण्ड दस

जो मुण्डन अर्थात् अपनयन (हटाना) करे, किसी वस्तु को छोड़े उसे मुण्ड कहते हैं। इसके दस भेद हैं-

(१) श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड- श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।
(२) चक्षुरिन्द्रियमुण्ड- चक्षुरिन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।
(३) घ्राणेन्द्रियमुण्ड- घ्राणेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।
(४) रसनेन्द्रियमुण्ड- रसनेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।
(५) स्पर्शनेन्द्रियमुण्ड- स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।
(६) क्रोधमुण्ड- क्रोध छोड़ने वाला।
(७) मानमुण्ड- मान का त्याग करने वाला।
(८) मायामुण्ड- माया अर्थात् कपटाई छोड़ने वाला।
(९) लोभमुण्ड- लोभ का त्याग करने वाला।
(१०) सिरमुण्ड- सिर मुँडाने वाला अर्थात् दीक्षा लेने वाला।

(ठाणांग, सूत्र ७४६)

६६०- स्थविर दस

बुरे मार्ग में प्रवृत्त मनुष्य को जो सन्मार्ग में स्थिर करे उसे स्थविर कहते हैं। स्थविर दस प्रकार के होते हैं-
(१) ग्रामस्थविर-गांव में व्यवस्था करने वाला बुद्धिमान् तथा प्रभावशाली व्यक्ति जिसका वचन सभी मानते हों।
(२) नगरस्थविर- नगर में व्यवस्था करने वाला, वहाँ का माननीय व्यक्ति।
(३) राष्ट्रस्थविर- राष्ट्र का माननीय तथा प्रभावशाली नेता।
(४) प्रशास्तृस्थविर- प्रशास्ता अर्थात् धर्मोपदेश देने वाला।
(५) कुलस्थविर- लौकिक अथवा लोकोत्तर कुल की व्यवस्था

करने वाला और व्यवस्था तोड़ने वाले को दण्ड देने वाला।
(६) गणस्थविर– गण की व्यवस्था करने वाला।
(७) संघस्थविर– संघ की व्यवस्था करने वाला।
(८) जातिस्थविर– जिस व्यक्ति की आयु साठ वर्ष से अधिक हो। इस को वयस्थविर भी कहते हैं।
(९) श्रुतस्थविर– समवायांग आदि अङ्गों को जानने वाला।
(१०) पर्यायस्थविर–बीस वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला।

(ठाणांग, सूत्र ७६१)

६६१– श्रमणधर्म दस

मोक्ष की साधन रूप क्रियाओं के पालन करने को चारित्र धर्म कहते हैं। इसी का नाम श्रमणधर्म है। यद्यपि इसका नाम श्रमण अर्थात् साधु का धर्म है, फिर भी सभी के लिए जानने योग्य तथा आचरणीय है। धर्म के ये ही दस लक्षण माने जाते हैं। अजैन सम्प्रदाय भी धर्म के इन लक्षणों को मानते हैं। वे इस प्रकार हैं–

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तवसंजमे अ बोधव्वं।
सच्चं सोअं अकिंचणं च, बंभं च जइधम्मो॥

(१) क्षमा– क्रोध पर विजय प्राप्त करना। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना।
(२) मार्दव– मान का त्याग करना। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान, लाभ और बल इन आठों में से किसी का मद न करना। मिथ्याभिमान को सर्वथा छोड़ देना।
(३) आर्जव– कपटरहित होना। माया, दम्भ, ठगी आदि का सर्वथा त्याग करना।
(४) मुक्ति– लोभ पर विजय प्राप्त करना। पौद्गलिक वस्तुओं पर बिल्कुल आसक्ति न रखना।

(५) तप– इच्छा का रोकना और कष्ट का सहन करना।
(६) संयम– मन, वचन और काया की प्रवृत्ति पर अंकुश रखना। उनकी अशुभ प्रवृत्ति न होने देना। पाँचों इन्द्रियों का दमन, चारों कषायों पर विजय, मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकना तथा प्राणातिपात आदि पाँच पापों से निवृत्त होना, इस प्रकार संयम १७ प्रकार का है।
(७) सत्य– सत्य, हित और मित वचन बोलना।
(८) शौच– शरीर के अङ्गों को पवित्र रखना तथा दोष रहित आहार लेना द्रव्य शौच है। आत्मा के शुभ भावों को बढ़ाना भाव शौच है।
(९) अकिंचनत्व– किसी वस्तु पर मूर्छा न रखना। परिग्रह बढ़ाने, संग्रह करने या रखने का त्याग करना।
(१०) ब्रह्मचर्य– नव वाड़ सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना।
(नवतत्त्व गाथा २९)(समवायाग १०) (श्री शान्तसुधारस भाग १ संवर भावना)

६६२– कल्प दस

शास्त्र में लिखे हुए साधुओं के अनुष्ठान विशेष अथवा आचार को कल्प कहते हैं। इसके दस भेद हैं–
(१) अचेल कल्प– वस्त्र न रखना या थोड़े, अल्प मूल्य वाले तथा जीर्ण वस्त्र रखना अचेल कल्प कहलाता है। यह दो तरह का होता है। वस्त्रों के अभाव में तथा वस्त्रों के रहते हुए। तीर्थङ्कर या जिनकल्पी साधुओं का वस्त्रों के अभाव में अचेल कल्प होता है। यद्यपि दीक्षा के समय इन्द्र का दिया हुआ देवदूष्य भगवान् के कन्धे पर रहता है, किन्तु उसके गिर जाने पर वस्त्र का अभाव हो जाता है। स्थविरकल्पी साधुओं का कपड़े होते हुए अचेल कल्प होता है, क्योंकि वे जीर्ण, थोड़े तथा कम मूल्य वाले वस्त्र पहिनते हैं।

अचेल कल्प का अनुष्ठान प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में होता है, क्योंकि प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड़ तथा अन्तिम तीर्थंकर के वक्रजड होते हैं अर्थात् पहले तीर्थङ्कर के साधु सरल और भद्रीक होने से दोषादोष का विचार नहीं कर सकते। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र होने से भगवान् की आज्ञा में गली निकालने की कोशिश करते रहते हैं। इस लिए इन दोनों के लिए स्पष्ट रूप से विधान किया जाता है।

बीच के अर्थात् द्वितीय से लेकर तेईसवें तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे अधिक समझदार भी होते हैं और धर्म का पालन भी पूर्णरूप से करना चाहते हैं। वे दोष आदि का विचार स्वयं कर लेते हैं, इस लिए उनके लिए छूट है। वे अधिक मूल्य वाले तथा रंगीन वस्त्र भी ले सकते हैं, उनके लिए अचेल कल्प नहीं है।

(२) औद्देशिक कल्प- साधु, साध्वी, याचक आदि को देने के लिए बनाया गया आहार औद्देशिक कहलाता है। औद्देशिक आहार के विषय में बताए गए आचार को औद्देशिक कल्प कहते हैं। औद्देशिक आहार के चार भेद हैं- (क) साधु या साध्वी आदि किसी विशेष का निर्देश बिना किए सामान्य रूप से संघ के लिए बनाया गया आहार। (ख) श्रमण या श्रमणियों के लिए बनाया गया आहार। (ग) उपाश्रय अर्थात् अमुक उपाश्रय में रहने वाले साधु तथा साध्वियों के लिए बनाया गया आहार। (घ) किसी व्यक्ति विशेष के लिए बनाया गया आहार।

(क) यदि सामान्य रूप से संघ अथवा साधु, साध्वियों को उद्दिष्ट कर आहार बनाया जाता है तो वह प्रथम, मध्यम और अन्तिम किसी भी तीर्थङ्कर के साधु, साध्वियों को नहीं कल्पता।

यदि प्रथम तीर्थङ्कर के संघ को उद्दिष्ट करके अर्थात् प्रथम

तीर्थङ्कर के संघ के लिए बनाया जाता है तो वह प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के संघ के लिए अकल्प्य है। बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु, साध्वी उसे ले सकते हैं। यदि बीच के बाईस तीर्थङ्करों के संघ को उद्दिष्ट किया जाता है तो वह सभी के लिए अकल्प्य है। बीच में भी यदि दूसरे तीसरे आदि किसी खास तीर्थङ्कर के संघ को उद्दिष्ट किया जाता है तो प्रथम, अन्तिम और उद्दिष्ट अर्थात् जिसके निमित्त से बनाया हो उसे छोड़कर बाकी सब के लिए कल्प्य है। यदि अन्तिम तीर्थङ्कर के संघ को उद्दिष्ट किया जाय तो प्रथम और अन्तिम को छोड़ बाकी सब के लिए कल्प्य है।

(ख) प्रथम तीर्थङ्कर के साधु अथवा साध्वियों के लिए बनाया गया आहार प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के किसी साधु या साध्वी को नहीं कल्पता। बीच वालों को कल्पता है। मध्यम तीर्थङ्कर के साधु के लिए बनाया गया आहार मध्यम तीर्थङ्करों की साध्वियों को कल्पता है। मध्यम तीर्थङ्कर के साधु, प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु और साध्वियों को नहीं कल्पता। मध्यम में भी जिस तीर्थङ्कर के साधु या साध्वी को उद्दिष्ट करके बनाया गया है उसे छोड़ कर बाकी सब मध्यम तीर्थङ्करों के साधु तथा साध्वियों को कल्पता है। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु अथवा साध्वियों के लिए बना हुआ आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के साधु, साध्वियों को नहीं कल्पता। बाकी सब बाईस तीर्थङ्करों के साधु, साध्वियों को कल्पता है। यदि सामान्य रूप से साधु, साध्वियों के लिए आहार बनाया जाय तो किसी को नहीं कल्पता। यदि सामान्य रूप से सिर्फ साधुओं के लिए बनाया जाय तो प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर को छोड़ बाकी मध्यम तीर्थङ्करों की साध्वियों को कल्पता है। इसी प्रकार

सामान्य रूप से साध्वियों के लिए बनाया गया प्रथम और अन्तिम को छोड़ कर बाकी साधुओं को कल्पता है।

(ग) यदि सामान्य रूप से उपाश्रय को निमित्त करके बनाया जाय तो किसी को नहीं कल्पता। प्रथम तीर्थङ्कर के किसी उपाश्रय को उद्दिष्ट करके बनाया जाय तो प्रथम और अन्तिम को नहीं कल्पता। बीच वालों को कल्पता है। बीच वालों को सामान्य रूप से उद्दिष्ट किया जाय तो किसी को नहीं कल्पता। यदि किसी विशेष को उद्दिष्ट किया जाय तो उसे तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के उपाश्रयों को छोड़ कर बाकी सब को कल्पता है। अन्तिम तीर्थङ्कर के उपाश्रय को उद्दिष्ट करके बनाया गया आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के उपाश्रयों को नहीं कल्पता। बाकी को कल्पता है।

(घ) प्रथम तीर्थङ्कर के किसी एक साधु को उद्दिष्ट करके बनाया गया आहार प्रथम और अन्तिम के किसी साधु को नहीं कल्पता। मध्यम तीर्थङ्करों में सामान्य रूप से किसी एक साधु के लिए बनाया गया आहार किसी एक साधु के ले लेने पर दूसरे साधुओं को कल्पता है। नाम खोल कर किसी विशेष साधु के लिए बनाया गया मध्यम तीर्थङ्करों के दूसरे साधुओं को कल्पता है।

(३) शय्यातरपिण्ड कल्प– साधु, साध्वी जिस के मकान में उतरें उसे शय्यातर कहते हैं। शय्यातर से आहार आदि लेने के विषय में बताए गए आचार को शय्यातरपिंड कल्प कहते है। शय्यातर से आहार आदि न लेने चाहिए। यह कल्प प्रथम, मध्यम तथा अन्तिम सभी तीर्थंकरों के साधुओं के लिए है। शय्यातर का घर समीप होने से उसका आहारादि लेने में बहुत से दोषों की सम्भावना है।

(४) राजपिंड कल्प--राजा या बड़े ठाकुर आदि का आहार राज-

पिंड है। राजपिंड लेने के विषय में बताए गए साधु के आचार को राजपिंड कल्प कहते हैं। साधु को राजपिंड न लेना चाहिए। राजपिंड लेने में बहुत से दोष हैं- वहाँ बहुत से नौकर चाकर आते जाते रहते हैं, उनसे धक्का आदि लग जाने का डर है। किसी खास अवसर पर साधु और भित्तापात्रों को देख कर अमङ्गल की संभावना से द्वेष भाव उत्पन्न हो जाता है। वहाँ से आहारादि की अधिक स्वादिष्ट वस्तुएं मिलने पर गृद्धि पैदा हो सकती है। हाथी, घोड़े, दास, दासी आदि में आसक्ति हो सकती है। इस प्रकार आत्म विराधना आदि दोष लगते हैं। इन से तथा लोकनिन्दा से बचने के लिए साधु को राजपिंड ग्रहण नहीं करना चाहिए। राजपिंड आठ तरह का होता है- (१) अशन (२) पान (३) खादिम (४) स्वादिम (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण। ये आठ वस्तुएं राजद्वार से लेना नहीं कल्पता। यह कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए ही है।

(५) कृतिकर्म कल्प- शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अपने से बड़े को वन्दना आदि करना कृतिकर्म कल्प है। इसके दो भेद हैं- बड़े के आने पर खड़े होना और आते हुए के सन्मुख जाना। साधुओं में छोटी दीक्षा पर्याय वाला लम्बी दीक्षा पर्याय वाले को वन्दना करता है, किन्तु साध्वी कितनी ही लम्बी दीक्षा वाली हो वह एक दिन के दीक्षित साधु को भी वन्दना करेगी। कृतिकर्म का पालन न करने से नीचे लिखे दोष होते हैं-

अहङ्कार की वृद्धि होती है। अहङ्कार अर्थात् मान से नीच कर्म का बन्ध होता है। देखने वाले कहने लगते हैं- इस प्रवचन में विनय नहीं है, क्योंकि छोटा बड़े को वन्दना नहीं करता। ये लोकाचार को नहीं जानते। इस प्रकार की निन्दा होती है।

विनय भक्ति न होने से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और संसार की वृद्धि होती है। यह भी सभी तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए है।

(६) व्रतकल्प– महाव्रतों का पालन करना व्रतकल्प है। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में पाँच महाव्रत हैं। इसी को पंचयाम धर्म भी कहते हैं। बीच के तीर्थङ्करों में चार ही महाव्रत होते हैं। इस को चतुर्याम धर्म कहा जाता है। मध्यम तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ होने से चौथे व्रत को पाँचवें में अन्तर्भूत कर लेते हैं, क्योंकि अपरिगृहीत स्त्री का भोग नहीं किया जाता, इसलिए चौथा व्रत परिग्रह में ही आ जाता है।

यह कल्प सभी तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए स्थित है अर्थात् हमेशा नियमित रूप से पालने योग्य है।

(७) ज्येष्ठ कल्प– ज्ञान, दर्शन और चारित्र में बड़े को ज्येष्ठ कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में उपस्थापना अर्थात् बड़ी दीक्षा में जो साधु बड़ा होता है वही ज्येष्ठ माना जाता है। मध्य तीर्थङ्करों के शासन में निरतिचार चारित्र पालने वाला ही बड़ा माना जाता है। बड़ी या छोटी दीक्षा के कारण कोई बड़ा या छोटा नहीं होता।

बड़ी दीक्षा के लिए नीचे लिखा विधान है– जिसने साधु के आचार को पढ़ लिया है, अर्थ जान लिया है, विषय को समझ लिया है जो छः काय की हिंसा या छः अव्रतों (पाँच हिंसादि और रात्रि भोजन) का परिहार मन, वचन और काया से करता है, नव प्रकार से (मन, वचन और काया से करना, कराना तथा अनुमोदन करना) शुद्ध संयम का पालन करता है, ऐसे साधु को उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) अर्थात् महाव्रत देने चाहिएं।

यदि पिता, पुत्र, राजा और मन्त्री आदि दो व्यक्ति एक साथ

दीक्षा लें और एक साथ ही अध्ययनादि समाप्त करलें तो लोक रूढि के अनुसार पहले पिता या राजा आदि को उपस्थापना दी जाती है। यदि पिता वगैरह में दो चार दिन का विलम्ब हो तो पुत्रादि को उपस्थापना देने में उतने दिन ठहर जाना चाहिए। यदि अधिक विलंब हो तो पिता से पूछ कर पुत्र को उपस्थापना दे देनी चाहिए। यदि पिता न माने तो कुछ दिन ठहर जाना ही उचित है।

जिसकी पहले उपस्थापना होगी वही ज्येष्ठ माना जायगा और बाद वालों का वन्दनीय होगा। पिता को पुत्र की वन्दना करने में क्षोभ या संकोच होने की सम्भावना है। यदि पिता पुत्र को ज्येष्ठ समझने में प्रसन्न हो तो पुत्र को पहले उपस्थापना दी जा सकती है।

(८) प्रतिक्रमण कल्प– किए हुए पापों की आलोचना प्रतिक्रमण कहलाती है। प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु के लिए यह स्थित कल्प है अर्थात् उन्हें प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए। मध्यम तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए कारण उपस्थित होने पर ही करने का विधान है। प्रति दिन विना कारण के करने की आवश्यकता नहीं। प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को प्रमादवश अजानपणे में दोष लगने की सम्भावना है, इस लिए उन के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। मध्यम तीर्थंकरों के साधु अप्रमादी होते हैं, इसलिए उन्हें विना दोष लगे प्रतिक्रमण की आवश्यकता नहीं।

(९) मास कल्प– चतुर्मास या किसी दूसरे कारण के विना एक मास से अधिक एक स्थान पर न ठहरना मास कल्प है। एक स्थान पर अधिक दिन ठहरने में नीचे लिखे दोष हैं--

एक घर में अधिक ठहरने से स्थान में आसक्ति हो जाती

है। 'यह इस घर को छोड़ कर कहीं नहीं जाता' इस प्रकार लोग कहने लगते हैं, जिससे लघुता आती है। साधु के सब जगह विचरते रहने से सभी लोगों का उपकार होता है, सभी जगह धर्म का प्रचार होता है। एक जगह रहने से सब जगह धर्मप्रचार नहीं होता है। साधु के एक जगह रहने से उसे व्यवहार का ज्ञान नहीं हो सकता, इत्यादि। नीचे लिखे कारणों से साधु एक स्थान पर एक मास से अधिक ठहर सकता है।

(क) कालदोष– दुर्भिक्ष आदि का पड़ जाना। जिससे दूसरी जगह जाने में आहार मिलना असंभव हो जाय।

(ख) क्षेत्रदोष– विहार करने पर ऐसे क्षेत्र में जाना पड़े जो संयम के लिए अनुकूल न हो।

(ग) द्रव्यदोष -दूसरे क्षेत्र के आहारादि शरीर के प्रतिकूल हों।

(घ) भावदोष– अशक्ति, अस्वास्थ्य, ज्ञानहानि आदि कारण उपस्थित होने पर।

मासकल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए ही है। बीच वालों के लिए नहीं है।

(१०) पर्युषणा कल्प– सावन के प्रारम्भ से कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा तक चार महीने एक स्थान पर रहना पर्युषणा कल्प है। यह कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए ही है। मध्यम तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए नहीं है। किसी दोष के न लगने पर वे करोड़ पूर्व भी एक स्थान पर ठहर सकते हैं। दोष होने पर एक महीने में भी विहार कर सकते हैं।

महाविदेह क्षेत्र के साधुओं का कल्प भी बीच वाले तीर्थङ्कर के साधुओं सरीखा है।

ऊपर लिखे दस कल्प प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए स्थित कल्प हैं अर्थात् अवश्य कर्तव्य हैं।

मध्यम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए नीचे लिखे छः अनवस्थित हैं अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर ही किए जाते हैं। जैसे (१) अचेलकल्प (२) औद्देशिक कल्प (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मास कल्प (६) पर्युषणा कल्प।

इनके सिवाय नीचे लिखे चार स्थित कल्प अर्थात् अवश्य कर्तव्य हैं। जैसे- (१) शय्यातरपिंड (२) कृतिकर्म (३) व्रतकल्प (४) ज्येष्ठ कल्प। (पंचाशक १७ वां)

६६३- ग्रहणैषणा के दस दोष

भोजन आदि ग्रहण करने को ग्रहणैषणा कहते हैं। इसके दस दोष हैं। साधु को उन्हें जान कर वरजना चाहिए।

संकिय मक्खिय निक्खित्त।
पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे॥
अपरिणय लित्त छड्डिय।
एसणदोसा दस हवंति॥

(१) संकिय (शंकित)- आहार में आधाकर्म आदि दोषों की शङ्का होने पर भी उसे लेना शङ्कित दोष है।

(२) मक्खिय (म्रक्षित)- देते समय आहार, चम्मच आदि या हाथ आदि किसी अङ्ग का सचित्त वस्तु से छू जाना (संघट्टा होना) म्रक्षित दोष है।

इसके दो भेद हैं- सचित्त म्रक्षित और अचित्त म्रक्षित। सचित्त म्रक्षित तीन प्रकार का है- पृथ्वीकाय म्रक्षित, अप्काय म्रक्षित और वनस्पतिकाय म्रक्षित। यदि देय वस्तु या हाथ आदि सचित्त पृथ्वी से छू जायँ तो पृथ्वीकाय म्रक्षित है। अप्काय म्रक्षित के चार भेद हैं- पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, स्निग्ध और उदकार्द्र। दान देने से पहिले साधु के निमित्त हाथ आदि सचित्त पानी से धोना पुरःकर्म है। दान देने के बाद धोना

पश्चात्कर्म है। देते समय हाथ या बर्तन थोड़े से गीले हों तो स्निग्ध दोष है। जल का सम्बन्ध स्पष्ट मालूम पड़ने पर उदकार्द्र दोष है। देते समय अगर हाथ आदि में थोड़ी देर पहले काटे हुए फलों का अंश लगा हो तो वनस्पतिकाय म्रक्षित दोष है।

अचित्त म्रक्षित दो तरह का है। गर्हित और अगर्हित। हाथ आदि या दी जाने वाली वस्तु में कोई घृणित वस्तु लगी हो तो वह गर्हित है। घी आदि लगा हुआ हो तो वह अगर्हित है। इनमें सचित्त म्रक्षित साधु के लिए सर्वथा अकल्प्य है। घृतादि वाला अगर्हित अचित्त म्रक्षित कल्प्य है। घृणित वस्तु वाला गर्हित अकल्प्य है।

(३) निक्खित्त (निक्षिप्त)- दी जाने वाली वस्तु सचित्त के ऊपर रक्खी हो तो उसे लेना निक्षिप्त दोष है। इसके पृथ्वीकाय आदि छह भेद हैं।

(४) पिहिय (पिहित)- देय वस्तु सचित्त के द्वारा ढकी हुई हो। इसके भी पृथ्वीकाय आदि छः भेद हैं।

(५) साहरिय- जिस बर्तन में असूजती वस्तु पड़ी हो उस में से असूजती वस्तु निकाल कर उसी बर्तन से आहार आदि देना।

(६) दायक- बालक आदि दान देने के अनधिकारी से आहार आदि लेना दायक दोष है। अगर अधिकारी स्वयं बालक के हाथ से आहार आदि वहराना चाहे तो उसमें दोष नहीं है। पिंडनिर्युक्ति में ४० प्रकार के दायक दोष बताए हैं। वे इस प्रकार हैं-

बाले वुड्ढे मत्ते उम्मत्ते थेविरे य जरिए य।
अंधिल्लए पगरिए आरूढे पाउयाहिं च॥
हत्थिंदुनियलबद्धे विवज्जिए चेव हत्थपाएहिं।
तेरासि गुव्विणी बालवच्छ भुंजंती भुसुलिंती॥

भज्जंती य दलंती कंडंती चेव तए पीसंती।
पींजंती रुंचंती कत्तंती पमद्दमाणी य॥
छक्कायवग्गहत्था समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव।
ते चेवोगाहंती संघट्टन्ती रभंती य॥
संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य।
उव्वत्तंती साहारणं व दिंती य चोरिययं॥
पाहुडियं च ठवंती सपच्चवाया परं च उद्दिस्स।
आभोगमणाभोगेण दलंती वज्जणिज्जा ए॥

(१) बाल-- बालक के नासमझ और घर में अकेले होने पर उससे आहार लेना वर्जित है।
(२) वृद्ध-- जिसके मुँह से लाला आदि पड़ रही हो।
(३) मत्त-- शराब आदि पीया हुआ।
(४) उन्मत्त-- घमण्डी या पागल जो वात या और किसी बीमारी से अपनी विचारशक्ति खो चुका हो।
(५) वेपमान-- जिसका शरीर कांप रहा हो।
(६) ज्वरित-- ज्वर रोग से पीड़ित।
(७) अन्ध-- जिसकी नजर चली गई हो।
(८) प्रगलित-- गलित कुष्ट वाला।
(९) आरूढ़-- खड़ाऊ या जूते आदि पहिना हुआ।
(१०-११) बद्ध-- हथकड़ी या बेड़ियों से बंधा हुआ। बँधा हुआ दायक जब भिक्षा देता है तो देने और लेने वाले दोनों को दुःख होता है, इस कारण से आहार लेने की वर्जना है। दाता को अगर देने में असम्भता हो या साधु का ऐसा अभिग्रह हो तो लेने में दोष नहीं है।

हाथ आदि सुविधापूर्वक नहीं धो सकने के कारण उसके अशुचि होने की भी आशङ्का है। अशुचिता से होने वाली

लोकनिन्दा से बचना भी ऐसे आहार को वर्जने का कारण है।
(१२) छिन्न– जिसके हाथ या पैर कटे हुए हों।
(१३) त्रैराशिक– नपुंसक। नपुंसक से परिचय साधु के लिए वर्जित है। इसलिए उससे बार बार भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। लोक निन्दा से बचने के लिए भी उससे भिक्षा लेना वर्जित है।
(१४) गुर्विणी– गर्भवती।
(१५) बालवत्सा– दूध पीते बच्चे वाली। छोटे बच्चे के लिए माता को हर वक्त सावधान रहना चाहिए। अगर वह बालक को जमीन या चारपाई आदि पर सुलाकर भिक्षा देने के लिए जाती है तो बिल्ली आदि से बालक को हानि पहुँचने का भय है। उस समय आहार वर्जने का यही कारण है।
(१६) भुञ्जाना–भोजन करती हुई। भोजन करते समय भिक्षा देने के लिए कच्चे पानी से हाथ धोने में हिंसा होती है। हाथ नहीं धोने पर जूठे हाथों से भिक्षा लेने में लोक निन्दा है। भोजन करते हुए से भिक्षा न लेने का यही कारण है।
(१७) घुसुलिंती– दही आदि बिलोती हुई। उस समय भिक्षा देने के लिए उठने में हाथ से दही टपकता रहता है। इससे नीचे चलती हुई कीड़ी आदि की हिंसा होने का भय है। इसी कारण से उस समय आहार लेना वर्जित है।
(१८) भर्जमाना– कड़ाही आदि में चने आदि भूनती हुई।
(१९) दलयन्ती– चक्की में गेहूँ आदि पीसती हुई।
(२०) कण्डयन्ती– ऊखली में धान आदि कूटती हुई।
(२१) पिंपन्ती– शिला पर तिल, आमले आदि पीसती हुई।
(२२) पिंजयन्ती– रूई आदि पींजती हुई।
(२३) रुञ्चन्ती– चरखी (कपास से बिनौले अलग करने की मशीन) द्वारा कपास वेलती हुई।

धोना होता है, इससे पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं। इसलिए साधु को लेप करने वाली वस्तुएं न लेनी चाहिए। चना, चबेना आदि बिना लेप वाली वस्तुएं ही लेनी चाहिए। अधिक स्वाध्याय और अध्ययन आदि किसी खास कारण से या वैसी शक्ति न होने पर लेप वाले पदार्थ भी लेने कल्पते हैं। लेप वाली वस्तु लेते समय दाता का हाथ और परोसने का बर्तन संसृष्ट (जिस में दही आदि लगे हुए हों) अथवा असंसृष्ट होते हैं। इसी प्रकार दिया जाने वाला द्रव्य सावशेष (जो देने से कुछ बाकी बच गया हो) या निरवशेष (जो बाकी न बचा हो) दो प्रकार का होता है। इन में आठ भांगे होते हैं-

(क) संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र और सावशेष द्रव्य।
(ख) संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य।
(ग) संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, सावशेष द्रव्य।
(घ) संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य।
(ङ) असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र, सावशेष द्रव्य।
(च) असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य।
(छ) असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र सावशेष द्रव्य।
(ज) असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य।

इन आठ भंगों में विषम अर्थात् प्रथम, तृतीय, पञ्चम और सप्तम भंगों में लेप वाले पदार्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। सम अर्थात् दूसरे, चौथे, छठे और आठवें भंग में ग्रहण न करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि हाथ और पात्र संसृष्ट हों या असंसृष्ट, पश्चात्कर्म अर्थात् हाथ आदि का धोना इस बात पर निर्भर नहीं है। पश्चात्कर्म का होना या न होना द्रव्य के न बचने या बचने पर आश्रित है। अर्थात् अगर दिया जाने वाला पदार्थ कुछ बाकी बच जाय तो हाथ या कड़छी आदि के लिप्त होने पर

भी उन्हें नहीं धोया जाता, क्योंकि उसी द्रव्य को परोसने की फिर सम्भावना रहती है। यदि वह पदार्थ बाकी न बचे तो बर्तन वगैरह धो दिए जाते हैं इससे साधु को पश्चात्कर्म दोष लगने की सम्भावना रहती है। इसलिए ऐसे भांगे कल्पनीय कहे गए हैं जिन में दी जाने वाली वस्तु सावशेष (बची हुई) कही है। बाकी अकल्पनीय हैं। लिप्त दोष का मुख्य आधार बाद में होने वाला पश्चात्कर्म ही है। सारांश यह है कि लेप वाली वस्तु तभी कल्पनीय है जब वह लेने के बाद कुछ बाकी बची रहे। पूरी लेने पर ही पश्चात्कर्म दोष की सम्भावना है।

(प्रवचनसारोद्धार गाथा ५६८)

(१०) छड्डिय (छर्दित)- जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना छर्दित दोष है। ऐसे आहार में नीचे चलते हुए कीड़ी आदि जीवों की हिंसा का डर है इसीलिए साधु को अकल्पनीय है।

नोट- एषणा के दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों के निमित्त से लगते हैं। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७) (पिंडनिर्युक्ति गा० ५२०)

(धर्मसंग्रह ३ रा गाथा २२) (पंचाशक १३ वां गाथा २६)

६६४- समाचारी दस

साधु के आचरण को अथवा भले आचरण को समाचारी कहते हैं। इसके दस भेद हैं-

(१) इच्छाकार- 'अगर आपकी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करूं अथवा आप चाहें तो मैं आपका यह कार्य करूं ?' इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं। एक साधु दूसरे से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करे अथवा दूसरा साधु स्वयं उस कार्य को करे तो उस में इच्छाकार कहना आवश्यक है। इस से किसी भी कार्य में किसी की जबर्दस्ती नहीं रहती।

(२) मिथ्याकार– संयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधु कहता है 'मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात् मेरा पाप निष्फल हो। इसे मिथ्याकार कहते हैं।

(३) तथाकार– सूत्रादि आगम के विषय में गुरु को कुछ पूछने पर जब गुरु उत्तर दें या व्याख्यान के समय 'तह त्ति' (जैसा आप कहते हैं वही ठीक है) कहना तथाकार है।

(४) आवश्यिका– आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर निकलते समय साधु को 'आवस्सिया' कहना चाहिए। अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ।

(५) नैषेधिकी– बाहर से वापिस आकर उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहिया' कहना चाहिए। अर्थात् अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नहीं है। इस प्रकार व्यापारान्तर (दूसरे कार्य) का निषेध करना।

(६) आपृच्छना– किसी कार्य में प्रवृत्ति करने से पहले गुरु से 'क्या मैं यह करूँ' इस प्रकार पूछना।

(७) प्रतिपृच्छा– गुरु ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया है उसी कार्य में आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्त होना हो तो गुरु से पूछना– भगवन्! आपने पहले इस कार्य के लिए मना किया था, लेकिन यह जरूरी है। आप फरमावें तो करूँ?

(८) छन्दना– पहले लाए हुए आहार के लिए साधु को आमन्त्रण देना। जैसे– अगर आपके उपयोग में आ सके तो यह आहार ग्रहण कीजिए।

(९) निमन्त्रणा– आहार लाने के लिए साधु को निमन्त्रण देना या पूछना। जैसे क्या आप के लिए आहार आदि लाऊँ?

(१०) उपसंपद्– ज्ञानादि प्राप्त करने के लिए अपना गच्छ

छोड़ कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेना।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाणांग, सूत्र ७४९)
(उत्तराध्ययन अध्ययन २९) (प्रवचनसारोद्धार)

६६५- प्रव्रज्या दस

गृहस्थावास छोड़ कर साधु बनने को प्रव्रज्या कहते हैं। इसके दस कारण हैं-

(१) छन्द- अपनी या दूसरे की इच्छा से दीक्षा लेने को छन्द प्रव्रज्या कहते हैं। जैसे-गोविन्दवाचक या सुन्दरीनन्द ने अपनी इच्छा से तथा भवदत्त ने अपने भाई की इच्छा से दीक्षा ली।

(२) रोष-रोष अर्थात् क्रोध से दीक्षा लेना। जैसे-शिवभूति।

(३) परिद्यूना- दारिद्र्य अर्थात् गरीबी के कारण दीक्षा लेना। जैसे- लकड़हारे ने दीक्षा ली थी।

(४) स्वप्न- विशेष प्रकार का स्वप्न आने से दीक्षा लेना। जैसे- पुष्पचूला। अथवा स्वप्न में दीक्षा लेना।

(५) प्रतिश्रुत- आवेश में आकर या वैसे ही प्रतिज्ञा कर लेने से दीक्षा लेना। जैसे-शालिभद्र के बहनोई धन्ना सेठ ने दीक्षा ली थी।

(६) स्मारणादि- किसी के द्वारा कुछ कहने या कोई दृश्य देखने से जातिस्मरण ज्ञान होना और पूर्वभव को जान कर दीक्षा ले लेना। जैसे- भगवान् मल्लिनाथ के द्वारा पूर्वभव का स्मरण कराने पर प्रतिबुद्धि आदि छः राजाओं ने दीक्षा ली।

(७) रोगिणिका- रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली गई दीक्षा। जैसे सनत्कुमार चक्रवर्ती की दीक्षा।

(८) अनादर- किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली गई दीक्षा। जैसे-नंदिषेण। अथवा अनादृत अर्थात् शिथिल की दीक्षा।

(९) देवसंज्ञप्ति- देवों के द्वारा प्रतिबोध देने पर ली गई दीक्षा। जैसे- मेतार्य मुनि।

(१०) वत्सानुबन्धिका– पुत्रस्नेह के कारण ली गई दीक्षा। जैसे– वैरस्वामी की माता। (ठाणांग, सूत्र ७१२)

६६६– प्रतिसेवना दस

पाप या दोषों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना को प्रतिसेवना कहते हैं। इसके दस भेद हैं–

(१) दर्पप्रतिसेवना-- अहंकार से होने वाली संयम की विराधना।

(२) प्रमादप्रतिसेवना– मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाँच प्रमादों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना।

(३) अनाभोगप्रतिसेवना– अज्ञान से होने वाली संयम की विराधना।

(४) आतुरप्रतिसेवना– भूख, प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल होने पर की गई संयम की विराधना।

(५) आपत्प्रतिसेवना– किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना। आपत्ति चार तरह की होती है– द्रव्यापत् (प्रासुकादि निर्दोष आहारादि न मिलना) क्षेत्रापत्--(अटवी आदि भयानक जङ्गल में रहना पड़े) कालापत् (दुर्भिक्ष आदि पड़ जायँ) भावापत् (बीमार पड़ जाना, शरीर का अस्वस्थ हो जाना)।

(६) संकीर्णप्रतिसेवना-- स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तंगी के कारण संयम का उल्लंघन करना। अथवा शंकितप्रतिसेवना– ग्रहणयोग्य आहार में भी किसी दोष की शंका हो जाने पर उस को ले लेना।

(७) सहसाकारप्रतिसेवना– अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे बूझे और पडिलेहना किए किसी काम को करना।

(८) भयप्रतिसेवना-- भय से संयम की विराधना करना।

(९) प्रद्वेषप्रतिसेवना– किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से संयम की विराधना करना। यहाँ प्रद्वेष से चारों कषाय लिए जाते हैं।

(१०) विमर्शप्रतिसेवना- शिष्य की परीक्षा आदि के लिए की गई संयम की विराधना।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६६७- आशंसा प्रयोग दस

आशंसा नाम है इच्छा। इस लोक या परलोकादि में सुख आदि की इच्छा करना या चक्रवर्ती आदि पदवी की इच्छा करना आशंसा प्रयोग है। इसके दस भेद हैं-

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग-मेरी तपस्या आदि के फल स्वरूप में इसलोक में चक्रवर्ती राजा बनूँ, इस प्रकार की इच्छा करना इहलोकाशंसा प्रयोग है।

(२) परलोकाशंसा प्रयोग- इस लोक में तपस्या आदि करने के फल स्वरूप मैं इन्द्र या इन्द्र सामानिक देव बनूँ, इस प्रकार परलोक में इन्द्रादि पद की इच्छा करना परलोकाशंसा प्रयोग है।

(३) द्विधा लोकाशंसा प्रयोग-इस लोक में किये गये तपश्चरणादि के फल स्वरूप परलोक में मैं देवेन्द्र बनूँ और वहाँ से चव कर फिर इस लोक में चक्रवर्ती आदि बनूँ, इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनों में इन्द्रादि पद की इच्छा करना द्विधालोकाशंसा प्रयोग है। इसे उभयलोकाशंसा प्रयोग भी कहते हैं।

सामान्य रूप से ये तीन ही आशंसा प्रयोग हैं, किन्तु विशेष विवक्षा से सात भेद और होते हैं। वे इस प्रकार हैं-

(४) जीविताशंसा प्रयोग-सुख के आने पर ऐसी इच्छा करना कि मैं बहुत काल तक जीवित रहूँ, यह जीविताशंसा प्रयोग है।

(५) मरणाशंसा प्रयोग- दुःख के आने पर ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र ही मरण हो जाय और मैं इन दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ, यह मरणाशंसा प्रयोग है।

(६) कामाशंसा प्रयोग- मुझे मनोज्ञ शब्द और मनोज्ञ रूप

प्राप्त हों ऐसा विचार करना कामाशंसा प्रयोग है।

(७) भोगाशंसा प्रयोग- मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस और मनोज्ञ स्पर्श को मुझे प्राप्ति हो ऐसी इच्छा करना भोगाशंसा प्रयोग है। शब्द और रूप काम कहलाते हैं। गन्ध, रस और स्पर्श ये भोग कहलाते हैं।

(८) लाभाशंसा प्रयोग- अपने तपश्चरण आदि के फल स्वरूप यह इच्छा करना कि मुझे यश, कीर्ति और श्रुत आदि का लाभ हो, लाभाशंसा प्रयोग कहलाता है।

(९) पूजाशंसा प्रयोग- इहलोक में मेरी खूब पूजा और प्रतिष्ठा हो ऐसी इच्छा करना पूजाशंसा प्रयोग है।

(१०) सत्काराशंसा प्रयोग- इहलोक में वस्त्र, आभूषण आदि से मेरा आदर सत्कार हो ऐसी इच्छा करना सत्काराशंसा प्रयोग है। (ठाणांग, सूत्र ७५६)

६६८- उपघात दस

संयम के लिए साधु द्वारा ग्रहण की जाने वाली अशन, पान, वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं में किसी प्रकार का दोष होना उपघात कहलाता है। इसके दस भेद हैं-

(१) उद्गमोपघात- उद्गम के आधाकर्मादि सोलह दोषों से अशन (आहार), पान तथा स्थान आदि की अशुद्धता उद्गमोपघात कहलाती है। आधाकर्मादि सोलह दोष सोलहवें बोल संग्रह में लिखे जायेंगे।

(२) उत्पादनोपघात- उत्पादना के धात्री आदि सोलह दोषों से आहार पानी आदि की अशुद्धता उत्पादनोपघात कहलाती है। धात्र्यादि दोष सोलहवें बोल संग्रह में लिखे जायेंगे।

(३) एषणोपघात- एषणा के शङ्कितादि दस दोषों से आहार पानी आदि की अशुद्धता (अकल्पनीयता) एषणोपघात कहलाती

है। एषणा के दस दोष बोल नं० ६६३ में दे दिए गए हैं।
(४) परिकर्मोपघात- वस्त्र, पात्रादि के छेदन और सीवन से होने वाली अशुद्धता परिकर्मोपघात कहलाती है। वस्त्र का परिकर्मोपघात इस प्रकार कहा गया है-

वस्त्र के फट जाने पर जो कारी लगाई जाती है वह थेगलिका कहलाती है। एक ही फटी हुई जगह पर क्रमशः तीन थेगलिका के ऊपर चौथी थेगलिका लगाना वस्त्र परिकर्म कहलाता है।

पात्र परिकर्मोपघात-ऐसा पात्र जो टेढा मेढा हो और अच्छी तरह साफ न किया जा सकता हो वह अपलक्षण पात्र कहा जाता है। ऐसे अपलक्षण पात्र तथा जिस पात्र में एक, दो, तीन या अधिक बन्ध (थेगलिका) लगे हुए हों, ऐसे पात्र में अर्ध मास (पन्द्रह दिन) से अधिक दिनों तक भोजन करना पात्र-परिकर्मोपघात कहलाता है।

वसति परिकर्मोपघात-- रहने के स्थान को वसति कहते हैं। साधु के लिए जिस स्थान में सफेदी कराई गई हो, अगर,चन्दन आदि का धूप देकर सुगन्धित किया गया हो, दीपक आदि से प्रकाशित किया गया हो, सिक्त (जल आदि का छिड़कना) किया गया हो, गोबर आदि से लीपा गया हो, ऐसा स्थान वसति परिकर्मोपघात कहलाता है।

(५) परिहरणोपघात- परिहरण नाम है सेवन करना, अर्थात् अकल्पनीय उपकरणादि को ग्रहण करना परिहरणोपघात कहलाता है। यथा- एकलविहारी एवं स्वच्छन्दाचारी साधु से सेवित उपकरण सदोष माने जाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार की व्यवस्था है कि गच्छ से निकल कर यदि कोई साधु अकेला विचरता है और अपने चारित्र में दृढ़ रहता हुआ दूध, दही आदि विगयों में आसक्त नहीं होता ऐसा साधु यदि बहुत

समय के बाद भी वापिस गच्छ में आकर मिल जाता है तो उसके उपकरण दूषित नहीं माने जाते हैं, किन्तु शिथिलाचारी एकलविहारी जो विगय आदि में आसक्त है उसके वस्त्रादि दूषित माने जाते हैं।

स्थान (वसति) परिहरणोपघात--एक ही स्थान पर चातुर्मास में चार महीने और शेष काल में एक महीना ठहरने के पश्चात् वह स्थान कालातिक्रान्त कहलाता है। अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु को चातुर्मास में चार मास और शेष काल में एक महीने से अधिक एक ही स्थान पर रहना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार जिस स्थान या शहर और ग्राम में चातुर्मास किया है, उसी जगह दो चातुर्मास दूसरी जगह करने से पहिले वापिस चातुर्मास करना नहीं कल्पता है और शेष काल में जहाँ एक महीना ठहरे हैं, उसी जगह (स्थान) पर दो महिने से पहले आना साधु को नहीं कल्पता। यदि उपरोक्त मर्यादित समय से पहिले उसी स्थान पर फिर आ जावे तो उपस्थापना दोष होता है। इसका यह अभिप्राय है जिस जगह जितने समय तक साधु ठहरे हैं, उससे दुगुना काल दूसरे गांव में व्यतीत कर फिर उसी स्थान पर आ सकते हैं। इससे पहले उसी स्थान पर आना साधु को नहीं कल्पता। इससे पहिले आने पर स्थान परिहरणोपघात दोष लगता है।

आहार के विषय में चार भङ्ग (भांगे) होते हैं। यथा--

(क) विधिगृहीत, विधिभुक्त (जो आहार विधिपूर्वक लाया गया हो और विधिपूर्वक ही भोगा गया हो)।

(ख) विधिगृहीत, अविधिभुक्त।

(ग) अविधिगृहीत, विधिभुक्त।

(घ) अविधिगृहीत, अविधिभुक्त।

इन चारों भङ्गों में प्रथम भङ्ग ही शुद्ध है। आगे के तीनों

भङ्ग अशुद्ध हैं। इन तीनों भङ्गों से किया गया आहार आहार-परिहरणोपघात कहलाता है।

(६) ज्ञानोपघात– ज्ञान सीखने में प्रमाद करना ज्ञानोपघात है।

(७)दर्शनोपघात–दर्शन (समकित) में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा करना दर्शनोपघात कहलाता है। शंकादि से समकित मलीन हो जाती है। शंकादि समकित के पाँच दूषण हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० २८५ में दे दी गई है।

(८) चारित्रोपघात– आठ प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति में किसी प्रकार का दोष लगाने से संयम रूप चारित्र का उपघात होता है। अतः यह चारित्रोपघात कहलाता है।

(९) अचियत्तोपघात– (अप्रीतिकोपघात) गुरु आदि में पूज्य भाव न रखना तथा उनकी विनय भक्ति न करना अचियत्तोपघात (अप्रीतिकोपघात) कहलाता है।

(१०) संरक्षणोपघात– परिग्रह से निवृत्त साधु को वस्त्र, पात्र तथा शरीरादि में मूर्च्छा (ममत्व) भाव रखना संरक्षणोपघात कहलाता है। (ठाणांग, सूत्र ७३८)

६६९– विशुद्धि दस

संयम में किसी प्रकार का दोष न लगाना विशुद्धि है। उपरोक्त दोषों के लगने से जितने प्रकार का उपघात बताया गया है, दोष रहित होने से उतने ही प्रकार की विशुद्धि है। उसके नाम इस प्रकार हैं– (१) उद्गम विशुद्धि (२) उत्पादना विशुद्धि (३) एषणा विशुद्धि (४) परिकर्म विशुद्धि (५) परिहरणा विशुद्धि (६) ज्ञान विशुद्धि (७) दर्शन विशुद्धि, (८) चारित्र विशुद्धि (९) अचियत्त विशुद्धि (१०) संरक्षण विशुद्धि। इनका स्वरूप उपघात से उल्टा समझना चाहिए। (ठाणांग, सूत्र ७३८)

६७०- आलोचना करने योग्य साधु के दस गुण

दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है। वे इस प्रकार हैं-

(१) जाति सम्पन्न- उत्तम जाति वाला। उत्तम जाति वाला बुरा काम करता ही नहीं। अगर कभी उससे भूल हो भी जाती है तो शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

(२) कुल सम्पन्न-- उत्तम कुल वाला। उत्तम कुल में पैदा हुआ व्यक्ति लिए हुए प्रायश्चित्त को अच्छी तरह से पूरा करता है।

(३) विनय सम्पन्न-- विनयवान्। विनयवान् साधु बड़ों की बात मान कर हृदय से आलोचना कर लेता है।

(४) ज्ञान सम्पन्न- ज्ञानवान् मोक्ष मार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस बात को भली प्रकार समझ कर वह आलोचना कर लेता है।

(५) दर्शन सम्पन्न-- श्रद्धालु। भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण वह शास्त्रों में बताई हुई प्रायश्चित्त से होने वाली शुद्धि को मानता है और आलोचना कर लेता है।

(६) चारित्र सम्पन्न-- उत्तम चारित्र वाला। अपने चारित्र को शुद्ध रखने के लिए वह दोषों की आलोचना करता है।

(७) क्षान्त- क्षमा वाला। किसी दोष के कारण गुरु से भर्त्सना या फटकार वगैरह मिलने पर वह क्रोध नहीं करता। अपना दोष स्वीकार करके आलोचना कर लेता है।

(८) दान्त- इन्द्रियों को वश में रखने वाला। इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त व्यक्ति कठोर से कठोर प्रायश्चित्त को भी शीघ्र स्वीकार कर लेता है। वह पापों की आलोचना भी शुद्ध

हृदय से करता है।

(९) अमायी- कपट रहित। अपने पाप को बिना छिपाए खुले दिल से आलोचना करने वाला सरल व्यक्ति।

(१०) अपश्चात्तापी- आलोचना लेने के बाद जो पश्चात्ताप न करे। (भगवती श० २५ उ० ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६७१-आलोचना देने योग्य साधु के दस गुण

दस गुणों से युक्त साधु आलोचना देने योग्य होता है। 'आचारवान्' आदि आठ गुण इसी भाग के आठवें बोल संग्रह बोल नं० ५७५ में दे दिये गए हैं।

(९) प्रियधर्मा- जिस को धर्म प्यारा हो।

(१०) दृढधर्मा- जो धर्म में दृढ हो।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६७२- आलोचना के दस दोष

जानते या अजानते लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधु के सामने निवेदन करके उसके लिए उचित प्रायश्चित्त लेना आलोचना है। आलोचना का शब्दार्थ है, अपने दोषों को अच्छी तरह देखना। आलोचना के दस दोष हैं। इन्हें छोड़ते हुए शुद्ध हृदय से आलोचना करनी चाहिए। वे इस प्रकार हैं-

आकंपयित्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं वा।।
छन्नं सद्दालुअयं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ।।

(१) आकंपयित्ता- प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे यह सोच कर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर उनके पास दोषों की आलोचना करना।

(२) अणुमाणइत्ता- बिल्कुल छोटा अपराध बताने से आचार्य थोड़ा दण्ड देंगे यह सोच कर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना अणुमाणइत्ता दोष है।

(३) दिट्ठं- जिस अपराध को आचार्य वगैरह ने देख लिया हो, उसी की आलोचना करना।

(४) बायरं- सिर्फ बड़े बड़े अपराधों की आलोचना करना।

(५) सुहुमं- जो अपने छोटे छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है, यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए सिर्फ छोटे छोटे पापों की आलोचना करना।

(६) छिन्नं- अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न अर्थात् जहाँ कोई न सुन रहा हो, ऐसी जगह आलोचना करना।

(७) सद्दाउलयं- दूसरों को सुनाने के लिए जोर जोर से बोल कर आलोचना करना।

(८) बहुजण- एक ही अतिचार की बहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना।

(९) अव्वत्त--अगीतार्थ अर्थात् जिस साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसके सामने आलोचना करना।

(१०) तस्सेवी- जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६७३- प्रायश्चित्त दस

अतिचार की विशुद्धि के लिए आलोचना करना या उस के लिए गुरु के कहे अनुसार तपस्या आदि करना प्रायश्चित्त है। इसके दस भेद हैं -

(१) आलोचनार्ह- संयम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट वचनों से सरलता पूर्वक प्रकट करना आलोचना है। जो प्रायश्चित्त आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाय उसे आलोचनार्ह या

आलोचना प्रायश्चित्त कहते हैं।
(२) प्रतिक्रमणार्ह– प्रतिक्रमण के योग्य। प्रतिक्रमण अर्थात् दोष से पीछे हटना और भविष्य में न करने के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना। जो प्रायश्चित्त सिर्फ प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाय गुरु के समीप कह कर आलोचना करने की भी आवश्यकता न पड़े उसे प्रतिक्रमणार्ह कहते हैं।
(३) तदुभयार्ह– आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य। जो प्रायश्चित्त दोनों से शुद्ध हो। इसे मिश्रप्रायश्चित्त भी कहते हैं।
(४) विवेकार्ह–अशुद्ध भक्तादि के त्यागने योग्य। जो प्रायश्चित्त आधाकर्म आदि आहार का विवेक अर्थात् त्याग करने से शुद्ध हो जाय उसे विवेकार्ह कहते हैं।
(५) व्युत्सर्गार्ह– कायोत्सर्ग के योग्य। शरीर के व्यापार को रोक कर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाने से जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि होती है उसे व्युत्सर्गार्ह कहते हैं।
(६) तपार्ह - जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि तप से हो।
(७) छेदार्ह– दीक्षा पर्याय छेद के योग्य। जो प्रायश्चित्त दीक्षा पर्याय का छेद करने पर ही शुद्ध हो।
(८) मूलार्ह– मूल अर्थात् दुबारा संयम लेने से शुद्ध होने योग्य। ऐसा प्रायश्चित्त जिसके करने पर साधु को एक बार लिया हुआ संयम छोड़ कर दुबारा दीक्षा लेनी पड़े।

नोट– छेदार्ह में चार महीने, छः महीने या कुछ समय की दीक्षा कम करदी जाती है। ऐसा होने पर दोषी साधु उन सब साधुओं को वन्दना करता है, जिनसे पहले दीक्षित होने पर भी पर्याय कम कर देने से वह छोटा हो गया है। मूलार्ह में उसका संयम बिल्कुल नहीं गिना जाता। दोषी को दुबारा दीक्षा लेनी पड़ती है और अपने से पहले दीक्षित सभी साधुओं को

(३) दिट्ठं- जिस अपराध को आचार्य वगैरह ने देख लिया हो, उसी की आलोचना करना।

(४) बायरं- सिर्फ बड़े बड़े अपराधों की आलोचना करना।

(५) सुहुमं- जो अपने छोटे छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है, यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए सिर्फ छोटे छोटे पापों की आलोचना करना।

(६) छिन्नं- अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न अर्थात् जहाँ कोई न सुन रहा हो, ऐसी जगह आलोचना करना।

(७) सद्दालुअयं- दूसरों को सुनाने के लिए जोर जोर से बोल कर आलोचना करना।

(८) बहुजण- एक ही अतिचार की बहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना।

(९) अव्वत्त--अगीतार्थ अर्थात् जिस साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसके सामने आलोचना करना।

(१०) तस्सेवी- जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६७३- प्रायश्चित्त दस

अतिचार की विशुद्धि के लिए आलोचना करना या उस के लिए गुरु के कहे अनुसार तपस्या आदि करना प्रायश्चित्त है। इसके दस भेद हैं -

(१) आलोचनार्ह- संयम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट वचनों से सरलता पूर्वक प्रकट करना आलोचना है। जो प्रायश्चित्त आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाय उसे आलोचनार्ह या

आलोचना प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) प्रतिक्रमणार्ह-- प्रतिक्रमण के योग्य। प्रतिक्रमण अर्थात् दोष से पीछे हटना और भविष्य में न करने के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना। जो प्रायश्चित्त सिर्फ प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाय गुरु के समीप कह कर आलोचना करने की भी आवश्यकता न पड़े उसे प्रतिक्रमणार्ह कहते हैं।

(३) तदुभयार्ह-- आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य। जो प्रायश्चित्त दोनों से शुद्ध हो। इसे मिश्रप्रायश्चित्त भी कहते हैं।

(४) विवेकार्ह--अशुद्ध भक्तादि के त्यागने योग्य। जो प्रायश्चित्त आधाकर्म आदि आहार का विवेक अर्थात् त्याग करने से शुद्ध हो जाय उसे विवेकार्ह कहते हैं।

(५) व्युत्सर्गार्ह-- कायोत्सर्ग के योग्य। शरीर के व्यापार को रोक कर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाने से जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि होती है उसे व्युत्सर्गार्ह कहते हैं।

(६) तपार्ह - जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि तप से हो।

(७) छेदार्ह-- दीक्षा पर्याय छेद के योग्य। जो प्रायश्चित्त दीक्षा पर्याय का छेद करने पर ही शुद्ध हो।

(८) मूलार्ह-- मूल अर्थात् दुबारा संयम लेने से शुद्ध होने योग्य। ऐसा प्रायश्चित्त जिसके करने पर साधु को एक वार लिया हुआ संयम छोड़ कर दुबारा दीक्षा लेनी पड़े।

नोट-- छेदार्ह में चार महीने, छः महीने या कुछ समय की दीक्षा कम करदी जाती है। ऐसा होने पर दोषी साधु उन सब साधुओं को वन्दना करता है, जिनसे पहले दीक्षित होने पर भी पर्याय कम कर देने से वह छोटा हो गया है। मूलार्ह में उसका संयम बिल्कुल नहीं गिना जाता। दोषी को दुबारा दीक्षा लेनी पड़ती है और अपने से पहले दीक्षित सभी साधुओं को

वन्दना करनी पड़ती है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह– तप के बाद दुबारा दीक्षा देने के योग्य। जब तक अमुक प्रकार का विशेष तप न करे, उसे संयम या दीक्षा नहीं दी जा सकती। तप के बाद दुबारा दीक्षा लेने पर ही जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि हो।

(१०) पारांचिकार्ह–गच्छ से बाहर करने योग्य। जिस प्रायश्चित्त में साधु को संघ से निकाल दिया जाय।

साध्वी या रानी आदि का शील भंग करने पर यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह महापराक्रम वाले आचार्य को ही दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए छः महीने से लेकर बारह वर्ष तक गच्छ छोड़ कर जिनकल्पी की तरह कठोर तपस्या करनी पड़ती है। उपाध्याय के लिए नवें प्रायश्चित्त तक का विधान है। सामान्य साधु के लिए मूल प्रायश्चित्त अर्थात् आठवें तक का।

जहाँ तक चौदह पूर्वधारी और पहले संहनन वाले होते हैं, वहीं तक दसों प्रायश्चित्त रहते हैं। उनका विच्छेद होने के बाद मूलार्ह तक आठ ही प्रायश्चित्त होते हैं।

(भगवती शतक २५ उ० ७) (ठाणांग, सूत्र ७३३)

६७४– चित्त समाधि के दस स्थान

तपस्या तथा धर्म चिन्ता करते हुए कर्मों का पर्दा हल्का पड़ जाने से चित्त में होने वाले विशुद्ध आनन्द को चित्त समाधि कहते हैं। चित्त समाधि के कारणों को स्थान कहा जाता है। इसके दस भेद हैं–

(१) जिस के चित्त में पहले धर्म की भावना नहीं थी, उसमें धर्म भावना आजाने पर चित्त में उल्लास होता है।

(२) पहले कभी नहीं देखे हुए शुभ स्वप्न के आने पर।

(३) जाति स्मरण वगैरह ज्ञान उत्पन्न होने पर अपने पूर्व

भवों को देख लेने से।
(४) अकस्मात् किसी देव का दर्शन होने पर उसकी ऋद्धि कान्ति और अनुभाव वगैरह देखने पर।
(५) नए उत्पन्न अवधिज्ञान से लोक के स्वरूप को जान लेने पर।
(६) नए उत्पन्न अवधिदर्शन से लोक को देखने पर।
(७) नए उत्पन्न मनःपर्ययज्ञान से अढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी जीवों के मनोभावों को जानने पर।
(८) नवीन उत्पन्न केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोकालोक को जान लेने पर।
(९) नवीन उत्पन्न केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जान लेने पर।
(१०) केवलज्ञान, केवलदर्शन सहित मृत्यु होने से सब दुःख तथा जरा मरण के बन्धन छूट जाने पर।

(दशा श्रुतस्कन्ध दशा ५) (समवायांग १०)

६७५- बल दस

पाँच इन्द्रियों के पाँच बल कहे गये हैं। यथा- (१) स्पर्शनेन्द्रिय बल (२) रसनेन्द्रिय बल (३) घ्राणेन्द्रिय बल (४) चक्षुरिन्द्रिय बल (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल। इन पाँच इन्द्रियों को बल इसलिए माना गया है क्योंकि ये अपने अपने अर्थ (विषय) को ग्रहण करने में समर्थ हैं।

(६) ज्ञान बल- ज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान काल के पदार्थ को जानता है। अथवा ज्ञान से ही चारित्र की आराधना भली प्रकार हो सकती है, इसलिए ज्ञान को बल कहा गया है।

(७) दर्शन बल- अतीन्द्रिय एवं युक्ति से अगम्य पदार्थों को विषय करने के कारण दर्शन बल कहा गया है।

(८) चारित्र बल- चारित्र के द्वारा आत्मा सम्पूर्ण संगों का त्याग

कर अनन्त, अव्याबाध, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक आत्मीय आनन्द का अनुभव करता है। अतः चारित्र को भी बल कहा गया है

(६) तप बल– तप के द्वारा आत्मा अनेक भवों में उपार्जित अनेक दुःखों के कारणभूत अष्ट कर्मों की निकाचित कर्मग्रन्थि को भी क्षय कर डालता है। अतः तप भी बल माना गया है।

(१०) वीर्य बल– जिससे गमनागमनादि विचित्र क्रियाएं की जाती हैं, एवं जिसके प्रयोग से सम्पूर्ण, निराबाध सुख की प्राप्ति हो जाती है उसे वीर्य्य बल कहते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७४०)

६७६– स्थण्डिल के दस विशेषण

मल, मूत्र आदि त्याज्य वस्तुएं जहाँ त्यागी जायँ उसे स्थण्डिल कहते हैं। नीचे लिखे दस विशेषणों से युक्त स्थण्डिल में ही साधु को मल मूत्र आदि परठना कल्पता है।

(१) जहाँ न कोई आता जाता हो न किसी की दृष्टि पड़ती हो।

(२) जिस स्थान का उपयोग करने से दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न हो, अर्थात् जो स्थान निरापद हो।

(३) जो स्थान समतल हो अर्थात् ऊँचा नीचा न हो।

(४) जहाँ घास या पत्ते न हों।

(५) जो स्थान चींटी, कुन्थु आदि जीवों से रहित हो।

(६) जो स्थान बहुत संकड़ा न हो, विस्तृत हो।

(७) जिसके नीचे की भूमि अचित्त हो।

(८) अपने रहने के स्थान से दूर हो।

(९) जहाँ चूहे आदि के बिल न हों।

(१०) जहाँ प्राणी अथवा बीज फैले हुए न हों।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २४ गाथा १६-१८)

६७७- पुत्र के दस प्रकार

जो पिता, पितामह आदि की अर्थात् अपने वंश की मर्यादा का पालन करे उसे पुत्र कहते हैं। पुत्र के दस प्रकार हैं-

(१) आत्मज- अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र आत्मज कहलाता है। जैसे- भरत चक्रवर्ती का पुत्र आदित्ययश।

(२) क्षेत्रज- सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्री क्षेत्र रूप मानी गई है। अतः उसकी अपेक्षा से पुत्र को क्षेत्रज भी कहते हैं। जैसे- पाण्डुराजा की पत्नी कुन्ती के पुत्र कौन्तेय (युधिष्ठिर) आदि।

(३) दत्तक- जो दूसरे को दे दिया जाय वह दत्तक कहलाता है। जो वास्तव में उसका पुत्र नहीं किन्तु पुत्र के समान हो वह दत्तक पुत्र है। लोकभाषा में इसको गोद लिया हुआ पुत्र कहते हैं। जैसे- बाहुबली के अनिलवेग पुत्र दत्तक पुत्र कहा जाता है।

(४) विनयित- अपने पास रख कर जिसको शिक्षा अर्थात् अक्षर ज्ञान और धार्मिक शिक्षा दी जाय वह पुत्र विनयित पुत्र कहलाता है।

(५) औरस- जिस बच्चे पर अपने पुत्र के समान स्नेह (प्रेमभाव) उत्पन्न हो गया है अथवा जिस बच्चे को किसी व्यक्ति पर अपने पिता के समान स्नेह पैदा हो गया है, वह बच्चा औरस पुत्र कहलाता है।

(६) मौखर- जो पुरुष किसी व्यक्ति की चापलूसी और खुशामद करके अपने आप को उसका पुत्र बतलाता है वह मौखर पुत्र कहलाता है।

(७) शौंडीर- युद्ध के अन्दर कोई शूरवीर पुरुष दूसरे किसी वीर पुरुष को अपने अधीन कर ले और फिर वह अधीन किया हुआ पुरुष अपने आपको उसका पुत्र मानने लग जाय तो

वह शौंडीर पुत्र कहलाता है। जैसे– कुवलयमाला कथा के अन्दर महेन्द्रसिंह नाम के राजपुत्र की कथा आती है।

उपरोक्त जो पुत्र के सात भेद बताए गए हैं वे किसी अपेक्षा से अर्थात् उस उस प्रकार के गुणों की अपेक्षा से ये सातों भेद 'आत्मज' के ही बन जाते हैं। जैसे कि माता की अपेक्षा से क्षेत्रज कहलाता है। वास्तव में तो वह आत्मज ही है। दत्तक पुत्र तो आत्मज ही है किन्तु वह अपने परिवार में दूसरे व्यक्ति के गोद दे दिया गया है, इस लिए दत्तक कहलाता है। इसी तरह विनयित, औरस, मौखर और शौंडीर भी उस उस प्रकार के गुणों की अपेक्षा से आत्मज पुत्र के ही भेद हैं। यथा– विनयित अर्थात् पण्डित अभयकुमार के समान। औरस– उरस बल को कहते हैं। बलशाली पुत्र औरस कहलाता है, यथा बाहुबली। मुखर अर्थात् वाचाल पुत्र को मौखर कहते हैं। शौण्डीर अर्थात् शूरवीर या गर्वित (अभिमानी) जो हो उसे शौण्डीर पुत्र कहते हैं, यथा– वासुदेव।

इस प्रकार भिन्न भिन्न गुणों की अपेक्षा से आत्मज पुत्र के ही ये सात भेद हो जाते हैं।

(८) संवर्द्धित– भोजन आदि देकर जिसे पाला पोसा हो उसे संवर्द्धित पुत्र कहते हैं। जैसे अनाथ बच्चे आदि।

(९) उपयाचित– देवता आदि की आराधना करने से जो पुत्र उत्पन्न हो उसे उपयाचित पुत्र कहते हैं, अथवा अवपात सेवा को कहते हैं। सेवा करना ही जिसके जीवन का उद्देश्य है उसे अवपातिक पुत्र या सेवक पुत्र कहते हैं।

(१०) अन्तेवासी– जो अपने समीप रहे उसे अन्तेवासी कहते हैं। धर्म उपार्जन के लिए या धर्मसंयुक्त अपने संयमी जीवन का निर्वाह करने के लिए जो धर्मगुरु के समीप रहे उसे धर्म्मा-

न्तेवासी (शिष्य) कहते हैं। शिष्य भी धर्मशिक्षा की अपेक्षा से अन्तेवासी पुत्र कहलाता है। (ठाणांग, सूत्र ७६२)

६७८-- अवस्था दस

कालकृत शरीर की दशा को अवस्था कहते हैं। यहाँ पर सौ वर्ष की आयु मान कर ये दस अवस्थाएं बतलाई गई हैं। दस दस वर्ष की एक एक अवस्था मानी गई है। इससे अधिक आयु वाले पुरुष की अथवा पूर्व कोटि की आयु वाले पुरुष के भी ये दस अवस्थाएं ही होती हैं, किन्तु उसमें दस वर्ष का परिमाण नहीं माना जाता है, क्योंकि पूर्व कोटि की आयु वाले पुरुष के सौ वर्ष तो कुमारावस्था में ही निकल जाते हैं। अतः उन की आयु का परिमाण भिन्न माना गया है किन्तु उनके भी आयु के परिमाण के दस विभागानुसार दस अवस्थाएं ही होती हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है--

(१) बाल अवस्था-- उत्पन्न होने से लेकर दस वर्ष तक का प्राणी बाल कहलाता है। इसको सुख दुःखादि का अथवा सांसारिक दुःखों का विशेष ज्ञान नहीं होता। अतः यह बाल अवस्था कहलाती है।

(२) क्रीड़ा-- यह द्वितीय अवस्था क्रीड़ाप्रधान है अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त कर प्राणी अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता है किन्तु काम भोगादि विषयों की तरफ उसकी तीव्र बुद्धि नहीं होती।

(३) मन्द अवस्था-- विशिष्ट बल बुद्धि के कार्यों में असमर्थ किन्तु भोगोपभोग की अनुभूति जिस दशा में होती है उसे मन्द अवस्था कहते हैं। इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है कि क्रमशः इस अवस्था को प्राप्त होकर पुरुष अपने घर में विद्यमान भोगोपभोग की सामग्री को भोगने में समर्थ होता है किन्तु नये भोगादि को उपार्जन करने में मन्द यानी

असमर्थ होता है। इसलिए इसे मन्द अवस्था कहते हैं।

(४) वला अवस्था– तन्दुरुस्त पुरुष इस अवस्था को प्राप्त हो कर अपना बल (पुरुषार्थ) दिखाने में समर्थ होता है। इसलिए पुरुष की यह चतुर्थावस्था वला कहलाती है।

(५) प्रज्ञा अवस्था– पाँचवीं अवस्था का नाम प्रज्ञा है। प्रज्ञा बुद्धि को कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होने पर पुरुष में अपने इच्छितार्थ को सम्पादन करने की तथा अपने कुटुम्ब की वृद्धि करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः इस अवस्था को 'प्रज्ञा' अवस्था कहा जाता है।

(६) हापनी (हायणी)– इस अवस्था को प्राप्त होने पर पुरुष की इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करने में किञ्चित् हीनता को प्राप्त हो जाती हैं, इसी कारण से इस अवस्था को प्राप्त पुरुष काम भोगादि के अन्दर किञ्चित् विरक्ति को प्राप्त हो जाता है। इसी लिए यह दशा हापनी (हायणी) कहलाती है।

(७) प्रपञ्चा– इस अवस्था में पुरुष की आरोग्यता गिर जाती है और खांसी आदि अनेक रोग आकर घेर लेते हैं।

(८) प्राग्भारा– इस अवस्था में पुरुष का शरीर कुछ झुक जाता है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। स्त्रियों का अप्रिय हो जाता है और बुढ़ापा आकर घेर लेता है।

(९) मुंमुही– जरा रूपी राक्षसी से समाक्रान्त पुरुष इस नवमी दशा को प्राप्त होकर अपने जीवन के प्रति भी उदासीन हो जाता है और निरन्तर मृत्यु की आकांक्षा करता है।

(१०) स्वापनी (शायनी)– इस दसमी अवस्था को प्राप्त होने पर पुरुष अधिक निद्रालु बन जाता है। उसकी आवाज हीन, दीन और विकृत हो जाती है। इस अवस्था में पुरुष अति दुर्बल और अति दुःखित हो जाता है। यह पुरुष की दसमी अवस्था

है यानी अन्तिम अवस्था है। (ठाणाग, सूत्र ७७२)

६७९— संसार को समुद्र के साथ दस उपमा

(१) लवण समुद्र में पानी बहुत है और उसका विस्तार भी बहुत है। इस संसार रूपी समुद्र में जन्म, जरा, मृत्यु से क्षोभित मोहरूपी पानी बहुत है और विचित्र प्रकार के इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों के संयोग वियोग आदि प्रसंग से वह मोह रूपी पानी बहुत विस्तृत है।

(२) लवण समुद्र में फेन और तरङ्गों से युक्त बड़ी बड़ी कल्लोलें उठती हैं जिन से भयङ्कर आवाज उठती है। संसार रूपी समुद्र में अपमान रूप फेन, दूसरे से अपमानित होना या पर की निन्दा करना रूप तरङ्गों से युक्त स्नेह रूपी वध, बन्धन आदि महान् कल्लोलें उठती हैं और वध बन्धनादि से दुःखित प्राणी विलापादि करुणाजनक शब्द करते हैं। इससे संसार रूपी समुद्र अति क्षुब्ध (विचलित) हो रहा है।

(३) लवण समुद्र में वायु बहुत है। संसार रूपी समुद्र में मिथ्यात्व रूप तथा घोर वेदना एवं परपराभव (दूसरे को नीचा दिखाना) रूप वायु बहुत है। मिथ्यात्व रूपी वायु से बहुत से जीव समकित से विचलित हो जाते हैं।

(४) लवण समुद्र में कर्दम (कीचड़) बहुत है। संसार रूपी समुद्र में राग द्वेष रूपी कीचड़ बहुत है।

(५) लवण समुद्र में बड़े बड़े पाषाण और बड़े बड़े पर्वत हैं। संसार रूप समुद्र में कठोर वचन रूपी पाषाण (पत्थर) और आठ कर्म रूपी बड़े बड़े पर्वत हैं। इन पर्वत और पाषाणों से टक्कर खाकर जीव राग द्वेष रूपी कीचड़ में फंस जाते हैं। इस प्रकार कीचड़ और पाषाणों की बहुलता होने के कारण संसार रूपी समुद्र से तिरना महान् दुष्कर है।

(६) लवण समुद्र में बड़े बड़े पाताल कलश हैं और उनका पानी ऊपर उछलता रहता है। जिनमें पड़ा हुआ जीव वाहर निकल नहीं सकता। इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में क्रोध मान माया लोभ चार कषाय रूप महान् पाताल कलश हैं। उनमें सहस्र भव रूपी पानी भरा हुआ है। अपरिमित इच्छा, आशा, तृष्णा एवं कलुषता रूपी महान् वायुवेग से क्षुब्ध हुआ वह पानी उछालता रहता है। इस कषाय की चौकड़ी रूप कलशों में पड़े हुए जीव के लिए संसार समुद्र तिरना अति दुष्कर है।

(७) लवण समुद्र में अनेक दुष्ट हिंसक प्राणी महामगर तथा अनेक मच्छ कच्छ रहते हैं। संसार रूप समुद्र में अज्ञान और पाखण्ड मत रूप अनेक मच्छ कच्छ हैं। संसार के प्राणी शोक रूपी वडवानल से सदा जलते रहते हैं। पाँच इन्द्रियों के अनिग्रह (वश में न रखना) महामगर हैं।

(८) लवण समुद्र के जल में वहुत भंवर पड़ते हैं। संसार रूप समुद्र में प्रचुर आशा तृष्णा रूप श्वेत वर्ण के फेन से युक्त महामोह से आवृत काया की चपलता और मन की व्याकुलता रूप पानी के अन्दर विषय भोग रूपी भंवर पड़ते हैं। इनमें फंसे हुए प्राणी के लिए संसार समुद्र तिरना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

(९) लवण समुद्र में शंख सीप आदि वहुत हैं। इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में कुगुरु, कुदेव और कुधर्म (कुशास्त्र) रूप शंख सीप वहुत हैं।

(१०) लवण समुद्र में जल का ओघ और प्रवाह भारी है। संसार रूप समुद्र में आर्त्त, भय, विषाद, शोक तथा क्लेश और कदाग्रह रूप महान् ओघ प्रवाह है और देवता, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति में गमन रूप वक्र गति वाली वेलें हैं।

उपरोक्त कारणों से लवण समुद्र को तिरना अत्यन्त दुष्कर है,

किन्तु शुभ पुण्योदय से और देवता की सहायता एवं रत्नादि के प्रकाश से कोई कोई व्यक्ति लवण समुद्र को तिरने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश से तथा सिद्धान्त की वाणी का श्रवण कर सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्न-त्रय के प्रकाश से कोई कोई भव्य प्राणी (भावितात्मा) संसार समुद्र को तिरने में समर्थ होता है। अतः मुमुक्षु आत्माओं को सद्गुरु द्वारा सूत्र सिद्धान्त की वाणी का श्रवण कर सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए निरन्तर उद्यम करते रहना चाहिए।

(प्रश्नव्याकरण तीसरा अधर्म द्वार) (उववाई सूत्र अधिकार १ समवसरण)

६८०– मनुष्य भव की दुर्लभता के दस दृष्टान्त

संसार में बारह बातें दुर्लभ हैं। वे बारहवें बोल में लिखी जाएंगी। उन में पहला मनुष्य भव है। इसकी दुर्लभता बताने के लिए दस दृष्टान्त दिए गए हैं। वे इस प्रकार हैं –

(१) किसी एक दरिद्री पर चक्रवर्ती राजा प्रसन्न हो गया। उसने उसे यथेष्ट पदार्थ माँगने के लिए कहा। उस दरिद्री ने कहा कि मुझे यह वरदान दीजिए कि आपके राज्य में मुझे प्रतिदिन प्रत्येक घर में भोजन करा दिया जाय और जब इस तरह बारी बारी से जीमते हुए सारा राज्य समाप्त कर लूँगा तब फिर वापिस आपके घर जीमूँगा। राजा ने उसे ऐसा ही वरदान दे दिया। इस प्रकार जीमते हुए सारे भरतक्षेत्र के घरों में बारी बारी से जीम कर चक्रवर्ती राजा के यहाँ जीमने की वापिस बारी आना बहुत मुश्किल है, किन्तु ऐसा करते हुए सम्भव है दैवयोग से वापिस बारी आ भी जाय। परन्तु प्राप्त हुए मनुष्य भव को जो व्यक्ति व्यर्थ गंवा देता है, उसको पुनः मनुष्य भव मिलना बहुत मुश्किल है।

(२) जिस प्रकार देवाधिष्ठित पाशों से खेलने वाला पुरुष सामान्य पाशों द्वारा खेलने वाले पुरुष द्वारा जीता जाना मुश्किल है। यदि कदाचित् किसी भी तरह वह जीता भी जाय किन्तु व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य भव फिर मिलना बहुत मुश्किल है।
(३) सारे भरत क्षेत्र के गेहूँ, जौ, मक्की, बाजरा आदि सब धान्य (अनाज) एक जगह इकट्ठा किया जाय और उस एकत्रित ढेर में थोड़े से सरसों के दाने डाल दिए जाएं और सारे धान्य के ढेर को हिला दिया जाय। फिर एक वृद्धा, जिसकी दृष्टि (नेत्र शक्ति) अति क्षीण है, क्या वह उस ढेर में से उन सरसों के दानों को निकालने में समर्थ हो सकती है? नहीं। किन्तु कदाचित् दैवशक्ति के द्वारा वह वृद्धा ऐसा कर भी ले किन्तु धर्माचरणादि क्रिया से रहित निष्फल गंवाया हुआ मनुष्य भव पुनः प्राप्त होना अति दुर्लभ है।
(४) एक राजा के एक पुत्र था। राजा के विशेष वृद्ध होजाने पर भी जब राजपुत्र को राज्य नहीं मिला, तब वह राजपुत्र अपने पिता को मार कर राज्य लेने की इच्छा करने लगा। इस बात का पता मन्त्री को लग गया और उसने राजा से सारा वृत्तान्त कह दिया। तब राजा ने अपने पुत्र से कहा कि जो हमारी परम्परा को सहन नहीं कर सकता, उसको हमारे साथ द्यूत (जूआ) खेल कर राज्य जीत लेना चाहिए। जीतने का यह तरीका है कि हमारी राजसभा में १०८ स्तम्भ हैं। एक एक स्तम्भ के १०८ कोण हैं। एक एक कोण को बीच में विना हारे १०८ बार जीत ले। इस प्रकार करते सारे स्तम्भ एवं उनके सभी कोणों को विना हारे प्रत्येक को एकसौ आठ बार जीतता जाय तो उसको राज्य मिल जायगा। उपरोक्त प्रकार से उन सारे स्तम्भों को जीतना मुश्किल है। तथापि दैवशक्ति के प्रभाव से वह

जीत भी जाय, किन्तु व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य भव मिलना तो उपरोक्त घटना की अपेक्षा भी अति दुर्लभ है।

(५) एक धनी सेठ के पास बहुत से रत्न थे। उसके परदेश चले जाने पर उसके पुत्रों ने उन रत्नों में से बहुत रत्न दूसरे वणिकों को अल्प मूल्य में बेच डाले। उन रत्नों को लेकर वे वणिक् अन्यत्र चले गये। जब वह सेठ परदेश से वापिस लौटा और उसे यह बात मालूम हुई तो उसने अपने पुत्रों को बहुत उपालम्भ दिया और रत्नों को वापिस लाने के लिए कहा। वे लड़के उन रत्नों को लेने के लिए चारों तर्फ घूमने लगे। क्या वे लड़के उन सब रत्नों को वापिस इकट्ठा कर सकते हैं? यदि कदाचित् वे दैवप्रभाव से उन सब रत्नों को फिर से इकट्ठा कर भी लें किन्तु धर्म ध्यानादि क्रिया न करते हुए व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य जन्म पुनः मिलना बहुत मुश्किल है।

(६) एक भिक्षुक ने एक रात्रि के अन्तिम पहर में यह स्वप्न देखा कि वह पूर्णमासी के चन्द्रमा को निगल गया। उसने वह स्वप्न दूसरे भिक्षुकों से कहा। उन्होंने कहा तुमने पूर्ण चन्द्र देखा है। अतः आज तुम्हें पूर्ण चन्द्र मण्डल के आकार रोट (पूड़ी या बड़ी रोटी) मिलेगा तदनुसार उस भिक्षुक को उस दिन एक रोट मिल गया। उसी रात्रि में और उसी ग्राम में एक राजपूत (क्षत्रिय) ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा। उसने स्वप्न पाठकों के पास जाकर उस स्वप्न का अर्थ पूछा। उन्होंने स्वप्न शास्त्र देख कर बतलाया कि तुम्हें सम्पूर्ण राज्य की प्राप्ति होगी। दैवयोग से ऐसा संयोग हुआ कि अकस्मात् उस ग्राम के राजा का उसी दिन देहान्त हो गया। उसके कोई पुत्र न था। अतः एक हथिनी के सूंड में फूल माला पकड़ा कर छोड़ा गया कि जिसके गले में यह माला डाल देगी वही राजा होगा। जन समूह में घूमती हुई हथिनी उसी

(स्वप्न दृष्टा) राजपूत के पास आई और उसके गले में वह फूल माला डाल दी। पूर्व प्रतिज्ञानुसार राज्य कर्मचारी पुरुषों ने उस राजपूत को राजा बना दिया। इस सारे वृत्तान्त को सुन कर वह भिक्षुक सोचने लगा कि मैंने भी इस राजपूत के समान ही स्वप्न देखा था किन्तु मुझे तो केवल एक रोट ही मिला, अतः अब वापिस सोता हूँ और फिर पूर्णचन्द्र का स्वप्न देख कर राज्य प्राप्त करूँगा। क्या वह भिक्षुक फिर वैसा स्वप्न देख कर राज्य प्राप्त कर कर सकता है ? यदि कदाचित् वह ऐसा कर भी ले किन्तु व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य भव पुनः प्राप्त करना अति दुर्लभ है।

(७) मथुरा के राजा जितशत्रु के एक पुत्री थी। उसने उसका स्वयंवर रचा। उसमें एक शालभंजिका (काष्ठ की बनाई हुई पुतली) बनाई और उसके नीचे आठ चक्र लगाए जो निरन्तर घूमते रहते थे। पुतली के नीचे तैल से भर कर एक कड़ाही रख दी गई। राजा जितशत्रु ने यह शर्त रखी थी कि जो व्यक्ति तैल के अन्दर पड़ती हुई पुतली की परछाई को देख कर आठ चक्रों के बीच फिरती हुई पुतली की बाईं आँख की कनीनिका (टीकी) को बाण द्वारा बींध डालेगा उसके साथ मेरी कन्या का विवाह होगा। वे सब एकत्रित हुए राजा लोग उस पुतली के वाम नेत्र की टीकी को बींधने में असमर्थ रहे। जिस प्रकार उस अष्ट चक्रों के बीच फिरती हुई पुतली के वाम नेत्र की टीकी को बींधना दुष्कर है उसी तरह खोया हुआ मनुष्य भव फिर मिलना बहुत मुश्किल है।

(८) एक बड़ा सरोवर था। वह ऊपर से शैवाल से ढका हुआ था। उसके बीच में एक छोटा सा छिद्र था। सौ वर्ष व्यतीत होने पर वह छिद्र इतना चौड़ा हो जाता था कि उसमें कछुए की गर्दन समा सकती थी। ऐसे अवसर में एक समय एक

कछुए ने उस छिद्र में अपनी गरदन डाल कर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के चन्द्र को देखा। अपने कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों को भी चन्द्र दिखाने के लिए उसने जल में डुबकी लगाई। वापिस बाहर आकर देखा तो वह छिद्र बन्द हो चुका था। अब कब सौ वर्ष बीतें जब फिर वही आश्विन पूर्णिमा आए और वह छिद्र खुले तब वह कछुआ अपने कुटुम्बियों को चन्द्रमा का दर्शन कराए। यह अत्यन्त कठिन है। कदाचित् दैवशक्ति से उस कछुए को ऐसा अवसर प्राप्त भी हो जाय, किन्तु मनुष्य भव पाकर जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता हुआ अपना अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ खो देता है उसे पुनः मनुष्य भव मिलना अति दुर्लभ है।

(९) कल्पना कीजिये—स्वयंभूरमण समुद्र के एक तीर पर गाड़ी का युग (जूआ या धोंसरा) पड़ा हुआ है और दूसरे तट पर समिला (धोंसरे के दोनों ओर डाली जाने वाली कील) पड़ी हुई है। वायुवेग से वे दोनों समुद्र में गिर पड़ें। समुद्र में भटकते भटकते वे दोनों आपस में एक जगह मिल जायँ, किन्तु उस युग के छिद्र में उस समिला का प्रवेश होना कितना कठिन है। यदि कदाचित् ऐसा हो भी जाय परन्तु व्यर्थ खोया हुआ मनुष्य भव मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है।

(१०) कल्पना कीजिये— एक महान् स्तम्भ है। एक देवता उसके टुकड़े टुकड़े करके अविभागी (जिसके फिर दो विभाग न हो सके) खण्ड करके एक नली में भर दे। फिर मेरु पर्वत की चूलिका पर उस नली को ले जाकर जोर से फूंक मार कर उसके सब परमाणुओं को उड़ा देवे। फिर कोई मनुष्य उन्हीं सब परमाणुओं को पुनः एकत्रित कर वापिस उन्हीं परमाणुओं से वह स्तम्भ बना सकता है? यदि कदाचित् दैवशक्ति से

ऐसा करने में वह व्यक्ति समर्थ भी हो जाय किन्तु व्यर्थ खोया हुआ मनुष्य जन्म फिर मिलना अति दुर्लभ है।

इस प्रकार देव दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति प्रमाद, आलस्य, मोह, क्रोध, मान आदि के वशीभूत होकर संसार सागर से पार उतारने वाले धर्म का श्रवण एवं आचरण नहीं करता वह प्राप्त हुए मनुष्य भव रूपी अमूल्य रत्न को व्यर्थ खो देता है। चौरासी लक्ष जीव योनि में भटकते हुए प्राणी को वार वार मनुष्य भव की प्राप्ति उपरोक्त दस दृष्टान्तों की तरह अत्यन्त दुर्लभ है। अतः मनुष्य भव को प्राप्त कर मुमुक्षु आत्माओं को निरन्तर धर्म में उद्यम करना चाहिए।

(उत्तराध्ययन निर्युक्ति अध्ययन ३) (आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८३२)

६८१- अच्छेरे (आश्चर्य) दस

जो बात अभूतपूर्व (पहले कभी नहीं हुई) हो और लोक में जो विस्मय एवं आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हो ऐसी बात को अच्छेरा (आश्चर्य) कहते हैं। इस अवसर्पिणी काल में दस बातें आश्चर्य जनक हुई हैं। वे इस प्रकार हैं-

(१) उपसर्ग (२) गर्भहरण (३) स्त्रीतीर्थङ्कर (४) अभव्या परिषद् (५) कृष्ण का अपरकंका गमन (६) चन्द्र सूर्य अवतरण (७) हरिवंश कुलोत्पत्ति (८) चमरोत्पात (९) अष्टशतसिद्धा (१०) असंयत पूजा।

ये दस प्रकार के आश्चर्य किस प्रकार हुए? इनका किञ्चित् विवरण यहाँ दिया जाता है-

(१) उपसर्ग-तीर्थङ्कर भगवान् का यह अतिशय होता है कि वे जहाँ विराजते हों उसके चारों तरफ सौ योजन के अन्दर किसी प्रकार का वैरभाव, मरी आदि रोग एवं दुर्भिक्ष आदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता, किन्तु श्रमण भगवान् महावीर

के दूसरे पहर में देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ का हरण कर महारानी त्रिशला देवी की कुक्षि में भगवान् के जीव को रख दिया।

तीर्थङ्कर की अपेक्षा यह भी अभूतपूर्व बात थी। अनन्त काल में इस अवसर्पिणी में ऐसा हुआ। अतः यह दूसरा अच्छेरा हुआ।

(३) स्त्रीतीर्थ- स्त्री का तीर्थङ्कर होकर द्वादशाङ्गी का निरूपण करना और संघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना करना स्त्रीतीर्थ कहलाता है। त्रिलोक में निरुपम अतिशय और महिमा को धारण करने वाले पुरुष ही तीर्थ की स्थापना करते हैं किन्तु इस अवसर्पिणी में १६ वें तीर्थङ्कर भगवान् मल्लिनाथ स्त्री रूप में अवतीर्ण हुए। उनका कथानक इस प्रकार है-

इस जम्बूद्वीप के अपर विदेह में सलिलावती विजय के अन्दर वीतशोका नाम की नगरी है। वहाँ पर महाबल नाम का राजा राज्य करता था। बहुत वर्ष पर्यन्त राज्य करने के पश्चात् वरधर्म मुनि के पास धर्मोपदेश श्रवण कर महाबल राजा ने अपने छः मित्रों सहित उक्त मुनि के पास दीक्षा धारण कर ली। उन सातों मुनियों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि सब एक ही प्रकार का तप करेंगे, किन्तु महाबल मुनि ने यह विचार किया कि यहाँ तो इन छहों से मैं बड़ा हूँ। इसी तरह आगे भी बड़ा बना रहूँ। अतः मुझे इनसे कुछ विशेष तप करना चाहिए। इसलिए पारणे के दिन वे महाबल मुनि ऐसा कह दिया करते थे कि आज तो मेरा शिर दुखता है, आज मेरा पेट दुखता है। अतः मैं तो आज पारणा नहीं करूँगा, ऐसा कह कर उपवास की जगह बेला और बेले की जगह तेला तथा तेले की जगह चौला कर लिया करते थे। इस प्रकार माया (कपट) सहित तप करने से महाबल मुनि ने उस भव में स्त्रीवेद कर्म बांध लिया और अर्हद्भक्ति आदि तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन के योग्य

वीस बोलों की उत्कृष्ट भाव से आराधना करने से तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन कर बहुत समय तक श्रमण पर्याय का पालन कर वैजयन्त विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर मिथिला नगरी में कुम्भराजा की पत्नी प्रभावती रानी की कुक्षि से 'मल्ली' नाम की पुत्री रूप में उत्पन्न हुए। पूर्व भव में माया (कपटाई) का सेवन करने से इस भव में स्त्री रूप में उत्पन्न होना पड़ा। क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हो, दीक्षा अङ्गीकार कर केवलज्ञान उपार्जन किया। तीर्थङ्करों के होने वाले आठ महाप्रातिहार्य्य आदि से सुशोभित हो चार प्रकार के तीर्थ की स्थापना की। बहुत वर्षों तक केवल पर्याय का पालन कर मोक्ष सुख को प्राप्त हुए।

पुरुष ही तीर्थङ्कर हुआ करते हैं। भगवान् मल्लिनाथ स्त्री रूप में अवतीर्ण होकर इस अवसर्पिणी में १९ वें तीर्थङ्कर हुए। यह भी एक अनन्त काल में अभूतपूर्व घटना होने के कारण अच्छेरा माना जाता है।

(४) अभव्या परिषद्–चारित्र धर्म के अयोग्य परिषद् (सभा) अभव्या (अभाविता) परिषद् कहलाती है। तीर्थङ्कर भगवान् को केवल ज्ञान होने पर वे जो प्रथम धर्मोपदेश देते हैं, उसमें कोई न कोई व्यक्ति अवश्य चारित्र ग्रहण करता है यानि दीक्षा लेता है, किन्तु भगवान् महावीर स्वामी के विषय में ऐसा नहीं हुआ। जृम्भिक ग्राम के बाहर जब भगवान् महावीर स्वामी को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वहाँ समवसरण की रचना हुई। अनेक देवी देवता मनुष्य तिर्यञ्च आदि भगवान् का धर्मोपदेश सुनने के लिए समवसरण में एकत्रित हुए। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने धर्मोपदेशना दी, किन्तु उस उपदेश को सुन कर उस समय किसी ने चारित्र अङ्गीकार नहीं किया।

ऐसी बात किसी भी तीर्थङ्कर भगवान् के समय में नहीं हुई

थी। अनन्त काल में यही एक घटना हुई थी कि तीर्थङ्कर भगवान् की वाणी निष्फल गई। अतः यह भी एक अच्छेरा माना जाता है।
(५) कृष्ण का अपरकङ्कागमन— हस्तिनागपुर के अन्दर युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डव द्रौपदी के साथ रहते थे। एक समय नारद मुनि यथेष्ट प्रदेशों में घूमते हुए द्रौपदी के यहाँ आये। उनको अविरत समझ कर द्रौपदी ने उनको नमस्कार आदि नहीं किया। नारद मुनि ने इसको अपना अपमान समझा और अति कुपित हो यह विचार करने लगे कि द्रौपदी दुखी हो ऐसा कार्य्य मुझे करना चाहिए। भरत क्षेत्र में तो कृष्ण वासुदेव के भय से द्रौपदी को कोई भी तकलीफ नहीं दे सकता ऐसा विचार कर नारद मुनि भरत क्षेत्र के धातकी खंड में अपरकंका नाम की नगरी के स्वामी पद्मनाभ राजा के पास पहुँचे। राजा ने उठ कर उनका आदर सत्कार किया और फिर उनको अपने अन्तःपुर में ले जा कर अपनी सब रानियाँ दिखलाई और कहा कि हे आर्य ! आप सब जगह यथेष्ट घूमते रहते हैं, यह बतलाइये कि मेरी रानियाँ जो देवाङ्गना के समान सुन्दर हैं ऐसी सुन्दर रानियाँ आपने किसी और राजा के भी देखी हैं ? राजा की ऐसी बात सुनकर नारद मुनि ने यह विचार किया कि यह राजा अधिक विषयासक्त एवं परस्त्रीगामी प्रतीत होता है, अतः यहाँ पर मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। ऐसा सोच नारद मुनि ने पद्मनाभ राजा से कहा कि हे राजन् ! तू कूपमण्डूक है। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनागपुर के अन्दर पाण्डवपत्नी द्रौपदी ऐसी सुन्दर है कि उसके सामने तेरी ये रानियाँ तो दासियाँ सरीखी प्रतीत होती हैं। ऐसा कह कर नारद मुनि वहाँ से चले गये। द्रौपदी के रूप की प्रशंसा सुनकर पद्मनाभ उसे प्राप्त करने के लिए अति व्याकुल हो उठा और अपने पूर्व भव

के मित्र देव को याद किया। याद करने पर देवता उसके सन्मुख उपस्थित हुआ और कहने लगा कि कहिए आपके लिए मैं क्या कार्य सम्पादित करूँ ? राजा ने कहा कि पाण्डवपत्नी द्रौपदी को यहाँ लाकर मेरे सुपुर्द करो। देव ने कहा कि द्रौपदी तो महासती है, वह मन से भी परपुरुष की अभिलाषा नहीं करती परन्तु तुम्हारे आग्रह के कारण मैं उसे यहाँ ले आता हूँ। ऐसा कह कर वह देव हस्तिनागपुर आया और महल की छत पर सोती हुई द्रौपदी को उठा कर धातकीखण्ड में अपरकंका नाम की नगरी में ले आया। वहाँ लाकर उसने पद्मनाभ राजा के सामने रख दी। पश्चात् वह देव अपने स्थान को वापिस चला गया।

जब द्रौपदी की निद्रा (नींद) खुली तो पाण्डवों को वहाँ न देख कर बहुत घबराई। तब पद्मनाभ राजा ने कहा कि हे भद्रे ! मत घबराओ। मैंने ही हस्तिनागपुर से तुम्हें यहाँ मंगवाया है। मैं धातकीखण्ड की अपरकङ्का का स्वामी पद्मनाभ नाम का राजा हूँ। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे साथ इन विपुल काम भोगों का भोग करती हुई सुख पूर्वक यहीं रहें। मैं आपका सेवक बन कर रहूँगा। पद्मनाभ राजा के उपरोक्त वचनों को द्रौपदी ने कोई आदर नहीं दिया एवं स्वीकार नहीं किया। राजा ने सोचा कि यदि आज यह मेरी बात स्वीकार नहीं करती है तो भी कोई बात नहीं, क्योंकि यहाँ पर जम्बूद्वीपवासी पाण्डवों का आगमन तो असम्भव है। इसलिए आज नहीं तो कुछ दिनों बाद द्रौपदी को मेरी बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

इधर प्रातः काल जब पाण्डव उठे तो उन्होंने महल में द्रौपदी को नहीं देखा। चारों तरफ खोज करने पर भी उनको द्रौपदी का कोई पता नहीं लगा। तब वे कृष्ण महाराज के पास आये और उनसे सारा वृत्तान्त निवेदन किया। इस बात को सुनकर

कृष्ण वासुदेव को बड़ी चिन्ता हुई। इतने में वहाँ पर नारद मुनि आगये। कृष्ण महाराज ने उनसे पूछा कि हे आर्य! यथेष्ट प्रदेशों में घूमते हुए आपने कहीं पर द्रौपदी को देखा है? तब नारद मुनि ने कहा कि धातकीखण्ड की अपरकंका नाम की नगरी में पद्मनाभ राजा के यहाँ मैंने द्रौपदी को देखा है, ऐसा कह कर नारद मुनि तो वहाँ से चले गये। तब कृष्ण महाराज ने पाण्डवों से कहा कि तुम कुछ भी फिक्र मत करो। मैं द्रौपदी को यहाँ ले आऊँगा। फिर पाँचों पाण्डवों को साथ लेकर कृष्ण महाराज लवण समुद्र के दक्षिण तट पर आये। वहाँ अष्टमतप (तेला) करके लवण समुद्र के स्वामी सुस्थित नामक देव की आराधना की। सुस्थित देव वहाँ उपस्थित हुआ। उसकी सहायता से पांचों पाण्डवों सहित कृष्ण वासुदेव दो लाख योजन प्रमाण लवण समुद्र को पार कर अपरकंका नगरी के बाहर एक उद्यान (बगीचे) में आकर ठहरे। वहाँ से पद्मनाभ राजा के पास दारूक नामक दूत भेज कर कहलवाया कि कृष्ण वासुदेव पाचों पाण्डवों सहित यहाँ आये हुए हैं, अतः द्रौपदी को ले जाकर पाण्डवों को सौंप दो। दूत ने जाकर पद्मनाभ राजा से ऐसा ही कहा। उत्तर में उसने कहा कि इस तरह मांगने से द्रौपदी नहीं मिलती। अतः अपने स्वामी से कह दो कि यदि तुम में ताकत है तो युद्ध करके द्रौपदी को ले सकते हो। मैं ससैन्य युद्ध के लिए तय्यार हूँ। दूत ने जाकर सारा वृत्तान्त कृष्ण वासुदेव से कह दिया। इसके बाद सेना सहित आते हुए पद्मनाभ राजा को देख कर कृष्ण वासुदेव ने इतने जोर से शंख की ध्वनि की जिससे पद्मनाभ राजा की सेना का तीसरा हिस्सा तो उस शंखध्वनि को सुन कर भाग गया। फिर कृष्ण वासुदेव ने अपना धनुष उठा कर ऐसी टंकार मारी जिससे उसकी सेना का दो तिहाई हिस्सा और भाग गया।

अपनी सेना की यह दशा देख कर पद्मनाभ राजा रणभूमि से भाग गया। अपनी नगरी में घुस कर शहर के सब दरवाजे बन्द करवा दिये। यह देख कृष्ण वासुदेव अति कुपित हुए और जोर से पृथ्वी पर ऐसा पादस्फालन (पैरों को जोर से पटकना) किया जिससे सारा नगर कम्पित हो गया। शहर का कोट और दरवाजे तथा राजमहल आदि सब धराशायी हो गये। यह देख कर पद्मनाभ राजा अति भयभीत हुआ और द्रौपदी के पास जाकर कहने लगा कि हे देवि ! मेरे अपराध को क्षमा करो और अब कुपित हुए इन कृष्ण वासुदेव से मेरी रक्षा करो। तब द्रौपदी ने कहा कि तू स्त्री के कपड़े पहन कर और मुझे आगे रख कर कृष्ण वासुदेव की शरण में चला जा। तब ही तेरी रक्षा हो सकती है। पद्मनाभ राजा ने ऐसा ही किया। फिर द्रौपदी और पांचों पाण्डवों को साथ लेकर कृष्ण वासुदेव वापिस लौट कर लवण समुद्र के किनारे आये।

उस समय धातकी खण्ड में चम्पापुरी के अन्दर कपिल नाम का वासुदेव तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के पास धर्म श्रवण कर रहा था। पद्मनाभ राजा के साथ युद्ध में कृष्ण वासुदेव द्वारा की गई शंखध्वनि को सुन कर कपिल वासुदेव ने मुनिसुव्रत स्वामी से पूछा कि हे भगवन् ! मेरे जैसा ही यह शंख का शब्द किसका है ? तब भगवान् ने द्रौपदी का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुन कपिल वासुदेव कहने लगा कि हे भगवन् ! मैं जाता हूँ और जम्बूद्वीप के भरतार्द्ध के स्वामी कृष्ण वासुदेव को देखूँगा और उनका स्वागत करूँगा। तब भगवान् ने कहा कि हे कपिल वासुदेव ! जिस तरह एक तीर्थङ्कर दूसरे तीर्थङ्कर को और एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती को नहीं देख सकता। उसी प्रकार एक वासुदेव दूसरे वासुदेव को नहीं

देख सकता। भगवान् के ऐसा फरमाने पर भी कपिल वासुदेव कुतूहल से शीघ्रता पूर्वक लवण समुद्र के तट पर आया किन्तु उसके पहुँचने के पहले ही कृष्ण वासुदेव वहाँ से रवाना हो चुके थे। लवण समुद्र में जाते हुए कृष्ण वासुदेव के रथ की ध्वजा को देख कर कपिल वासुदेव ने शंखध्वनि की। उस ध्वनि को सुन कर कृष्ण वासुदेव ने भी शंखध्वनि की। फिर लवण समुद्र को पार कर द्रौपदी तथा पाँचों पाण्डवों सहित निज स्थान को गये।

(६) चन्द्रसूर्य्यावतरण– एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी नगरी में विराजते थे। वहाँ समवसरण में चन्द्र और सूर्य्य दोनों देव अपने अपने शाश्वत विमान में बैठ कर एक साथ भगवान् के दर्शन करने के लिए आये।

चन्द्र और सूर्य्य उत्तरविक्रिया द्वारा बनाये हुए विमान में बैठ कर ही तीर्थङ्करादि के दर्शन करने के लिये आया करते हैं, परन्तु भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में वे दोनों एक साथ और अपने अपने शाश्वत विमान में बैठ कर आये। यह भी अनन्त काल में अभूतपूर्व घटना है। अतः अच्छेरा माना जाता है।

(७) हरिवंश कुलोत्पत्ति– हरि नाम के युगलिए का वंश यानी पुत्र पौत्रादि रूप से परम्परा का चलना हरिवंश कुलोत्पत्ति कहलाती है। इसका विवेचन इस प्रकार है–

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी के अन्दर सुमुख नाम का राजा राज्य करता था। एक समय उस राजा ने वीरक नाम के एक जुलाहे की रूप लावण्य में अद्वितीय वनमाला नाम की स्त्री को देखा और अति सुन्दरी होने के कारण वह उसमें आसक्त हो गया, किन्तु उसकी प्राप्ति न होने से वह राजा खिन्न चित्त एवं उदास रहने लगा। एक समय सुमति नाम के मन्त्री ने राजा से इसका कारण पूछा। राजा ने अपने मनोगत भावों को उससे

कह दिया। मन्त्री ने राजा से कहा कि आप चिन्ता न करें मैं आपके समीहित कार्य्य को पूर्ण कर दूँगा। ऐसा कह कर मन्त्री ने एक दूती को भेज कर उस जुलाहे की स्त्री वनमाला को बुलवाया और उसे राजा के पास भेज दिया। राजा ने उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया और उसके साथ संसार के सुखों का अनुभव करता हुआ आनन्दपूर्वक रहने लगा।

दूसरे दिन प्रातः काल जब वीरक जुलाहे ने अपनी स्त्री वनमाला को घर में न पाया तो वह अति चिन्तित हुआ। शोक तथा चिन्ता के कारण वह भ्रान्तचित्त (पागल) हो गया और हा वनमाले! हा वनमाले! कहता हुआ शहर में इधर उधर घूमने लगा। एक दिन वनमाला के साथ बैठा हुआ राजा राजमहल के नीचे से जाते हुए और इस प्रकार प्रलाप करते हुए उस जुलाहे को देख कर विचार करने लगा और वनमाला से कहने लगा कि अहो! हम दोनों ने इहलोक और परलोक दोनों लोकों में निन्दित अतीव निर्लज्ज कार्य्य किया है। ऐसा नीच कार्य्य करने से हम लोगों को नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए उन दोनों पर अकस्मात् आकाश से बिजली गिर पड़ी जिससे वे दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गये। परस्पर प्रेम के कारण और शुभ ध्यान के कारण वे दोनों मर कर हरिवर्ष क्षेत्र के अन्दर युगल रूप से हरि और हरिणी नाम के युगलिये हुए और आनन्द पूर्वक सुख भोगते हुए रहने लगे। इधर वीरक जुलाहे को जब उनकी मृत्यु के समाचार ज्ञात हुए तब पागलपन छोड़ वह अज्ञान तप करने लगा। उस अज्ञान तप के कारण मर कर वह सौधर्म देवलोक में किल्विषिक देव हो गया। फिर उसने अवधिज्ञान से देखा कि मेरे पूर्व भव के वैरी राजा और वनमाला दोनों हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिया रूप से उत्पन्न हुए हैं।

अब मुझे अपने पूर्व भव के वैर का बदला लेना चाहिए। किन्तु यहाँ तो ये अकाल में मारे नहीं जा सकते क्योंकि युगलियों की आयु अनपवर्त्य (अपनी स्थिति से पहले नहीं टूटने वाली) होती है और यहाँ मरने पर ये अवश्य स्वर्ग में जावेंगे। इस लिए इनको यहाँ से उठा कर किसी दूसरी जगह ले जाना चाहिए। ऐसा सोच कर वह देव उन दोनों को कल्पवृक्ष के साथ उठा कर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की चम्पापुरी में ले आया। उस नगरी का इक्ष्वाकु वंशोद्भव चन्द्रकीर्ति नामक राजा उसी समय मर गया था। उसके कोई सन्तान न थी। अतः प्रजा अपने लिए किसी योग्य राजा की खोज में थी। इतने में आकाश में स्थित हो कर उस देव ने कहा कि हे प्रजाजनो! मैं तुम्हारे लिए हरि-वर्ष क्षेत्र से हरि नामक युगलिये को उस की पत्नी हरिणी तथा उन दोनों के खाने योग्य फलों से युक्त कल्पवृक्ष के साथ यहाँ ले आया हूँ। तुम इसे अपना राजा बना लो और इन दोनों को कल्पवृक्ष के फलों में पशु पक्षियों का मांस मिलाकर खिलाते रहना। प्रजाजनों ने देव की इस बात को मान लिया और उसे अपना राजा बना दिया। देव अपनी शक्ति से उन दोनों की अल्प स्थिति और सौ धनुष प्रमाण शरीर की अवगाहना रख कर अपने स्थान को चला गया।

हरि युगलिया भी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को अपने अधीन कर बहुत वर्षों तक राज्य करता रहा और उसके पीछे पुत्र पौत्रादि रूप से उसकी वंश परम्परा चली और तभी से वह वंश हरिवंश कहलाया। युगलियों की वंश परम्परा नहीं चलती क्योंकि वे युगल रूप से उत्पन्न होते हैं और उन ही दोनों में पति पत्नी का व्यवहार हो जाता है। कल्पवृक्षों से यथेष्ट फलादि को प्राप्त करते हुए बहुत समय तक सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते

हैं और फिर दोनों एक ही साथ मर कर स्वर्ग में चले जाते हैं। युगलिये बड़े भद्रिक (भोले) होते हैं। वे धर्म कर्म में कुछ नहीं समझते वैसे ही पाप कर्म में भी कुछ नहीं समझते। इसी भद्रिकपने (सरलता) के कारण वे मर कर स्वर्ग में जाते हैं। नरक आदि अन्य गतियों में नहीं, किन्तु हरि नामक युगलिये ने बहुत वर्षों तक राज्य किया। पशु पक्षियों के मांस भक्षण के कारण हरि और हरिणी दोनों युगलिये मर कर नरक में गये और उनके पीछे उनके नाम से हरिवंश परम्परा चली। अतः यह भी एक अच्छेरा माना जाता है।

(८) चमरोत्पात- चमरेन्द्र अर्थात् असुरकुमार देवों के इन्द्र का उत्पात अर्थात् ऊर्ध्वगमन चमरोत्पात कहलाता है। इस के लिए ऐसा विवरण मिलता है-

इस भरतक्षेत्र में विभेल नामक नगर के अन्दर पूरण नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसको एक समय रात्रि में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि पूर्व भव में किये गये पुण्य के प्रभाव से तो यह सारी सम्पत्ति और यह प्रतिष्ठा मिली है। आगामी भव में मुझे इससे भी ज्यादा ऋद्धि सम्पत्ति प्राप्त हो, इसलिए मुझे तप करना चाहिए। ऐसा विचार कर प्रातः काल अपने कुटुम्बियों से पूछ कर और पुत्र को घर का सारा भार सम्भला कर तापस व्रत ग्रहण कर लिया और प्राणायाम नामक तप करने लगा। प्राणायाम तप का आचरण इस प्रकार करने लगा, वह बेले बेले पारणा करता था और पारणे के दिन काठ का बना हुआ चतुष्पुट पात्र (एक पात्र जिसमें चार हिस्से बने हुए हों) लेकर मध्याह्न (दोपहर) के समय भिक्षा के लिए जाता था। जो कुछ भिक्षा मिलती थी उसके चार हिस्से करता था यानी पात्र के प्रथम हिस्से (पुट) में जो भिक्षा आती वह पथिकों (मुसाफिरों)

को, दूसरे पुट में आई हुई भिक्षा कौओं को, तीसरे पुट में आई हुई भिक्षा मछली आदि जलचर जीवों को डाल देता था और चौथे पुट में आई हुई भिक्षा आप स्वयं राग द्वेष रहित यानी समभाव पूर्वक खाता था। इस प्रकार बारह वर्ष तक अज्ञान तप करके तथा मृत्यु के समय एक महीने का अनशन करके चमरचञ्चा राजधानी के अन्दर चमरेन्द्र हुआ। वहाँ उत्पन्न हो कर उसने अवधिज्ञान से इधर उधर देखते हुए अपने ऊपर सौधर्म विमान में क्रीड़ा करते हुए सौधर्मेन्द्र को देखा और वह कुपित हो कर कहने लगा कि अप्रार्थिक का प्रार्थिक अर्थात् जिसकी कोई इच्छा नहीं करता ऐसे मरण की इच्छा करने वाला यह कौन है जो मेरे शिर पर इस प्रकार क्रीड़ा करता है ? मैं इस को इस प्रकार मेरा अपमान करने की सजा दूँगा। ऐसा कह कर हाथ में परिघ (एक प्रकार का शस्त्र) लेकर ऊपर जाने को तैयार हुआ। परन्तु चमरेन्द्र को विचार आया कि शक्रेन्द्र बहुत बलवान है, अतः यदि मैं हार गया तो फिर किसकी शरण में जाऊँगा। ऐसा सोच सुंसुमारपुर में एकरात्रिकी पडिमा में स्थित श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना नमस्कार कर उनकी शरण लेकर एक लाख योजन प्रमाण अपने शरीर को बना कर परिघ शस्त्र को चारों ओर घुमाता हुआ हाथ, पैरों को विशेष रूप से पटकता हुआ और भयङ्कर गर्जना करता हुआ शक्रेन्द्र की तरफ ऊपर को उछला। वहाँ जाकर एक पैर सौधर्म विमान की वेदिका में और दूसरा पैर सौधर्म सभा में रख कर परिघ से इन्द्रकील (इन्द्र के दरवाजे की कील यानि अर्गला- आगल) को तीन बार ताड़ित किया और शक्रेन्द्र को तुच्छ शब्दों से सम्बोधित करने लगा। शक्रेन्द्र ने भी अवधि ज्ञान से उपयोग लगा कर देखा और उसको जाना कि यह तो चमरेन्द्र

है। पश्चात् अतिक्रुद्ध होकर अतिवेग से जिसमें से सैकड़ों अंगारे निकल रहे हैं ऐसा कुलिश (वज्र) फैंका। उस वज्र के तेज प्रताप को सहन करना तो दूर किन्तु उसको देखने में भी असमर्थ चमरेन्द्र अपने शरीर के विस्तार को संकुचित करके अतिवेग से दौड़ कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की शरण में पहुँचा। जब वज्र अति निकट आने लगा तब चमरेन्द्र अपना शरीर अति सूक्ष्म बना कर भगवान् के दोनों चरणों के बीच में घुस गया।

किसी विशाल शक्ति का आश्रय लिये बिना असुर यहाँ पर नहीं आ सकते। चमरेन्द्र ने किसका आश्रय लिया है? ऐसा विचार कर शक्रेन्द्र ने उपयोग लगाया और देखा तो ज्ञात हुआ कि यह चमरेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी का आश्रय (शरण) लेकर यहाँ आया है और अब भी भगवान् के चरणों की शरण में पहुँच गया है। मेरा वज्र उसका पीछा कर रहा है। कहीं ऐसा न हो कि मेरे वज्र से भगवान् की आशातना हो। ऐसा विचार कर शक्रेन्द्र शीघ्रता से वहाँ आया और भगवान् के चरणों से चार अङ्गुल दूर रहते हुए वज्र को पकड़ कर वापिस खींच लिया और भगवान् से अपने अपराध की क्षमा याचना करता हुआ चमरेन्द्र से कहने लगा कि हे चमरेन्द्र! अब तू त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर की शरण में आ गया है। अब तुझे कोई डर नहीं है। ऐसा कह कर भगवान् को वन्दना नमस्कार कर शक्रेन्द्र अपने स्थान को चला गया।

शक्रेन्द्र जब वापिस चला गया तब चमरेन्द्र भगवान् के चरणों के बीच से बाहर निकला और भगवान् की अनेक प्रकार से स्तुति और प्रशंसा करता हुआ अपनी राजधानी चमरचंचा में चला गया। चमरेन्द्र कभी ऊपर नहीं जाता है। अतः यह भी अच्छेरा माना जाता है।

(९) अष्टशत सिद्धा– एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ जीवों का सिद्ध होना। इस भरतक्षेत्र में और इसी अवसर्पिणी के अन्दर प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देव स्वामी के निर्वाण समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले व्यक्ति एक समय में एक सौ आठ मोक्ष गये। यह भी एक अच्छेरा है। यह अच्छेरा उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा समझना चाहिए क्योंकि उत्कृष्ट अवगाहना वाले प्राणी एक समय में एक सौ आठ सिद्ध नहीं होते, किन्तु भगवान् ऋषभदेव स्वामी के साथ एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक सौ आठ व्यक्ति सिद्ध हुए थे। मध्यम अवगाहना वाले व्यक्ति एक समय में १०८ सिद्ध होने वाले अनेक हैं। अतः यह अच्छेरा उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा है।

(१०) असंयत पूजा– इस अवसर्पिणी काल के अन्दर नवें भगवान् सुविधिनाथ स्वामी के मोक्ष चले जाने पर कुछ समय के बाद पंच महाव्रतधारी साधुओं का बिल्कुल अभाव हो गया था। तब धर्म मार्ग से अनभिज्ञ प्राणी वृद्ध श्रावकों से धर्म का मार्ग पूछने लगे। उन श्रावकों ने उनसे अपनी बुद्धि अनुसार धर्म का कथन किया। श्रावकों द्वारा कथन किए गए धर्म के तत्त्व को जान कर वे लोग बहुत खुश हुए और धन वस्त्र आदि से उन श्रावकों की पूजा करने लगे। इस प्रकार अपनी पूजा प्रतिष्ठा होती हुई देख वे श्रावक अति गर्वोन्मत्त हो गये और अपने मन कल्पित शास्त्र बना कर धर्मानभिज्ञ लोगों को इस प्रकार उपदेश देने लगे कि सोना, चांदी, गौ, कन्या, गज (हाथी), अश्व (घोड़ा) आदि हम लोगों को भेट करने से इस लोक तथा परलोक में महान् फल की प्राप्ति होती है। सिर्फ हम लोग ही दान के पात्र हैं। दूसरे सब अपात्र हैं। इस प्रकार उपदेश करते हुए लोगों को धर्म के नाम से ठगने लगे और

सच्चे गुरुओं के अभाव में वे ही गुरु बन बैठे। इस प्रकार चारों ओर सच्चे गुरुओं का अभाव हो गया। दसवें तीर्थङ्कर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ तक असंयतियों की महती पूजा हुई थी।

सर्वदा काल संयतियों की ही पूजा होती है और वे ही पूजा और सत्कार के योग्य हैं, किन्तु इस अवसर्पिणी में असंयतियों की पूजा हुई थी। अतः यह भी अच्छेरा माना जाता है।

अनन्त काल में इस अवसर्पिणी में ये दस अच्छेरे हुए हैं। इसी लिए इस अवसर्पिणी को हुण्डावसर्पिणी काल कहते हैं।

कौनसे तीर्थङ्कर के समय में कितने अच्छेरे हुए थे यह यहाँ बतलाया जाता है—

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में एक यानी एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ व्यक्तियों का सिद्ध होना। दसवें तीर्थङ्कर श्री शीतलनाथ स्वामी के समय में एक अर्थात् हरिवंशोत्पत्ति। उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ स्वामी के समय एक यानी स्त्रीतीर्थ। बाईसवें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ भगवान् के समय एक अर्थात् कृष्ण वासुदेव का अपरकङ्का गमन। चौवीसवें तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी के समय में पाँच अर्थात् (१) उपसर्ग (२) गर्भहरण (३) चमरोत्पात (४) अभव्या परिषद् (५) चन्द्रसूर्य्यावतरण। ये पाँच आश्चर्य्य भगवान् महावीर स्वामी के समय में क्रम से हुए थे।

नवें तीर्थङ्कर भगवान् सुविधिनाथ के समय तीर्थ के उच्छेद से होने वाली असंयतों की पूजा रूप एक अच्छेरा हुआ। इस प्रकार असंयतों की पूजा भगवान् सुविधिनाथ के समय प्रारम्भ हुई थी इसी लिये यह अच्छेरा उन्हीं के समय में माना जाता है। वास्तव में नवें तीर्थङ्कर से लेकर सोलहवें भगवान् शान्तिनाथ तक बीच के सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद और असंयतों

(९) अष्टशत सिद्धा– एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ जीवों का सिद्ध होना। इस भरतक्षेत्र में और इसी अवसर्पिणी के अन्दर प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देव स्वामी के निर्वाण समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले व्यक्ति एक समय में एक सौ आठ मोक्ष गये। यह भी एक अच्छेरा है। यह अच्छेरा उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा समझना चाहिए क्योंकि उत्कृष्ट अवगाहना वाले प्राणी एक समय में एक सौ आठ सिद्ध नहीं होते, किन्तु भगवान् ऋषभदेव स्वामी के साथ एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक सौ आठ व्यक्ति सिद्ध हुए थे। मध्यम अवगाहना वाले व्यक्ति एक समय में १०८ सिद्ध होने वाले अनेक हैं। अतः यह अच्छेरा उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा है।

(१०) असंयत पूजा– इस अवसर्पिणी काल के अन्दर नवें भगवान् सुविधिनाथ स्वामी के मोक्ष चले जाने पर कुछ समय के बाद पंच महाव्रतधारी साधुओं का बिल्कुल अभाव हो गया था। तब धर्म मार्ग से अनभिज्ञ प्राणी वृद्ध श्रावकों से धर्म का मार्ग पूछने लगे। उन श्रावकों ने उनसे अपनी बुद्धि अनुसार धर्म का कथन किया। श्रावकों द्वारा कथन किए गए धर्म के तत्त्व को जान कर वे लोग बहुत खुश हुए और धन वस्त्र आदि से उन श्रावकों की पूजा करने लगे। इस प्रकार अपनी पूजा प्रतिष्ठा होती हुई देख वे श्रावक अति गर्वोन्मत्त हो गये और अपने मन कल्पित शास्त्र बना कर धर्मानभिज्ञ लोगों को इस प्रकार उपदेश देने लगे कि सोना, चांदी, गौ, कन्या, गज (हाथी), अश्व (घोड़ा) आदि हम लोगों को भेंट करने से इस लोक तथा परलोक में महान् फल की प्राप्ति होती है। सिर्फ हम लोग ही दान के पात्र हैं। दूसरे सब अपात्र हैं। इस प्रकार उपदेश करते हुए लोगों को धर्म के नाम से ठगने लगे और

सच्चे गुरुओं के अभाव में वे ही गुरु बन बैठे। इस प्रकार चारों ओर सच्चे गुरुओं का अभाव हो गया। दसवें तीर्थङ्कर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ तक असंयतियों की महती पूजा हुई थी।

सर्वदा काल संयतियों की ही पूजा होती है और वे ही पूजा और सत्कार के योग्य हैं, किन्तु इस अवसर्पिणी में असंयतियों की पूजा हुई थी। अतः यह भी अच्छेरा माना जाता है।

अनन्त काल में इस अवसर्पिणी में ये दस अच्छेरे हुए हैं। इसी लिए इस अवसर्पिणी को हुण्डावसर्पिणी काल कहते हैं।

कौनसे तीर्थङ्कर के समय में कितने अच्छेरे हुए थे यह यहाँ बतलाया जाता है—

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में एक यानी एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ व्यक्तियों का सिद्ध होना। दसवें तीर्थङ्कर श्री शीतलनाथ स्वामी के समय में एक अर्थात् हरिवंशोत्पत्ति। उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ स्वामी के समय एक यानी स्त्रीतीर्थ। बाईसवें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ भगवान् के समय एक अर्थात् कृष्ण वासुदेव का अपरकङ्का गमन। चौबीसवें तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी के समय में पाँच अर्थात् (१) उपसर्ग (२) गर्भहरण (३) चमरोत्पात (४) अभव्या परिषद् (५) चन्द्रसूर्य्यावतरण। ये पाँच आश्चर्य्य भगवान् महावीर स्वामी के समय में क्रम से हुए थे।

नवें तीर्थङ्कर भगवान् सुविधिनाथ के समय तीर्थ के उच्छेद से होने वाली असंयतों की पूजा रूप एक अच्छेरा हुआ। इस प्रकार असंयतों की पूजा भगवान् सुविधिनाथ के समय प्रारम्भ हुई थी इसी लिये यह अच्छेरा उन्हीं के समय में माना जाता है। वास्तव में नवें तीर्थङ्कर से लेकर सोलहवें भगवान् शान्तिनाथ तक बीच के सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद और असंयतों

की पूजा हुई थी। भगवान् ऋषभदेव आदि के समय मरीचि कपिल आदि असंयतों की पूजा तीर्थ के रहते हुई थी इस लिए उसे अच्छेरे में नहीं गिना जाता।

उपरोक्त दस बातें इस अवसर्पिणी में अनन्त काल में हुई थीं। अतः ये दस ही इस हुण्डावसर्पिणी में अच्छेरे माने जाते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७७७) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १३८)

६८२- विच्छिन्न (विच्छेद प्राप्त) बोल दस

श्री जम्बूस्वामी के मोक्ष पधारने के बाद भरतक्षेत्र से दस बातों का विच्छेद होगया। वे ये हैं-

(१) मनःपर्यय ज्ञान (२) परमावधिज्ञान (३) पुलाकलब्धि (४) आहारक शरीर (५) क्षपक श्रेणी (६) उपशम श्रेणी (७) जिनकल्प (८) चारित्र त्रय अर्थात्- परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र (९) केवली (१०) निर्वाण (मोक्ष)

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २५९३)

६८३- दीक्षा लेने वाले दस चक्रवर्ती राजा

दस चक्रवर्ती राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर आत्मकल्याण किया। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) भरत (२) सागर (३) मघवान् (४) सनत्कुमार (५) शान्तिनाथ (६) कुन्थुनाथ (७) अरनाथ (८) महापद्म (९) हरिषेण (१०) जयसेन।

(ठाणांग मूल, सूत्र ७१८)

६८४- श्रावक के दस लक्षण

दृढ श्रद्धा को धारण करने वाला, जिनवाणी को सुनने वाला दान देने वाला, कर्म खपाने के लिए प्रयत्न करने वाला और देश व्रतों को धारण करने वाला श्रावक कहा जाता है। उस में नीचे लिखी दस बातें होती हैं-

(१) श्रावक जीवाजीवादि नौ तत्त्वों का ज्ञाता होता है।

(२) देवता की भी सहायता नहीं चाहता, अर्थात् किसी कार्य्य में दूसरे की आशा पर निर्भर नहीं रहता है।
(३) श्रावक धर्म कार्य्य एवं निर्ग्रन्थ प्रवचनों में इतना दृढ़ तथा चुस्त होता है कि देव, असुर, नागकुमार, ज्योतिष्क, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, महोरग, गन्धर्व इत्यादि कोई भी उसको निर्ग्रन्थ प्रवचनों से विचलित करने में समर्थ नहीं हो सकता।
(४) श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों में शंका कांक्षा विचिकित्सा आदि समकित के दोषों से रहित होता है।
(५) श्रावक शास्त्रों के अर्थ को बड़ी कुशलता पूर्वक ग्रहण करने वाला होता है। शास्त्रों के अर्थों में सन्देह वाले स्थानों का भली प्रकार निर्णय करके और शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को जान कर श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर अटूट प्रेम वाला होता है। उसका हाड़ और हाड़ की मिंजा (मज्जा), जीव और जीव के प्रदेश धर्म के प्रेम एवं अनुराग से रंगे हुए होते हैं।
(६) ये निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ (सार) है, ये ही परमार्थ हैं, बाकी संसार के सारे कार्य्य अनर्थ रूप हैं। आत्मा के लिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही हितकारी एवं कल्याणकारी हैं। शेष संसार के सारे कार्य्य आत्मा के लिए अहितकर एवं अकल्याणकारी हैं। ऐसा जान कर श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर दृढ भक्ति एवं श्रद्धा वाला होता है।

(७) श्रावक के घर के दरवाजे की अर्गला हमेशा ऊँची ही रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक की इतनी उदारता होती है कि उसके घर का दरवाजा हमेशा साधु, साध्वी, श्रमण, माहण आदि सब को दान देने के लिए खुला रहता है। श्रावक साधु साध्वी को दान देने की भावना सदा भाता रहता है।
(८) श्रावक ऐसा विश्वास पात्र होता है कि वह किसी के

घर जाय या राजा के अन्तःपुर में भी चला जाय फिर भी किसी को किसी प्रकार की शंका व अप्रतीति उत्पन्न नहीं होती।

(९) श्रावक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण प्रत्याख्यान आदि का सम्यक् पालन करता हुआ अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा को पौषधोपवास कर सम्यक् प्रकार से धर्म की आराधना करता है।

(१०) श्रावक श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्दोष, प्रासुक तथा एषणीय आहार, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पीठ, फलक (पाटिया), शय्या, संस्तारक, औषध, भेषज चौदह प्रकार का दान देता हुआ और अपनी आत्मा को धर्म ध्यान में प्रवृत्त करता हुआ रहता है। (भगवती शतक २ उद्देशा ५)

६८५- श्रावक दस

सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों को धारण करने वाला प्रति दिन पञ्च महाव्रतधारी साधुओं के पास शास्त्र श्रवण करने वाला श्रावक कहलाता है। अथवा-

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं।
दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं।
तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

अर्थात्- वीतराग प्ररूपित तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा रखने वाला, जिनवाणी को सुनने वाला, पुण्य मार्ग में द्रव्य का व्यय करने वाला, सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला, पाप को छेदन करने वाला देशविरति श्रावक कहलाता है। भगवान् महावीर स्वामी के मुख्य श्रावक दस हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) आनन्द (२) कामदेव (३) चुलनीपिता (४) सुरादेव (५) चुल्लशतक (६) कुण्डकोलिक (७) सद्दालपुत्त (सकडालपुत्र)

(८) महाशतक (९) नन्दिनीपिता (१०) सालिहिपिया (शालेयिका पिता)। इन सब का वर्णन उपासकदशांग सूत्र में है। उसके अनुसार यहाँ दिया जाता है।

(१) आनन्द श्रावक– इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भारतभूमि का भूषणरूप वाणिज्य नाम का एक ग्राम था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में आनन्द नाम का एक सेठ रहता था। कुबेर के समान वह ऋद्धि सम्पत्तिशाली था। नगर में वह मान्य एवं प्रतिष्ठित सेठ था। प्रत्येक कार्य्य में लोग उसकी सलाह लिया करते थे। शील सदाचारादि गुणों से शोभित शिवानन्दा नाम की उसकी पत्नी थी। आनन्द के पास चार करोड़ (कोटि) सोनैया निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार करोड़ सोनैये का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार करोड़ सोनैये से व्यापार किया जाता था। गायों के चार गोकुल (एक गोकुल में दस हजार गायें होती हैं) थे। वह धर्मिष्ठ और न्याय से व्यापार चलाने वाला तथा सत्यवादी था। इसलिए राजा भी उसका बहुत मान करता था। उसके पाँच सौ गाड़े व्यापार के लिए विदेश में फिरते रहते थे और पाँच सौ घास वगैरह लाने के लिए नियुक्त किये हुए थे। समुद्र में व्यापार करने के लिए चार बड़े जहाज थे। इस ऋद्धि से सम्पन्न आनन्द श्रावक अपनी पत्नी शिवानन्दा के साथ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वाणिज्यग्राम के बाहर उद्यान में पधारे। देवताओं ने भगवान् के समवसरण की रचना की। भगवान् के पधारने की सूचना मिलते ही जनता वन्दना के लिये गई। जितशत्रु राजा भी बड़ी धूमधाम और उत्साह के साथ भगवान् को वन्दना करने के लिये गया। खबर पाने पर आनन्द

इस प्रकार विचार करने लगा कि अहो ! आज मेरा सद्भाग्य है। भगवान् का नाम ही पवित्र एवं कल्याणकारी है तो उनके दर्शन का तो कहना ही क्या ? ऐसा विचारकर उसने शीघ्र ही स्नान, किया, सभा में जाने योग्य शुद्ध वस्त्र पहने, अल्प भार और बहुमूल्य वाले आभूषण पहने। वाणियाग्राम नगर के बीच में से होता हुआ आनन्द सेठ द्युतिपलाश उद्यान में, जहाँ भगवान् विराजमान थे, आया। तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना नमस्कार कर बैठ गया। भगवान् ने धर्मोपदेश फरमाया। धर्मोपदेश सुन कर जनता वापिस चली गई किन्तु आनन्द वहीं पर बैठा रहा। हाथ जोड़ कर विनय पूर्वक भगवान् से अर्ज करने लगा कि हे भगवन् ! ये निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे विशेष रुचिकर हुए हैं। आपके पास जिस तरह बहुत से राजा, महाराजा, सेठ, सेनापति, तलवर, कौटुम्बिक, माडम्बिक, सार्थवाह आदि प्रव्रज्या अङ्गीकार करते हैं उस तरह प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो मैं असमर्थ हूँ। मैं आपके पास श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार करना चाहता हूँ। भगवान् ने फरमाया कि जिस तरह तुम्हें सुख हो वैसा कार्य करो किन्तु धर्म कार्य में विलम्ब मत करो।

इसके बाद आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास निम्न प्रकार से व्रत अङ्गीकार किए।

दो करण तीन योग से स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान का त्याग किया। चौथे व्रत में स्वदार संतोष व्रत की मर्यादा की और एक शिवानन्दा भार्या के सिवाय बाकी दूसरी सब स्त्रियों के साथ मैथुन का त्याग किया। पाँचवें व्रत में धन, धान्यादि की मर्यादा की। बारह करोड़ सौनेया, गायों के चार गोकुल, पाँच सौ हल और पाँच सौ हलों से जोती जाने वाली भूमि, हजार गाड़े और चार बड़े जहाज के उपरान्त

परिग्रह रखने का नियम लिया। रात्रिभोजन का त्याग किया।

सातवें व्रत में उपभोग परिभोग की मर्यादा की जाती है। एक ही वार भोग करने योग्य भोजन, पानी आदि पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। बारबार भोगे जाने वाले वस्त्र, आभूषण और स्त्री आदि पदार्थ परिभोग कहलाते हैं। इन दोनों का परिमाण नियत करना उपभोग परिभोग व्रत कहलाता है। यह व्रत दो प्रकार का है एक भोजन से और दूसरा कर्म से।

उपभोग करने योग्य भोजन और पानी आदि पदार्थों का तथा परिभोग करने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना अर्थात् अमुक अमुक वस्तु को ही मैं अपने उपभोग परिभोग में लूँगा, इन से भिन्न पदार्थों को नहीं, ऐसी संख्या नियत करना भोजन से उपभोग परिभोग व्रत है। उपरोक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्योग धन्धों का परिमाण करना अर्थात् अमुक अमुक उद्योग धन्धों से ही मैं इन वस्तुओं का उपार्जन करूँगा दूसरे कार्यों से नहीं, यह कर्म से उपभोग परिभोग व्रत कहलाता है। आनन्द श्रावक ने निम्न प्रकार से मर्यादा की–

(१) उल्लणियाविहि– स्नान करने के पश्चात् शरीर को पोंछने के लिए गमछा (टुवाल) आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने गन्धकापायित (गन्ध प्रधान लाल वस्त्र) का नियम किया था।

(२) दन्तवणविहि– दाँत साफ करने के लिए दाँतुन का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने हरी मुलहटी का नियम किया था।

(३) फलविहि– स्नान करने के पहले शिर धोने के लिए आंवला आदि फलों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने जिस में गुठली उत्पन्न न हुई हो ऐसे आंवलों का नियम किया था।

(४) अब्भंगणविहि– शरीर पर मालिश करने योग्य तेल आदि का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने शतपाक (सौ

औषधियाँ डाल कर बनाया हुआ) और सहस्रपाक (हजार औषधियाँ डाल कर बनाया हुआ) तेल रखा था।

(५) उव्वट्टणविहि- शरीर पर लगाए हुए तेल को सुखाने के लिए पीठी आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कमलों के पराग आदि से सुगन्धित पदार्थ का परिमाण किया था।

(६) मज्जणविहि- स्नानों की संख्या तथा स्नान करने के लिए जल का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने स्नान के लिए आठ घड़े जल का परिमाण किया था।

(७) वत्थविहि- पहनने योग्य वस्त्रों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कपास से बने हुए दो वस्त्रों का नियम किया था।

(८) विलेवणविहि- स्नान करने के पश्चात् शरीर में लेपन करने योग्य चन्दन, केशर आदि सुगन्धित द्रव्यों का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने अगुरु (एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य विशेष), कुंकुम, चन्दन आदि द्रव्यों की मर्यादा की थी।

(८) पुप्फविहि- फूलमाला आदि का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने शुद्ध कमल और मालती के फूलों की माला पहनने की मर्यादा की थी।

(१०) आभरणविहि- गहने, जेवर आदि का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने कानों के श्वेत कुण्डल और स्वनामाङ्कित (जिस पर अपना नाम खुदा हुआ हो ऐसी) मुद्रिका (अंगूठी) धारण करने का परिमाण किया था।

(११) धूवविहि- धूप देने योग्य पदार्थों का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने अगर और लोबान आदि का परिमाण किया था।

(१२) भोयणविहि- भोजन का परिमाण करना।

(१३) पेज्जविहि- पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने मूँग की दाल और घी में भुने हुए चावलों

की राब की मर्यादा की थी।
(१४) भक्खविहि– खाने के लिए पक्वान्न की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने घृतपूर (घेवर) और खांड से लिप्त खाजे का परिमाण किया था।
(१५) ओदणविहि– क्षुधा निवृत्ति के लिए चावल आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कमोद चावल का परिमाण किया था।
(१६) सूवविहि– दाल का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने मटर, मूँग और उड़द की दाल का परिमाण किया था।
(१७) घय विहि– घृत का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने गायों के शरद ऋतु में उत्पन्न घी का नियम किया था।
(१८) सागविहि– शाक भाजी का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने वथुआ, चूचू (सुत्थिय) और मण्डुकी शाक का परिमाण किया था। चूचू और मण्डुकी उस समय में प्रसिद्ध कोई शाक विशेष हैं।
(१९) माहुरयविहि– पके हुए फलों का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने पालङ्ग (वेल फल) फल का परिमाण किया था।
(२०) जेमणविहि– वड़ा, पकौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने तेल आदि में तलने के बाद छाछ, दही और कांजी आदि खट्टी चीजों में भिगोये हुए मूंग आदि की दाल से बने हुए बड़े और पकौड़ी आदि का परिमाण किया था। आज कल इसी को दही वड़ा, कांजी वड़ा और दालिया आदि कहते हैं।
(२१) पाणियविहि– पीने के लिए पानी की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने आकाश से गिरे हुए और तत्काल (टांकी आदि में) ग्रहण किए हुए जल की मर्यादा की थी।

औषधियाँ डाल कर बनाया हुआ) और सहस्रपाक (हजार औषधियाँ डाल कर बनाया हुआ) तेल रखा था।

(५) उव्वट्टणविहि– शरीर पर लगाए हुए तेल को सुखाने के लिए पीठी आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कमलों के पराग आदि से सुगन्धित पदार्थ का परिमाण किया था।

(६) मज्जणविहि– स्नानों की संख्या तथा स्नान करने के लिए जल का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने स्नान के लिए आठ घड़े जल का परिमाण किया था।

(७) वत्थविहि– पहनने योग्य वस्त्रों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कपास से बने हुए दो वस्त्रों का नियम किया था।

(८) विलेवणविहि– स्नान करने के पश्चात् शरीर में लेपन करने योग्य चन्दन, केशर आदि सुगन्धित द्रव्यों का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने अगुरु (एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य विशेष), कुंकुम, चन्दन आदि द्रव्यों की मर्यादा की थी।

(८) पुप्फविहि–फूलमाला आदि का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने शुद्ध कमल और मालती के फूलों की माला पहनने की मर्यादा की थी।

(१०) आभरणविहि– गहने, जेवर आदि का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने कानों के श्वेत कुण्डल और स्वनामाङ्कित (जिस पर अपना नाम खुदा हुआ हो ऐसी) मुद्रिका (अंगूठी) धारण करने का परिमाण किया था।

(११) धूवविहि– धूप देने योग्य पदार्थों का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने अगर और लोबान आदि का परिमाण किया था।

(१२) भोयणविहि– भोजन का परिमाण करना।

(१३) पेज्जविहि– पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने मूँग की दाल और घी में भुने हुए चावलों

की राब की मर्यादा की थी।

(१४) भक्खविहि– खाने के लिए पक्वान्न की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने घृतपूर (घेवर) और खांड से लिप्त खाजे का परिमाण किया था।

(१५) ओदणविहि– क्षुधा निवृत्ति के लिए चावल आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने कमोद चावल का परिमाण किया था।

(१६) सूवविहि– दाल का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने मटर, मूँग और उड़द की दाल का परिमाण किया था।

(१७) घय विहि– घृत का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने गायों के शरद ऋतु में उत्पन्न घी का नियम किया था।

(१८) सागविहि– शाक भाजी का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने वथुआ, चूचू (सुत्थिय) और मण्डुकी शाक का परिमाण किया था। चूचू और मण्डुकी उस समय में प्रसिद्ध कोई शाक विशेष हैं।

(१९) माहुरयविहि– पके हुए फलों का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने पालङ्ग (वेल फल) फल का परिमाण किया था।

(२०) जेमणविहि– वड़ा, पकौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने तेल आदि में तलने के वाद छाछ, दही और कांजी आदि खट्टी चीजों में भिगोये हुए मूंग आदि की दाल से बने हुए वड़े और पकौड़ी आदि का परिमाण किया था। आज कल इसी को दही वड़ा, कांजी वड़ा और दालिया आदि कहते हैं।

(२१) पाणियविहि– पीने के लिए पानी की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने आकाश से गिरे हुए और तत्काल (टांकी आदि में) ग्रहण किए हुए जल की मर्यादा की थी।

(२२) मुहवासविहि- अपने मुख को सुवासित करने के लिए पान और चूर्ण आदि पदार्थों का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने पञ्चसौगन्धिक अर्थात् लौंग, कपूर, कक्कोल (शीतल चीनी), जायफल और इलायची डाले हुए पान का परिमाण किया था।

इस के बाद आनन्द श्रावक ने आठवें अनर्थ दण्ड व्रत को अंगीकार करते समय नीचे लिखे चार कारणों से होने वाले अनर्थदण्ड का त्याग किया-(क) अपध्यानाचरित- आर्तध्यान या रौद्रध्यानके द्वारा अर्थात् दूसरे को नुक्सान पहुँचाने की भावना या शोक चिन्ता आदि के कारण व्यर्थ पाप कर्मों को बाँधना। (ख) प्रमादाचरित-प्रमाद अर्थात् आलस्य या असावधानी से अथवा मद्य, विषय, कषायादि प्रमादों द्वारा अनर्थदण्ड का सेवन करना। (ग) हिंस्रप्रदान- हिंसा करने वाले शस्त्र आदि दूसरे को देना। (घ) पापकर्मोपदेश- जिस में पाप लगता हो ऐसे कार्य का उपदेश देना।

इसके बाद भगवान् ने आनन्द श्रावक से कहा कि हे आनन्द! जीवाजीवादि नौ तत्त्वों के ज्ञाता श्रावक को समकित के पाँच अतिचारों को, जो कि पाताल कलश के समान हैं, जानना चाहिए किन्तु इनका सेवन नहीं करना चाहिए। वे अतिचार ये हैं- संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडप्पसंसा, परपासंड-संथवो। इन पाँच अतिचारों की विस्तृत व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० २८५ में दे दी गई है।

इसके बाद बारह व्रतों के साठ अतिचार बतलाए। उपासक दशाङ्ग सूत्र के अनुसार उन अतिचारों का मूल पाठ यहाँ दिया जाता है-

(१) तयाणन्तरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा,

तंजहा- बन्धे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवोच्छेए। (२) तयाणन्तरं च णं थूलगस्स मुसावाय वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-सहसाअब्भक्खाणे रहसा-अब्भक्खाणे सदारमन्तभेए मोसोवएसे कूडलेहकरणे। (३) तयाणन्तरं च णं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा- तेणाहडे तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइक्कमे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे। (४)तयाणन्तरं च णं सदारसन्तोसिए पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा- इत्तरियपरिग्गहियागमणे अपरिग्गहियागमणे अणङ्गकीड़ा परविवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे। (५) तयाणन्तरं च णं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा- खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे धणधन्नपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे। (६) तयाणन्तरं च णं दिसिवयस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा- उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे खेत्तवुड्ढी सइअन्तरद्धा। (७) तयाणन्तरं च णं उवभोगपरिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा- भोयणओ य कम्मओ य, तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस* कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं, तंजहा- इङ्गालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दन्तवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जन्तपीलणकम्मे निल्लञ्छणकम्मे

* पन्द्रह कर्मादानों की व्याख्या पन्द्रहवें बोल संग्रह में दी जायगी।

दवग्गिदावणया सरदहतलायसोसणया असईजणपोसणया। (८) तयाणन्तरं च णं अणट्ठादण्डवेरमणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा–कन्दप्पे कुक्कुइए मोहरिए सञ्जुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरित्ते। (९) तयाणन्तरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-मणदुप्पणिहाणे वयदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया। (१०) तयाणन्तरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा–आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहिया पोग्गलपक्खेवे। (११) तयाणन्तरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा–अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारे अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमी अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चार पासवणभूमी पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया। (१२) तयाणन्तरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा सचित्त निक्खेवणया सचित्त पिहणया कालाइक्कम्मे परववदेसे मच्छरिया। तयाणन्तरं च णं अपच्छिम मारणन्तिय संलेहणा झूसणाराहणाए पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा–इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे मरणासंसप्पओगे कामभोगासंसप्पओगे।

बारह व्रतों के ६० अतिचारों की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० ३०१ से ३१२ तक में और संलेखना के पाँच अतिचारों की व्याख्या बोल नं० ३१३ में दे दी गई है।

भगवान् के पास श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर आनन्द

श्रावक ने भगवान् को वन्दना नमस्कार किया और इस प्रकार अर्ज करने लगा कि भगवन्! मैंने आपके पास अब शुद्ध सम्यक्त्व धारण की है इसलिए मुझे अब निम्न लिखित कार्य्य करने नहीं कल्पते–अन्यतीर्थिक, अन्यतीर्थियों के माने हुए देव, साधु* आदि को वन्दना नमस्कार करना, उनके बिना बुलाये पहिले अपनी तरफ से बोलना, आलाप संलाप करना और गुरुबुद्धि से उन्हें अशन पान आदि देना। यहाँ पर जो अशनादि दान का निषेध किया गया है सो गुरुबुद्धि की अपेक्षा से है अर्थात् सम्यक्त्व धारी पुरुष अन्यतीर्थिकों (अन्य मतावलम्बियों) द्वारा माने हुए गुरु आदि को एकान्त निर्जरा के लिए अशनादि नहीं देता। इस का अर्थ करुणा दान (अनुकम्पा दान) का निषेध नहीं है, क्योंकि विपत्ति में पड़े हुए दीन दुखी प्राणियों पर करुणा (अनुकम्पा) करके दान आदि के द्वारा उनकी सहायता करना श्रावक अपना कर्तव्य समझता है।

सम्यक्त्वधारी पुरुष अन्यतीर्थिकों द्वारा पूजित देव आदि को वन्दना नमस्कार आदि नहीं करता यह उत्सर्ग मार्ग है। अपवाद मार्ग में इस विषय के ६ आगार कहे गये हैं–

(१) राजाभियोग (२) गणाभियोग (३) बलाभियोग (४) देवाभियोग (५) गुरुनिग्रह (६) वृत्तिकान्तार।

इन छः आगारों की विशेष व्याख्या इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह के बोल नं० ४५५ में दी गई है।

आनन्द श्रावक ने भगवान् से फिर अर्ज किया कि हे भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय आहार, पानी, वस्त्र, पात्रादि देना मुझे कल्पता है। तत्पश्चात् आनन्द श्रावक ने बहुत से प्रश्नोत्तर किये और भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वापिस

* इस विषय में मूल पाठ का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया जाएगा।

अपने घर आगया। घर आकर अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा से कहने लगा कि हे देवानुप्रिये! मैंने आज श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये हैं। तुम भी जाओ और भगवान् को वन्दना नमस्कार कर श्राविका के बारह व्रत अङ्गीकार करो। शिवानन्दा ने अपने स्वामी के कथनानुसार भगवान् के पास जाकर बारह व्रत अङ्गीकार किये और श्रमणोपासिका बनी।

श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने फरमाया कि आनन्द श्रावक मेरे पास दीक्षा नहीं लेगा किन्तु बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन कर सौधर्म देवलोक के अरुण विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाले देव रूप से उत्पन्न होगा।

आनन्द श्रावक अपनी पत्नी शिवानन्दा भार्या सहित श्रमण निर्ग्रन्थों की सेवा भक्ति करता हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा। एक समय आनन्द श्रावक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास दीक्षा लेने में तो असमर्थ हूँ किन्तु अब मेरे लिए यह उचित है कि ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भला कर एकान्त रूप से धर्मध्यान में समय बिताऊँ। तदनुसार प्रातः काल अपने परिवार के सब पुरुषों के सामने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भला कर आनन्द श्रावक ने पौषध शाला में आकर दर्भ संस्तारक बिछाया और उस पर बैठ कर धर्माराधन करने लगा। इसके पश्चात् आनन्द श्रावक ने श्रावक की ग्यारह पडिमा* धारण कीं और उनका सूत्रानुसार सम्यक् प्रकार से आराधन किया।

इस प्रकार उग्र तप करने से आनन्द श्रावक का शरीर बहुत कृश (दुबला) होगया। तब आनन्द श्रावक ने विचार किया

* श्रावक की ग्यारह पडिमाओं का स्वरूप ग्यारहवें बोल संग्रह में दिया जायगा।

कि जब तक मेरे शरीर में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम हैं और जब तक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गंधहस्ती की तरह विचर रहे हैं तब तक मुझे संलेखना संथारा कर लेना चाहिए। इस प्रकार आनन्द श्रावक संलेखना संथारा कर धर्म ध्यान में समय बिताने लगा। परिणामों की विशुद्धता के कारण और ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम होने से आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न होगया। जिससे पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण समुद्र में पाँच सौ योजन तक और उत्तर में चुल्ल हिमवान् पर्वत तक देखने लगा। ऊपर सौधर्म देवलोक और नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्युत नामक नरकावास को, जहाँ चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिक रहते हैं, जानने और देखने लगा।

इसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधार गये। उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति अनगार (गौतम स्वामी) बेले बेले पारणा करते हुए उनकी सेवा में रहते थे। बेले के पारणे के दिन पहले पहर में स्वाध्याय, दूसरे पहर में ध्यान करके तीसरे पहर में चञ्चलता एवं शीघ्रता रहित सब से प्रथम मुखवस्त्रिका की और बाद में वस्त्र, पात्र आदि की पडिलेहणा की। तत्पश्चात् भगवान् की आज्ञा लेकर वाणियाग्राम नगर में गोचरी के लिए पधारे। ऊँच नीच मध्यम कुल से सामुदानिक भिक्षा करके वापिस लौट रहे थे। उस समय बहुत से मनुष्यों से ऐसा सुना कि आनन्द श्रावक पौषध शाला में संलेखना संथारा करके धर्मध्यान करता हुआ विचरता है। गौतम स्वामी आनन्द श्रावक को देखने के लिए वहाँ गये। गौतम स्वामी के दर्शन कर आनन्द श्रावक अति प्रसन्न हुआ और अर्ज की कि हे भगवन्! मेरी उठने की शक्ति

नहीं है। यदि कृपा कर आप कुछ नजदीक पधारें तो मैं मस्तक से आपके चरण स्पर्श करूँ। गौतम स्वामी के नजदीक पधारने पर आनन्द ने उनके चरण स्पर्श किये और निवेदन किया कि मुझे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे मैं लवण समुद्र में पाँच सौ योजन यावत् नीचे लोलुयच्चुत नरकावास को जानता और देखता हूँ। यह सुन कर गौतम स्वामी ने कहा कि श्रावक को इतने विस्तार वाला अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये हे आनन्द! तुम इस बात के लिए दण्ड प्रायश्चित्त लो। तब आनन्द श्रावक ने कहा कि हे भगवन्! क्या सत्य बात के लिए भी दण्ड प्रायश्चित्त लिया जाता है? गौतम स्वामी ने कहा- नहीं। आनन्द श्रावक ने कहा हे भगवन्! तब तो आप स्वयं दण्ड प्रायश्चित्त लीजियेगा। आनन्द श्रावक के इस कथन को सुन कर गौतम स्वामी के हृदय में शंका उत्पन्न हो गई। अतः भगवान् के पास आकर सारा वृत्तान्त कहा। तब भगवान् ने कहा कि हे गौतम! आनन्द श्रावक का कथन सत्य है इसलिए वापिस जाकर आनन्द श्रावक से क्षमा मांगो और इस बात का दण्ड प्रायश्चित्त लो। भगवान् के कथनानुसार गौतम स्वामी ने आनन्द श्रावक के पास जाकर क्षमा मांगी और दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

आनन्द श्रावक ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया अर्थात् श्रावक के व्रतों का भली प्रकार पालन किया। साठ भक्त अनशन पूर्वक अर्थात् एक महीने का संलेखना संथारा करके समाधि मरण से मर कर सौधर्म देवलोक के अरुण विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।

(२) कामदेव श्रावक- चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य

करता था। नगरी के अन्दर कामदेव नामक एक गाथापति रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम भद्रा था। कामदेव के पास बहुत धन था। छः करोड़ सोनैये उसके खजाने में थे। छः करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और छः करोड़ सोनैये प्रविस्तार (घर का सामान, द्विपद, चतुष्पद आदि) में लगे थे। गायों के छः गोकुल थे जिस में साठ हजार गायें थीं। इस प्रकार वह बहुत ऋद्धिसम्पन्न था। आनन्द श्रावक की तरह वह भी नगर में प्रतिष्ठित एवं राजा और प्रजा सभी के लिए मान्य था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। कामदेव भगवान् के दर्शन करने के लिए गया। आनन्द श्रावक की तरह कामदेव ने भी श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए और धर्मध्यान करता हुआ विचरने लगा। एक दिन वह पौषधशाला में पौषध करके धर्मध्यान में लगा हुआ था। अर्द्ध रात्रि के समय एक मिथ्यादृष्टि देव कामदेव श्रावक के पास आया। उस देव ने एक महान् पिशाच का रूप बनाया। उसने आँख, कान, नाक, हाथ, जंघा आदि ऐसे विशाल, विकृत और भयङ्कर बनाये कि देखने वाला भयभीत हो जाय। मुँह फाड़ रखा था। जीभ बाहर निकाल रखी थी। गले में गिरगट (किरकांटिया) की माला पहन रखी थी। चूहों की माला बना कर कन्धों पर डाल रखी थी। कानों में गहनों की तरह नेवले (नौलिया) पहने हुआ था। सर्पों की माला से उसने अपना वक्षस्थल (छाती) सजा रखा था। हाथ में तलवार लेकर वह पिशाच रूप धारी देव पौषधशाला में बैठे हुए कामदेव के पास आया। अति कुपित होता हुआ और दांतों को किटकिटाता हुआ बोला हे कामदेव! अप्रार्थिक का प्रार्थिक (जिसकी कोई इच्छा नहीं करता ऐसी मृत्यु की इच्छा करने वाला), ह्री (लज्जा), श्री

(कान्ति), धृति (धीरज) और कीर्ति से रहित, तूं धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष की अभिलाषा रखता है। इस लिए हे कामदेव ! तुझे शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत तथा पच्चक्खाण, पौषधोपवास आदि से विचलित होकर उन्हें खण्डित करना और छोड़ना नहीं कल्पता है किन्तु मैं तुझे इनसे विचलित करूँगा। यदि तूं इनसे विचलित नहीं होगा तो इस तलवार की तीक्ष्ण धार से तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दूँगा जिससे आर्त्त ध्यान करता हुआ अकाल में ही जीवन से अलग कर दिया जायगा। पिशाच के ये शब्द सुन कर कामदेव श्रावक को किसी प्रकार का भय, त्रास, उद्वेग, क्षोभ, चञ्चलता और सम्भ्रम न हुआ किन्तु वह निर्भय होकर धर्मध्यान में स्थिर रहा। पिशाच ने दूसरी वार और तीसरी वार भी ऐसा ही कहा किन्तु कामदेव श्रावक किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हुआ। उसे अविचलित देख कर वह पिशाच तलवार से कामदेव के शरीर के टुकड़े टुकड़े करने लगा। कामदेव इस असह्य और तीव्र वेदना को समभाव पूर्वक सहन करता रहा। कामदेव को निर्ग्रन्थ प्रवचनों से अविचलित देख कर वह पिशाच अति कुपित होकर उसे कोसता हुआ पौषधशाला से वाहर निकला। पिशाच का रूप छोड़ कर उसने एक भयङ्कर और मदोन्मत्त हाथी का रूप धारण किया। पौषधशाला में आकर कामदेव श्रावक को अपनी सूँड में उठा कर ऊपर आकाश में फेंक दिया। आकाश से वापिस गिरते हुए कामदेव को अपने तीखे दाँतों पर झेल लिया। फिर जमीन पर पटक कर पैरों से तीन वार रोंदा (मसला)। इस असह्य वेदना को भी कामदेव ने सहन किया। वह जब जरा भी विचलित न हुआ तब पिशाच ने एक भयङ्कर महाकाय सर्प का रूप धारण किया। सर्प बन कर वह कामदेव के शरीर पर चढ़ गया। गर्दन को तीन घेरों से लपेट कर

छाती में डंक मारा। इतने पर भी कामदेव निर्भय होकर धर्म-ध्यान में दृढ रहा। उसके परिणामों में जरा भी फरक नहीं आया। तब वह पिशाच हार गया, दुखी तथा बहुत खिन्न हुआ। धीरे धीरे पीछे लौट कर पौषधशाला से बाहर निकला। सर्प के रूप को छोड़ कर अपना असली देव का दिव्य रूप धारण किया। पौषधशाला में आकर कामदेव श्रावक से इस प्रकार कहने लगा—अहो कामदेव श्रमणोपासक! तुम धन्य हो, कृतपुण्य हो, तुम्हारा जन्म सफल है। निर्ग्रन्थ प्रवचनों में तुम्हारी दृढ श्रद्धा और भक्ति है। हे देवानुप्रिय! एक समय शक्रेन्द्र ने अपने सिंहासन पर बैठ कर चौरासी हजार सामानिक देव तथा अन्य बहुत से देव और देवियों के सामने ऐसा कहा कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में कामदेव नामक एक श्रमणो-पासक रहता है। आज वह अपनी पौषधशाला में पौषध करके डाभ के संथारे पर बैठा हुआ धर्मध्यान में तल्लीन है। किसी देव, दानव और गन्धर्व में ऐसा सामर्थ्य नहीं है जो कामदेव श्रावक को निर्ग्रन्थ प्रवचनों से डिगा सके और उसके चित्त को चञ्चल कर सके। शक्रेन्द्र के इस कथन पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। इस लिये तुम्हारी परीक्षा करने के लिये मैं यहाँ आया और तुम्हें अनेक प्रकार के परिषह उपसर्ग उत्पन्न कर कष्ट पहुँचाया, किन्तु तुम जरा भी विचलित न हुए। शक्रेन्द्र ने तुम्हारी दृढता की जैसी प्रशंसा की थी वास्तव में तुम वैसे ही हो। मैंने जो तुम्हें कष्ट पहुँचाया उसके लिये मैं क्षमा की प्रार्थना करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिये। आप क्षमा करने के योग्य हैं। अब मैं आगे से कभी ऐसा काम नहीं करूँगा। ऐसा कह कर वह देव दोनों हाथ जोड़ कर कामदेव श्रावक के पैरों में गिर पड़ा। इस प्रकार अपने अपराध की क्षमा याचना कर वह देव

अपने स्थान को चला गया। उपसर्ग रहित होकर कामदेव श्रावक ने पडिमा (कायोत्सर्ग) को पारा अर्थात् खोला।

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। कामदेव श्रावक को जब इस बात की सूचना मिली तो उसने विचार किया कि जब भगवान् यहाँ पर पधारे हैं तो मेरे लिए यह श्रेष्ठ है कि भगवान् को वन्दना नमस्कार करके वहाँ से वापिस लौटने के बाद मैं पौषध पारूँ और आहार, पानी ग्रहण करूँ। ऐसा विचार कर सभा के योग्य वस्त्र पहन कर कामदेव श्रावक भगवान् के पास पहुँचा और शंख श्रावक *की तरह भगवान् की पर्युपासना करने लगा। धर्म कथा समाप्त होने पर भगवान् ने रात्रि के अन्दर पौषधशाला में बैठे हुए कामदेव को देव द्वारा दिये गये पिशाच, हाथी और सर्प के तीन उपसर्गों का वर्णन किया और श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को सम्बोधित करके फरमाने लगे कि हे आर्यो! जब घर में रहने वाले गृहस्थ श्रावक भी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं और धर्मध्यान में दृढ रहते हैं तो द्वादशाङ्ग गणिपिटक के धारक श्रमण निर्ग्रन्थों को तो ऐसे उपसर्ग सहन करने के लिए सदा तत्पर रहना ही चाहिए। भगवान् की इस बात को सब श्रमण निर्ग्रन्थों ने विनय पूर्वक स्वीकार किया।

कामदेव श्रावक ने भी भगवान् से बहुत से प्रश्न पूछे और उनका अर्थ ग्रहण किया। अर्थ ग्रहण कर हर्षित होता हुआ कामदेव श्रावक अपने घर आया। इधर भगवान् भी चम्पा नगरी से विहार कर ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

कामदेव श्रावक ने ग्यारह पडिमाओं का भली प्रकार पालन किया। बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का पालन कर संलेखना संथारा

* शंख श्रावक का वर्णन इसी भाग के बोल नं० ६२४ में है।

किया । साठ भक्त अनशन को पूरा कर अर्थात् एक मास की संलेखना कर समाधि मरण को प्राप्त हुआ और सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुणाभ नामक विमान में उत्पन्न हुआ । वहाँ चार पल्योपम की स्थिति को पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और उसी भव में सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त होकर सब दुःखों का अन्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा ।

(३) चुलनीपिता श्रावक– वाराणसी (बनारस) नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था । उसी नगरी में चुलनीपिता नाम का एक गाथापति रहता था । वह सब तरह से सम्पन्न और अपरिभूत था । उसके श्यामा नाम की धर्मपत्नी थी । चुलनीपिता के पास बहुत ऋद्धि थी । आठ करोड़ सोनैये खजाने में रखे हुए थे, आठ करोड़ व्यापार में और आठ करोड़ प्रविस्तार (धन्य धान्यादि) में लगे हुए थे । दस हजार गायों के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् उसके पास कुल अस्सी हजार गायें थीं । वह उस नगर में आनन्द श्रावक की तरह प्रतिष्ठित एवं मान्य था । एक समय भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे । वह भगवान् को वन्दना नमस्कार करने गया और कामदेव श्रावक की तरह उसने भी श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये । एक समय पौषधोपवास कर पौषधशाला में बैठा हुआ धर्मध्यान कर रहा था । अर्द्ध रात्रि के समय उसके सामने एक देव प्रकट हुआ और कहने लगा कि यदि तू अपने व्रत नियमादि को नहीं भांगेगा तो मैं तेरे बड़े लड़के को यहाँ लाकर तेरे सामने उसकी घात करूँगा, फिर उसके तीन टुकड़े करके उबलते हुए गर्म तैल की कड़ाही में डालूँगा और फिर उसका मांस और खून तेरे शरीर पर छिड़कूँगा जिससे

एक समय सुरादेव पौषध करके पौषधशाला में बैठा हुआ धर्मध्यान में तल्लीन था। अर्द्ध रात्रि के समय उसके सामने एक देव प्रकट हुआ और सुरादेव से बोला कि यदि तू अपने व्रत नियमादि को नहीं तोड़ेगा तो मैं तेरे बड़े बेटे को मार कर उसके शरीर के पाँच टुकड़े करके उबलते हुए तेल की कड़ाही में डाल दूंगा और फिर उसके मांस और खून से तेरे शरीर को सींचूँगा जिससे तूं आर्त्तध्यान करता हुआ अकालमरण प्राप्त करेगा। इसी प्रकार मझले और छोटे लड़के के लिए भी कहा और वैसा ही किया किन्तु सुरादेव जरा भी विचलित न हुआ। प्रत्युत उस असह्य वेदना को सहन करता रहा। सुरादेव श्रावक को अविचलित देख कर वह देव इस प्रकार कहने लगा कि हे अनिष्ट के कामी सुरादेव! यदि तू अपने व्रतनियमादि को भङ्ग नहीं करेगा तो मैं तेरे शरीर में एक ही साथ (१) श्वास (२) कास (३) ज्वर (४) दाह (५) कुक्षिशूल (६) भगन्दर (७) अर्श (बवासीर) (८) अजीर्ण (९) दृष्टिरोग (१०) मस्तकशूल (११) अरुचि (१२) अक्षिवेदना (१३) कर्णवेदना (१४) खुजली (१५) पेट का रोग और (१६) कोढ़, ये सोलह रोग डाल दूंगा जिससे तू तड़प तड़प कर अकाल में ही प्राण छोड़ देगा।

इतना कहने पर भी सुरादेव श्रावक भयभीत न हुआ। तब देव ने दूसरी बार और तीसरी बार भी ऐसा ही कहा। तब सुरादेव श्रावक को विचार आया कि यह पुरुष अनार्य मालूम होता है। इसे पकड़ लेना ही अच्छा है। ऐसा विचार कर वह उठा किन्तु देव तो आकाश में भाग गया, उसके हाथ में एक खम्भा आ गया जिसे पकड़ कर वह कोलाहल करने लगा। तब उसकी स्त्री धन्या आई और उससे सारा वृत्तान्त सुन कर सुरादेव से कहने लगी कि हे आर्य! आपके तीनों लड़के आनन्द

में हैं। किसी पुरुष ने आपको यह उपसर्ग दिया है। आपके व्रत नियम आदि भङ्ग हो गए हैं अतः आप दण्ड प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो। तब सुरादेव श्रावक ने व्रत नियम आदि भङ्ग होने का दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

अन्तिम समय में संलेखना द्वारा समाधिमरण प्राप्त कर सौधर्म कल्प में अरुण कान्त विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की आयु पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहीं से उसी भव में मोक्ष जायगा।

(५) चुल्ल शतक श्रावक– आलम्भिका नामक नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगरी में चुल्लशतक (क्षुद्रशतक) नाम का एक गाथापति रहता था। वह बड़ा धनाढ्य सेठ था। उसके पास अठारह करोड़ सोनैये थे और गायों के छः गोकुल थे। उसकी भार्या का नाम बहुला था। एक समय श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। चुल्लशतक ने आनन्द श्रावक की तरह श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किए। एक समय वह पौषधशाला में पौषध करके धर्मध्यान में स्थित था। अर्द्धरात्रि के समय एक देवता उसके सामने प्रकट हुआ। हाथ में तलवार लेकर वह चुल्लशतक श्रावक से कहने लगा कि यदि तू अपने व्रत नियमादि का भङ्ग नहीं करेगा तो मैं तेरे बड़े लड़के की तेरे सामने घात करूँगा और उसके सात टुकड़े करके उबलते हुए तेल की कड़ाही में डाल कर खून और मांस से तेरे शरीर को सींचूँगा। इसी तरह दूसरे और तीसरे लड़के के लिए भी कहा और वैसा ही किया किन्तु चुल्लशतक श्रावक धर्मध्यान से विचलित न हुआ तब देव ने उससे कहा कि तेरे अठारह करोड़ सोनैयों को घर से लाकर आलम्भिका नगरी के मार्गों और चौराहों में बिखेर दूंगा। देव ने दूसरी और तीसरी बार भी

इसी तरह कहा तब श्रावक को विचार आया कि यह पुरुष अनार्य है इसे पकड़ लेना चाहिए। ऐसा विचार कर वह सुरादेव श्रावक की तरह उठा। देव के चले जाने से खम्भा हाथ में आगया। तत्पश्चात् उसकी भार्या ने चिल्लाने का कारण पूछा। सब वृत्तान्त सुन कर उसने चुल्लशतक को दण्ड प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। तदनुसार उसने दण्ड प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

अन्त में संलेखना कर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर सौधर्म कल्प में अरुणसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

(६) कुण्डकोलिक श्रावक– कम्पिलपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर में कुण्डकोलिक गाथापति रहता था। उसके पास अठारह करोड़ सोनैये की सम्पत्ति थी और गायों के छः गोकुल थे। वह नगर में प्रतिष्ठित एवं मान्य था। एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। कुण्डकोलिक गाथापति दर्शनार्थ गया और आनन्द श्रावक की तरह उसने भी भगवान् के पास श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किए।

एक समय कुण्डकोलिक श्रावक दोपहर के समय अशोकवन में पृथ्वीशिलापट्ट (पत्थर की चौकी) की ओर आया। स्वनामाङ्कित मुद्रिका और दुपट्टा उतार कर शिला पर रख दिया और धर्मध्यान में लग गया। ऐसे समय में उसके सामने एक देव प्रकट हुआ और उसकी मुद्रिका और दुपट्टा उठा कर आकाश में खड़ा होकर इस प्रकार कहने लगा कि हे कुण्डकोलिक श्रावक! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर (हितकर) है क्योंकि उसके मत में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम कुछ भी नहीं

है। सब पदार्थ नियत हैं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर नहीं है, क्योंकि उसमें उत्थानादि सब कर्म हैं और नियत कुछ भी नहीं है। देव के ऐसा कहने पर कुण्डकोलिक श्रावक ने उससे पूछा कि हे देव ! जैसा तुम कहते हो यदि वैसा ही है तो बतलाओ यह दिव्य ऋद्धि, दिव्य कान्ति और दिव्य देवानुभाव (अलौकिक प्रभाव) तुम्हें कैसे प्राप्त हुए हैं ? क्या विना ही पुरुषार्थ किए ये सब चीजें तुम्हें प्राप्त हो गई हैं ?

देव– हे देवानुप्रिय ! यह दिव्य ऋद्धि, कान्ति आदि सब पदार्थ मुझे पुरुषार्थ एवं पराक्रम किए बिना ही प्राप्त हुए हैं।

कुण्डकोलिक– हे देव ! यदि तुम्हें ये सब पदार्थ विना ही पुरुषार्थ किए मिल गए हैं तो जिन जीवों में उत्थान, पुरुषार्थ आदि नहीं हैं ऐसे वृक्ष, पाषाण आदि देव क्यों नहीं हो जाते अर्थात् जब देवऋद्धि प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवों को देवऋद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि यह ऋद्धि तुम्हें पुरुषार्थ से प्राप्त हुई है तो फिर तुम्हारा यह कहना कि मंखलिपुत्र गोशालक की "उत्थान आदि नहीं हैं। समस्त पदार्थ नियत हैं।" यह धर्मप्रज्ञप्ति अच्छी है और श्रमण भगवान् महावीर की "उत्थान आदि हैं पदार्थ केवल नियत नहीं हैं" यह प्ररूपणा ठीक नहीं है। इत्यादि तुम्हारा कथन मिथ्या है। क्योंकि उत्थान आदि फल की प्राप्ति में कारण हैं। प्रत्येक फल की प्राप्ति के लिए क्रिया की आवश्यकता रहती है।

कुण्डकोलिक श्रावक के इस युक्ति पूर्ण उत्तर को सुन कर उस देव के हृदय में शंका उत्पन्न हो गई कि गोशालक का मत ठीक है या भगवान् महावीर का ? वाद विवाद में पराजित हो जाने के कारण उसे आत्मग्लानि भी पैदा हुई। वह देव कुण्डकोलिक

श्रावक को कुछ भी जवाब देने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए श्रावक की स्वनामाङ्कित मुद्रिका और दुपट्टा जहाँ से उठाया था उसी शिला पट्ट पर रख कर स्वस्थान को चला गया।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधारे। भगवान् का आगमन सुन कुण्डकोलिक बहुत प्रसन्न हुआ और भगवान् के दर्शन करने के लिए गया। भगवान् ने उस देव और कुण्डकोलिक के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए उनका जिक्र कर कुण्डकोलिक से पूछा कि क्या यह बात सत्य है ? कुण्कोलिक ने उत्तर दिया कि भगवन् ! जैसा आप फरमाते हैं वैसी ही घटना मेरे साथ हुई है। तब भगवान् सब श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को बुला कर फरमाने लगे कि गृहस्थावास में रहते हुए गृहस्थ भी अन्ययुथिकों को अर्थ, हेतु, प्रश्न और युक्तियों से निरुत्तर कर सकते हैं तो हे आर्यो! द्वादशांग का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों को तो उन्हें (अन्ययूथिकों को) हेतु और युक्तियों से अवश्य ही निरुत्तर करना चाहिए।

सब श्रमण निर्ग्रन्थों ने भगवान् के इस कथन को विनय के साथ तहत्ति (तथेति) कह कर स्वीकार किया।

कुण्डकोलिक श्रावक को व्रत, नियम, शील आदि का पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत होगये। जब पन्द्रहवां वर्ष बीत रहा था तब एक समय कुण्डकोलिक ने अपने घर का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और आप धर्मध्यान में समय बिताने लगा। सूत्रोक्त विधि से श्रावक की ग्यारह पडिमाओं का आराधन किया। अन्तिम समय में संलेखना कर सौधर्म कल्प के अरुणध्वज विमान में देवपने से उत्पन्न हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जायगा।

(७) सद्दालपुत्र श्रावक- पोलासपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर में सद्दालपुत्र (सकडालपुत्र) नामक एक कुम्हार रहता था। वह आजीविक (गोशालक) मत का अनुयायी था। गोशालक के सिद्धान्तों का प्रेम और अनुराग उसकी रगरग में भरा हुआ था। गोशालक का सिद्धान्त ही अर्थ है, परमार्थ है दूसरे सब अनर्थ हैं, ऐसी उसकी मान्यता थी। सद्दालपुत्र श्रावक के पास तीन करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। दस हजार गायों का एक गोकुल था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। पोलासपुर नगर के बाहर सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानें थीं। जिन पर बहुत से नौकर काम किया करते थे। वे जल भरने के घड़े, छोटी घड़लियाँ, कलश (बड़े बड़े माटे) सुराही कुंजे आदि अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बना कर बेचा करते थे।

एक दिन दोपहर के समय वह अशोक वन में जाकर धर्मध्यान में स्थित था। इसी समय एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। वह कहने लगा कि त्रिकाल ज्ञाता, केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारक, अरिहन्त, जिन, केवली महामाहण कल यहाँ पधारेंगे। अतः उनको वन्दना करना, भक्ति करना तथा पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि के लिए विनति करना तुम्हारे लिए योग्य है। दो तीन बार ऐसा कह कर देव वापिस अपने स्थान को चला गया। देव का कथन सुन कर सद्दालपुत्र विचारने लगा कि मेरे धर्माचार्य्य मंखलिपुत्र गोशालक ही उपरोक्त गुणों से युक्त महामाहण हैं। वे ही कल यहाँ पधारेंगे।

दूसरे दिन प्रातः काल श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। नगर निवासी लोग वन्दना करने के लिये निकले। महामाहण का आगमन सुन सद्दालपुत्र विचारने लगा कि भगवान् महावीर स्वामी यहाँ पधारे हैं तो मैं भी उन्हें वन्दना नमस्कार करने

जाऊँ। ऐसा विचार कर स्नान कर सभा में जाने योग्य वस्त्र पहन कर सहस्राम्रवन उद्यान में भगवान् को वन्दना नमस्कार करने के लिए गया। भगवान् ने धर्मकथा कही। इसके बाद सद्दालपुत्र से उस देव के आगमन की बात पूछी। सद्दालपुत्र ने कहा हाँ भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। कल एक देव ने मेरे से ऐसा ही कहा था। तब भगवान् ने फरमाया कि उस देव ने मंखलिपुत्र गोशालक को लक्षित कर ऐसा नहीं कहा था। भगवान् की बात सुन कर सद्दालपुत्र विचारने लगा कि भगवान् महावीर ही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, महामाहण हैं। पीठ फलक, शय्या, संस्तारक के लिए मुझे इनसे विनति करनी चाहिए। ऐसा विचार कर उसने भगवान् से विनति की कि पोलासपुर नगर के बाहर मेरी पाँच सौ दुकानें हैं। वहाँ से पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक लेकर आप विचरें। भगवान् महावीर ने उसकी प्रार्थना को सुना और यथावसर सद्दालपुत्र की पाँच सौ दूकानों में से पीठ फलक आदि लेकर विचरने लगे।

एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अन्दर की शाला में से गीले मिट्टी के वर्तन निकाल कर सुखाने के लिए धूप में रख रहा था। तब भगवान् ने सद्दालपुत्र से पूछा कि ये वर्तन कैसे बने हैं?

सद्दालपुत्र– भगवन्! पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी में राख आदि मिलाए गए और पानी से भिगो कर वह खूब रोंदी गई। जब मिट्टी वर्तन बनाने के योग्य होगई, तब उसे चाक पर रख कर ये वर्तन बनाए गए हैं।

भगवान्– हे सद्दालपुत्र! ये वर्तन उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार आदि से बने हैं या विना ही उत्थान आदि के बने हैं?

सद्दालपुत्र– ये वर्तन उत्थान पुरुषाकार पराक्रम के विना ही बन गये हैं क्योंकि उत्थानादि तो हैं ही नहीं। सब पदार्थ

नियत (होनहार) से ही होते हैं।
भगवान्– सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुष तुम्हारे इन वर्तनों को चुरा ले, फेंक दे, फोड़ दे अथवा तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ मनमाने कामभोग भोगे तो उस पुरुष को तुम क्या दण्ड दोगे ?
सद्दालपुत्र– भगवन् ! मैं उस पुरुष को बुरे भले शब्दों से उलाहना दूं, डंडे से मारूँ, रस्सी से बाँध दूं और यहाँ तक कि उसके प्राण भी ले लूं।
भगवान्– सद्दालपुत्र ! तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो न कोई पुरुष तुम्हारे बर्तन चुराता है, फेंकता है या फोड़ता है और न कोई तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम भोग भोगता है किन्तु जो कुछ होता है वह सब भवितव्यता से ही हो जाता है। फिर तुम उस पुरुष को दण्ड क्यों देते हो ? इसलिए तुम्हारी यह मान्यता कि 'उत्थान आदि कुछ नहीं हैं सब भवितव्यता से ही हो जाता है' मिथ्या है।

भगवान् के इस कथन से सद्दालपुत्र को बोध हो गया। भगवान् के पास धर्मोपदेश सुन कर उस ने आनन्द श्रावक की तरह श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये। तीन करोड़ सोनैये और एक गोकुल रखा। भगवान् को वन्दना नमस्कार कर सद्दालपुत्र ने वापिस अपने घर आकर अग्निमित्रा भार्या को सब वृत्तान्त कहा। फिर अग्निमित्रा भार्या से कहने लगा कि हे देवानुप्रिये ! श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। अतः तुम भी जाओ और श्राविका के बारह व्रत अङ्गीकार करो। अग्निमित्रा भार्या ने पति की बात को स्वीकार किया। सद्दालपुत्र ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को (नौकरों को) एक श्रेष्ठ धर्मरथ जोत कर लाने की आज्ञा दी जिस में तेज चलने वाले एक समान खुर और पूँछ वाले एक ही रंग के तथा जिनके सींग कई रंगों से रंगे हुए हों ऐसे

बैल जुड़े हुए हों, जिसका धोंसरा बिल्कुल सीधा, उत्तम और अच्छी बनावट वाला हो। आज्ञा पाकर नौकरों ने शीघ्र ही वैसा रथ लाकर उपस्थित किया। अग्निमित्रा भार्या ने स्नान आदि करके उत्तम वस्त्र पहने और अल्प भार एवं बहुमूल्य वाले आभूषणों से शरीर को अलंकृत कर बहुत सी दासियों को साथ लेकर रथ पर सवार हुई। सहस्राम्र वन में आकर रथ से नीचे उतरी। भगवान् को वन्दना नमस्कार कर खड़ी खड़ी भगवान् की पर्युपासना करने लगी। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर अग्निमित्रा भार्या ने श्राविका के बारह व्रत स्वीकार किये। भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वह वापिस अपने घर चली आई। भगवान् पोलासपुर से विहार कर अन्यत्र विचरने लगे। जीवाजीवादि नव तत्त्वों का ज्ञाता श्रावक बन कर सद्दालपुत्र भी धर्म ध्यान में समय बिताने लगा।

मंखलिपुत्र गोशालक ने जब यह वृत्तान्त सुना कि सद्दालपुत्र ने आजीविक मत को त्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमण का मत अङ्गीकार किया है तो उसने सोचा "मैं जाऊँ और आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ श्रमण मत का त्याग करवा कर फिर आजीविक मत का अनुयायी बनाऊँ" ऐसा विचार कर अपनी शिष्य मण्डली सहित वह पोलासपुर नगर में आया। आजीविक सभा में अपने भण्डोपकरण रख कर अपने कुछ शिष्यों को साथ ले सद्दालपुत्र श्रावक के पास आया। गोशालक को आते देख सद्दालपुत्र श्रावक ने किसी प्रकार का आदर सत्कार नहीं किया किन्तु चुपचाप बैठा रहा। तब पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि लेने के लिए भगवान् महावीर के गुणग्राम करता हुआ गोशालक बोला– हे देवानुप्रिय! क्या यहाँ महामाहण पधारे थे?

सद्दालपुत्र– आप किस महामाहण के लिए पूछ रहे हो?

गोशालक– श्रमण भगवान् महावीर महामाहण के लिए।
सद्दालपुत्र– किस अभिप्राय से आप श्रमण भगवान् महावीर को महामाहण कहते हैं?
गोशालक– हे सद्दालपुत्र! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञान, केवलदर्शन के धारक हैं। वे इन्द्र नरेन्द्रों द्वारा महित एवं पूजित हैं। इसी अभिप्राय से मैं कहता हूँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी महामाहण हैं।
गोशालक–सद्दालपुत्र! क्या यहाँ महागोप (प्राणियों के रक्षक) पधारे थे?
सद्दालपुत्र–आप किसके लिए महागोप शब्द का प्रयोग कर रहे हो?
गोशालक– श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के लिए।
सद्दालपुत्र– आप किस अभिप्राय से श्रमण भगवान् महावीर को महागोप कहते हैं?
गोशालक– संसार रूपी विकट अटवी में प्रवचन से भ्रष्ट होने वाले, प्रति क्षण मरने वाले, मृग आदि डरपोक योनियों में उत्पन्न होकर सिंह व्याघ्र आदि से खाये जाने वाले, मनुष्य आदि श्रेष्ठ योनियों में उत्पन्न होकर युद्ध आदि में कटने वाले तथा भाले आदि से बींधे जाने वाले, चोरी आदि करने पर नाक कान आदि काट कर अंग हीन बनाए जाने वाले तथा अन्य अनेक प्रकार के दुःख और त्रास पाने वाले प्राणियों को धर्म का स्वरूप समझा कर अत्यन्त एवं अव्याबाध सुख के स्थान मोक्ष में पहुँचाने वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं। इस अभिप्राय से मैंने उनको महागोप कहा है।
गोशालक– सद्दालपुत्र! क्या यहाँ महासार्थवाह पधारे थे?
सद्दालपुत्र– आप किसको महासार्थवाह कहते हैं?
गोशालक– श्रमण भगवान् महावीर को मैं महासार्थवाह कहता हूँ।

सद्दालपुत्र– किस अभिप्राय से आप श्रमण भगवान् महावीर को महासार्थवाह कहते हैं ?

गोशालक– श्रमण भगवान महावीर स्वामी संसार रूपी अटवी में नष्ट भ्रष्ट यावत् विकलाङ्ग किये जाने वाले बहुत से जीवों को धर्म का मार्ग बता कर उनका संरक्षण करते हैं और मोक्ष रूपी महा नगर के सन्मुख करते हैं। इस लिए भगवान् महावीर स्वामी महासार्थवाह हैं।

गोशालक– देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महा धर्मकथी (धर्मोपदेशक) पधारे थे ?

सद्दालपुत्र– आप महाधर्मकथी शब्द का प्रयोग किसके लिए कर रहे हैं ?

गोशालक–महाधर्मकथी शब्द का प्रयोग श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के लिए है।

सद्दालपुत्र–श्रमण भगवान् महावीर को आप महाधर्मकथी किस अभिप्राय से कहते हैं ?

गोशालक–संसार रूपी विकट अटवी में मिथ्यात्व के प्रबल उदय से सुमार्ग को छोड़ कर कुमार्ग (मिथ्यात्व) में गमन करने वाले कर्मों के वश संसार में चक्कर खाने वाले प्राणियों को धर्मकथा कह कर यावत् प्रतिबोध देकर चार गति वाले संसार से पार लगाने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं। इस लिए उन्हें महाधर्मकथी (धर्म के महान् उपदेशक) कहा है।

गोशालक– सद्दालपुत्र ! क्या यहाँ महानिर्यामक पधारे थे ?

सद्दालपुत्र– आप महानिर्यामक किसे कहते हैं ?

गोशालक– श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को।

सद्दालपुत्र– श्रमण भगवान् महावीर को आप किस अभिप्राय से महानिर्यामक कहते हैं ?

गोशालक– संसार रूपी महान् समुद्र में नष्ट होने वाले, डूबने वाले, बारम्बार गोते खाने वाले तथा बहने वाले बहुत से जीवों को धर्म रूपी नौका से निर्वाण रूपी किनारे पर पहुँचाने वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं। इस लिए उन्हें महानिर्यामक कहा है।

फिर सद्दालपुत्र श्रावक मंखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहने लगा कि हे देवानुप्रिय ! आप अवसरज्ञ (अवसर को जानने वाले) हैं और वाणी में बड़े चतुर हैं। क्या आप मेरे धर्माचार्य्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद (शास्त्रार्थ) करने में समर्थ हैं ?

गोशालक– नहीं।

सद्दालपुत्र– देवानुप्रिय ! आप इस प्रकार इन्कार क्यों करते हैं? क्या आप भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं?

गोशालक–जैसे कोई बलवान् पुरुष किसी बकरे, मेंढ़े, सूअर, मुर्गे. तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कौआ, बाज आदि पक्षी को उसके हाथ, पैर, खुर, पूँछ, पंख, बाल आदि जिस किसी जगह से पकड़ता है वह वहीं उसे निश्चल और निःस्पन्द करके दबा देता है। जरा भी इधर उधर हिलने नहीं देता है। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर से मैं जहाँ कहीं कुछ प्रश्न करता हूँ अनेक हेतुओं और युक्तियों से वे वहीं मुझे निरुत्तर कर देते हैं। इसलिए मैं तुम्हारे धर्माचार्य्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हूँ।

तब सद्दालपुत्र श्रमणोपासक ने गोशालक से कहा कि आप मेरे धर्माचार्य्य के यथार्थ गुणों का कीर्त्तन करते हैं। इसलिए मैं आपको पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि देता हूँ किन्तु कोई धर्म या तप समझ कर नहीं। इसलिए आप मेरी दुकानों पर से पीठ, फलक शय्या आदि ले लीजिए। सद्दालपुत्र

श्रावक की बात सुन कर गोशालक उसकी दुकानों से पीठ फलक आदि लेकर विचरने लगा। जब गोशालक हेतु और युक्तियों से, प्रतिबोधक वाक्यों से और अनुनय विनय से सद्दाल-पुत्र श्रावक को निर्ग्रन्थ प्रवचनों से चलाने में समर्थ नहीं हुआ तब श्रान्त, उदास और ग्लान (निराश) होकर पोलासपुर नगर से निकल कर अन्यत्र विचरने लगा।

व्रत, नियम, पौषधोपवास आदि का सम्यक् पालन करते हुए सद्दालपुत्र को चौदह वर्ष बीत गये। पन्द्रहवां वर्ष जब चल रहा था तब एक समय सद्दालपुत्र पौषध करके पौषधशाला में धर्मध्यान कर रहा था। अर्द्ध रात्रि के समय उसके सामने एक देव प्रकट हुआ। चुलनीपिता श्रावक की तरह सद्दालपुत्र को भी उपसर्ग दिये। उसके तीनों पुत्रों की घात कर उनके नौ नौ टुकड़े किए और उनके खून और मांस से सद्दालपुत्र के शरीर को सींचा। इतना होने पर भी जब सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा तब देव ने चौथी वक्त कहा कि यदि तू अपने व्रत नियम आदि को नहीं तोड़ेगा तो मैं तेरी धर्मसहायिका (धर्म में सहायता देने वाली) धर्म वैद्य (धर्म को सुरक्षित रखने वाली), धर्म के अनुराग में रंगी हुई, तेरे सुख दुःख में समान सहायता देने वाली अग्निमित्रा भार्या को तेरे घर से लाकर तेरे सामने उसकी घात कर उसके खून और मांस से तेरे शरीर को सींचूंगा। देव के दो बार तीन बार यही बात कहने पर सद्दालपुत्र श्रावक के मन में विचार आया कि यह कोई अनार्य पुरुष है। इसे पकड़ लेना ही अच्छा है। पकड़ने के लिए ज्यों ही सद्दालपुत्र उठा त्यों ही देव तो आकाश में भाग गया और उसके हाथ में खम्भा आगया। उसका कोलाहल सुन उसकी अग्निमित्रा भार्या वहाँ आई और सारा वृत्तान्त सुन कर उसने सद्दालपुत्र श्रावक से

दण्ड प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। तदनुसार दण्ड प्रायश्चित्त लेकर सद्दालपुत्र श्रावक ने अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

सद्दालपुत्र अन्तिम समय संलेखना द्वारा समाधि मरण पूर्वक काल करके सौधर्म देवलोक के अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहीं से उसी भव में मोक्ष जायगा।

(८) महाशतक श्रावक– राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसी नगर में महाशतक नाम का एक गाथापति रहता था। वह नगर में मान्य एवं प्रतिष्ठित था। कांसी के वर्तन विशेष से नापे हुए आठ करोड़ सोनैये उसके खजाने में थे, आठ करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और आठ करोड़ घर विस्तार आदि में लगे हुए थे। गायों के आठ गोकुल थे। उस के रेवती आदि तेरह सुन्दर स्त्रियाँ थीं। रेवती के पास उसके पीहर से दिये हुए आठ करोड़ सोनैये और गायों के आठ गोकुल थे। शेष बारह स्त्रियों के पास उनके पीहर से दिए हुए एक एक करोड़ सोनैये और एक एक गोकुल था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। आनन्द श्रावक की तरह महाशतक ने भी श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये। कांसी के वर्तन से नापे हुए चौवीस करोड़ सोनैये और गायों के आठ गोकुल (अस्सी हजार गायों) की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह स्त्रियों के सिवाय अन्य स्त्रियों से मैथुन का त्याग किया। इसने ऐसा भी अभिग्रह लिया कि प्रति दिन दो द्रोण (६४ सेर) वाली सोने से भरी हुई कांसे की पात्री से व्यवहार करूँगा, इस से अधिक नहीं। श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर महाशतक श्रावक धर्मध्यान से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ रहने लगा।

एक बार अर्द्धरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करती हुई रेवती गाथापत्नी को ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि इन बारह सौतों के होने से मैं महाशतक गाथापति के साथ मनमाने काम भोग नहीं भोग सकती हूँ। अतः यही अच्छा है कि शस्त्र, अग्नि या विष का प्रयोग करके सौतों को मार दिया जाय जिससे इनका सारा धन भी मेरे हाथ लग जायगा और फिर मैं अपनी इच्छानुसार महाशतक गाथापति के साथ कामभोग भी भोग सकूँगी ऐसा सोच कर वह कोई अवसर ढूंढने लगी। मौका पाकर उसने छः सौतों को विष देकर और छः को शस्त्र द्वारा मार डाला। उनके धन को अपने अधिकार में करके महाशतक गाथापति के साथ यथेच्छ काम भोग भोगने लगी। मांस में लोलुप, मूर्च्छित एवं गृद्ध बनी हुई रेवती अनेक तरीकों से तले हुए और भूंजे हुए मांस के सोले आदि बना कर खाने लगी और यथेच्छ शराब पीने लगी।

एक समय राजगृह नगर में अमारी (हिंसाबंदी) की घोषणा हुई। तब मांस लोलुपा रेवती ने अपने पीहर के नौकरों को बुलाकर कहा कि तुम प्रति दिन मेरे पीहर वाले गोकुल में से दो गाय के बछड़ों को मार कर मेरे लिए यहाँ ले आया करो। रेवती की आज्ञानुसार नौकर लोग दो बछड़ों को मार कर प्रति दिन लाने लगे। इस प्रकार प्रचुर मांस मदिरा का सेवन करती हुई रेवती समय बिताने लगी।

श्रावक के व्रत नियमों का भली प्रकार पालन करते हुए महाशतक के चौदह वर्ष बीत गए। तत्पश्चात् वह आनन्द श्रावक की तरह ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भला कर पौषधशाला में आकर धर्मध्यान पूर्वक समय बिताने लगा। उसी समय मांस लोलुपा रेवती मद्य मांस की उन्मत्तता और कामुकता के

भाव दिखलाती हुई पौषधशाला में महाशतक श्रावक के पास जा पहुँची। वहाँ पहुँच कर मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले शृङ्गार भरे हाव भाव और कटाक्ष आदि स्त्री भावों को दिखाती हुई महाशतक को लक्ष्य करके बोली- तुम बड़े धर्म कामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्म की आकांक्षा करने वाले, धर्म के प्यासे बन बैठे हो। तुम्हें धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष से क्या करना है? तुम मेरे साथ मन चाहे काम-भोग क्यों नहीं भोगते हो? तात्पर्य यह है कि धर्म, पुण्य आदि सुख के लिए ही किए जाते हैं और विषय भोग से बढ़ कर दूसरा कोई सुख नहीं है। इसलिए तपस्या आदि झंझटों को छोड़ कर मेरे साथ यथेच्छ काम भोग भोगो। रेवती गाथापत्नी के इस प्रकार दो तीन बार कहने पर भी महाशतक श्रावक ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन रहकर धर्म ध्यान में लगा रहा। महाशतक श्रावक द्वारा किसी प्रकार का आदर सत्कार न पाकर रेवती गाथापत्नी अपने स्थान को वापिस चली गई।

इसके बाद महाशतक ने श्रावक की ग्यारह पडिमाएं स्वीकार की और सूत्रोक्त विधि से यथावत् पालन किया। इस प्रकार कठिन और दुष्कर तप करने से महाशतक का शरीर अति कृश होगया। इसलिए मारणान्तिक संलेखना कर धर्मध्यान में तल्लीन होगया। शुभ अध्यवसाय के कारण और अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से महाशतक श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न होगया। वह पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा। इसी तरह दक्षिण और पश्चिम में भी लवण समुद्र में एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा। उत्तर में चुल्लहिमवन्त पर्वत तक जानने और देखने लगा। नीची दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी में लोलुयच्चुत नरक तक जानने और

देखने लगा। इसी समय रेवती गाथापत्नी कामोन्मत्त होकर पौषधशाला में आई और महाशतक श्रावक को कामभोगों के लिए आमन्त्रित करने लगी। उसके दो तीन बार ऐसा कहने पर महाशतक श्रावक को क्रोध आगया। अवधिज्ञान से उपयोग लगा। कर उसने रेवती से कहा कि तू सात रात्रि के भीतर भीतर अलस (विशूचिका) रोग से पीड़ित हो कर आर्त्तध्यान करती हुई असमाधिमरण पूर्वक यथासमय काल करके रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे लोलुयच्चुत नरक में ८४ हजार वर्ष की स्थिति से उत्पन्न होगी।

महाशतक श्रावक के इस कथन को सुन कर रेवती विचारने लगी कि महाशतक अब मुझ पर कुपित हो गया है और मेरा बुरा चाहता है। न जाने यह मुझे किस बुरी मौत से मरवा डालेगा। ऐसा सोच कर वह डरी। क्षुब्ध और भयभीत होती हुई धीरे धीरे पीछे हट कर वह पौषधशाला से बाहर निकली। घर आकर उदासीन हो वह सोच में पड़ गई। तत्पश्चात् रेवती के शरीर में भयङ्कर अलस रोग उत्पन्न हुआ और तीव्र वेदना प्रकट हुई। आर्तध्यान करती हुई यथासमय काल करके रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्चुत नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न हुई।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर में पधारे। भगवान् अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी से कहने लगे कि राजगृह नगर में मेरा शिष्य महाशतक श्रावक पौषधशाला में संलेखना कर बैठा हुआ है। उसने रेवती से सत्य किन्तु अप्रिय वचन कहे हैं। भक्त पान का पच्चक्खाण कर मारणांतिकी संलेखना करने वाले श्रावक को जो बात सत्य (तथ्य) हो किन्तु दूसरे को अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय लगे ऐसा वचन बोलना नहीं कल्पता। अतः तुम जाओ और महाशतक

श्रावक से कहो कि इस विषय की आलोचना कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

भगवान् के उपरोक्त कथन को स्वीकार कर गौतम स्वामी महाशतक श्रावक के पास पधारे। श्रावक ने उन्हें वन्दना नमस्कार किया। बाद में गौतम स्वामी के कथनानुसार भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य कर आलोचना पूर्वक यथायोग्य दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

महाशतक श्रावक ने बीस वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया। अन्तिम समय में एक महीने की संलेखना कर समाधि मरण पूर्वक काल कर सौधर्म देवलोक के अरुणावतंसक विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहीं से उसी भव में मोक्ष जायगा।

(६) नन्दिनीपिता श्रावक– श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगरी में नन्दिनीपिता नामक एक धनाढ्य गाथापति रहता था। उसके चार करोड़ सोनैया खजाने में, चार करोड़ व्यापार में और चार करोड़ विस्तार में लगे हुए थे। गायों के चार गोकुल थे अर्थात् चालीस हजार गायें थीं। उसकी धर्मपत्नी का नाम अश्विनी था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। आनन्द श्रावक की तरह नन्दिनीपिता ने भी भगवान् के पास श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये और धर्मध्यान करते हुए आनन्द पूर्वक रहने लगा।

श्रावक के व्रत नियमों का भली प्रकार पालन करते हुए नन्दिनीपिता को चौदह वर्ष बीत गये। जब पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था तब ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप दिया और आप स्वयं पौषधशाला में जाकर धर्मध्यान में तल्लीन रहने लगा।

बीस वर्ष तक श्रावक-पर्याय का पालन कर अन्तिम समय में संलेखना की। समाधि मरण पूर्वक आयुष्य पूरा कर सौधर्म देवलोक के अरुणगव नामक विमान में उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धगति को प्राप्त होगा।

(१०) शालेयिकापिता श्रावक- श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगरी में शालेयिकापिता नामक एक धनाढ्य गाथापति रहता था। उसके चार करोड़ सोनैया खजाने में थे, चार करोड़ व्यापार में और चार करोड़ विस्तार में लगे हुए थे। गायों के चार गोकुल थे। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। शालेयिकापिता ने आनन्द श्रावक की तरह भगवान् के पास श्रावक व्रत ग्रहण किये। धर्मध्यान पूर्वक समय विताने लगा। चौदह वर्ष बीत जाने के पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भला कर पौषधशाला में जाकर धर्मध्यान में निरत रहने लगा। बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का भली प्रकार पालन किया। अन्तिम समय में संलेखना करके समाधि मरण को प्राप्त हुआ। सौधर्म देवलोक के अरुणकील नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और उसी भव में मोक्ष जायगा। शेष सारा अधिकार आनन्द श्रावक के समान है।

दस ही श्रावकों ने चौदह वर्ष पूरे करके पन्द्रहवें वर्ष में कुटुम्ब का भार अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सम्भला दिया और स्वयं विशेष धर्म साधना में लग गये। सभी ने बीस बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का पालन किया। (उपासकदशांग सूत्र)

६८६-श्रेणिक राजा की दस रानियाँ

(१) काली (२) सुकाली (३) महाकाली (४) कृष्णा (५) सुकृष्णा (६) महाकृष्णा (७) वीरकृष्णा (८) रामकृष्णा (९) प्रियसेनकृष्णा (१०) महासेनकृष्णा ।

(१) काली रानी– इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे उस समय चम्पा नाम की एक नगरी थी। वहाँ कोणिक नाम का राजा राज्य करता था। कोणिक राजा की छोटी माता एवं श्रेणिक राजा की भार्या काली नाम की महारानी थी। वह अति-सुकुमाल और सर्वाङ्ग सुन्दर थी।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलपर्याय का पालन करते हुए, धर्मोपदेश द्वारा भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए और ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधार गये। भगवान् के आगमन को जान कर काली देवी अत्यन्त हर्षित हुई। कौटुम्बिक पुरुषों (नौकरों) को बुला कर धार्मिक रथ को तय्यार करने के लिए आज्ञा दी। रथ सज्जित हो जाने पर उसमें बैठ कर काली रानी भगवान् के दर्शन करने गई। भगवान् ने समयानुसार धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश को श्रवण कर काली रानी को बहुत हर्ष एवं सन्तोष हुआ। उसका हृदयकमल विकसित हो गया। जन्म जरा मृत्यु आदि दुःखों से व्याप्त संसार से वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। वह भगवान् को वन्दना नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन्! आपने जो निर्ग्रन्थ प्रव-चन फरमाये हैं, वे सत्य हैं। मुझे उन पर अतिशय श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि उत्पन्न हुई है। इतना ही नहीं अपितु कोणिक राजा से पूछ कर आपके पास मुण्डित होऊँगी यावत् दीक्षा ग्रहण करूँगी।

काली रानी के उपरोक्त वचनों को सुन कर भगवान् फरमाने लगे कि हे देवानुप्रिये! सुख हो वैसा कार्य करो किन्तु धर्म कार्य में विलम्ब मत करो।

तब काली रानी अपने धर्मरथ पर सवार हो कर अपने घर आई। घर आकर कोणिक राजा के पास पहुँची और कहने लगी कि अहो देवानुप्रिय! आपकी आज्ञा हो तो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मैं दीक्षा अङ्गीकार करूँ? तब कोणिक राजा ने कहा कि हे माता जिस तरह आपको सुख हो वैसा कार्य करो। ऐसा कह कर अपने कौटुम्बिक पुरुषों (नौकरों) को बुलाया और आज्ञा दी कि माता काली देवी का बहुत ठाट के साथ बहुमूल्य दीक्षा अभिषेक की तैयारी करो। कोणिक राजा की आज्ञानुसार कार्य करके नौकरों ने वापिस सूचना दी। तत्पश्चात् काली रानी को पाट पर बिठला कर एक सौ आठ कलशों से स्नान कराया। स्नान के पश्चात् बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से विभूषित कर हजार पुरुष उठावे ऐसी शिविका (पालकी) में बैठा कर चम्पा नगरी के मध्य में होते हुए जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर लाये। फिर काली रानी पालकी से नीचे उतरी। उसे अपने आगे करके कोणिक राजा भगवान् की सेवा में पहुँचे और भगवान् को विनयपूर्वक तीन बार वन्दना नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगे कि हे भगवन्! यह मेरी माता काली नाम की देवी, जो मुझे इष्टकारी, प्रियकारी, मनोज्ञ एवं मन को अभिराम है, इसे मैं आपको शिष्यणी रूप (साध्वी रूप) भिक्षा देता हूँ। आप इस शिष्यणी रूप भिक्षा को स्वीकार करें। भगवान् ने फरमाया कि जैसे सुख उत्पन्न हो वैसा करो। तब काली रानी ने उत्तर पूर्व दिशा के बीच ईशान कोण में जाकर सब वस्त्राभूषणों को अपने हाथ से उतारे

और स्वयमेव अपने हाथ से पंचमुष्टि लोच किया। लोच करके भगवान् के समीप आकर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन्! यह संसार जन्म जरा मृत्यु के दुःखों से व्याप्त हो रहा है। मैं इन दुःखों से भयभीत होकर आपकी शरण में आई हूँ। आप मुझे दीक्षा दो और धर्म सुनावो। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने काली रानी को स्वयमेव दीक्षा दी, मुण्डित की और सब साध्वियों में ज्येष्ठ सती चन्दनबाला आर्या को शिष्यनीपने सौंप दी। तब सती चन्दनबाला आर्या ने उसको स्वीकार किया तथा सब प्रकार से इन्द्रियों का निग्रह करना, संयम में विशेष उद्यमवन्त होना ऐसी हित शिक्षा दी। काली आर्या ने सामायिक से लेकर ग्यारह अङ्ग का ज्ञान पढ़ा और अनेक प्रकार के तप करती हुई विचरने लगी।

एक समय काली आर्या सती चन्दनबाला के पास आकर इस प्रकार कहने लगी कि अहो आर्याजी! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं रत्नावली तप करने की इच्छा करती हूँ। तब सती चन्दनबाला ने कहा कि जैसे तुम को सुख हो वैसा कार्य करो। तब काली आर्या ने रत्नावली तप अङ्गीकार किया। गले में पहनने का हार रत्नावली कहलाता है। उस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाता है वह रत्नावली तप कहलाता है। जैसे रत्नावली हार ऊपर दोनों तरफ से सूक्ष्म (पतला) होता है। थोड़ा आगे बढ़ने पर दोनों तरफ फूल होते हैं। नीचे यानी मध्यभाग में हार पान के आकार होता है अर्थात् मध्यभाग में बड़ी बड़ी मणियों से संयुक्त पान के आकार वाला होता है। इस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाय वह रत्नावली तप कहलाता है, अर्थात् तप में किये जाने वाले उपवास, बेला, तेला आदि की संख्या के अङ्कों को कागज पर लिखने

काली रानी के उपरोक्त वचनों को सुन कर भगवान् फरमाने लगे कि हे देवानुप्रिये! सुख हो वैसा कार्य करो किन्तु धर्म कार्य में विलम्ब मत करो।

तब काली रानी अपने धर्मरथ पर सवार हो कर अपने घर आई। घर आकर कोणिक राजा के पास पहुँची और कहने लगी कि अहो देवानुप्रिय! आपकी आज्ञा हो तो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मैं दीक्षा अङ्गीकार करूँ? तब कोणिक राजा ने कहा कि हे माता जिस तरह आपको सुख हो वैसा कार्य करो। ऐसा कह कर अपने कौटुम्बिक पुरुषों (नौकरों) को बुलाया और आज्ञा दी कि माता काली देवी का बहुत ठाट के साथ बहुमूल्य दीक्षा अभिषेक की तैयारी करो। कोणिक राजा की आज्ञानुसार कार्य करके नौकरों ने वापिस सूचना दी। तत्पश्चात् काली रानी को पाट पर बिठला कर एक सौ आठ कलशों से स्नान कराया। स्नान के पश्चात् बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से विभूषित कर हजार पुरुष उठावे ऐसी शिविका (पालकी) में बैठा कर चम्पा नगरी के मध्य में होते हुए जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर लाये। फिर काली रानी पालकी से नीचे उतरी। उसे अपने आगे करके कोणिक राजा भगवान् की सेवा में पहुँचे और भगवान् को विनयपूर्वक तीन बार वन्दना नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगे कि हे भगवन्! यह मेरी माता काली नाम की देवी, जो मुझे इष्टकारी, प्रियकारी, मनोज्ञ एवं मन को अभिराम है, इसे मैं आपको शिष्यणी रूप (साध्वी रूप) भिक्षा देता हूँ। आप इस शिष्यणी रूप भिक्षा को स्वीकार करें। भगवान् ने फरमाया कि जैसे सुख उत्पन्न हो वैसा करो। तब काली रानी ने उत्तर पूर्व दिशा के बीच ईशान कोण में जाकर सब वस्त्राभूषणों को अपने हाथ से उतारे

और स्वयमेव अपने हाथ से पंचमुष्टि लोच किया। लोच करके भगवान् के समीप आकर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन्! यह संसार जन्म जरा मृत्यु के दुःखों से व्याप्त हो रहा है। मैं इन दुःखों से भयभीत होकर आपकी शरण में आई हूँ। आप मुझे दीक्षा दो और धर्म सुनावो। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने काली रानी को स्वयमेव दीक्षा दी, मुण्डित की और सब साध्वियों में ज्येष्ठ सती चन्दनबाला आर्या को शिष्यनीपने सौंप दी। तब सती चन्दनबाला आर्या ने उसको स्वीकार किया तथा सब प्रकार से इन्द्रियों का निग्रह करना, संयम में विशेष उद्यमवन्त होना ऐसी हित शिक्षा दो। काली आर्या ने सामायिक से लेकर ग्यारह अङ्ग का ज्ञान पढ़ा और अनेक प्रकार के तप करती हुई विचरने लगी।

एक समय काली आर्या सती चन्दनबाला के पास आकर इस प्रकार कहने लगी कि अहो आर्याजी! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं रत्नावली तप करने की इच्छा करती हूँ। तब सती चन्दनबाला ने कहा कि जैसे तुम को सुख हो वैसा कार्य करो। तब काली आर्या ने रत्नावली तप अङ्गीकार किया। गले में पहनने का हार रत्नावली कहलाता है। उस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाता है वह रत्नावली तप कहलाता है। जैसे रत्नावली हार ऊपर दोनों तरफ से सूक्ष्म (पतला) होता है। थोड़ा आगे बढ़ने पर दोनों तरफ फूल होते हैं। नीचे यानी मध्यभाग में हार पान के आकार होता है अर्थात् मध्यभाग में बड़ी बड़ी मणियों से संयुक्त पान के आकार वाला होता है। इस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाय वह रत्नावली तप कहलाता है, अर्थात् तप में किये जाने वाले उपवास, बेला, तेला आदि की संख्या के अङ्कों को कागज पर लिखने

से रत्नावली हार के समान आकार बन जाय, वह रत्नावली तप कहलाता है। इसका आकार इस प्रकार है—

रत्नावली तप

रत्नावली तप की एक परिपाटी के तपस्या के दिन ३८४ और पारणे के दिन ८८ होते हैं अर्थात् १५ महीने और २२ दिन होते हैं। इस तप की चार परिपाटियाँ पांच वर्ष दो मास २८ दिन में पूर्ण होती हैं। यह तप श्री काली आर्या ने किया था। पारणा की विधि सूत्रानुसार आगे बतलाई गई है।

रत्नावली तप की विधि इस प्रकार है--

सब से प्रथम एक उपवास, एक बेला और एक तेला करके फिर एक साथ आठ बेले करे, फिर उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से करते हुए १६ उपवास तक करे। तत्पश्चात् ३४ बेले एक साथ करे। जैसे रत्नावली हार मध्य में स्थूल (मोटा) होता है उसी प्रकार इस रत्नावली तप में भी मध्यभाग में ३४ बेले एक साथ करने से स्थूल आकार बन जाता है। ३४ बेले करने के बाद १६ उपवास करे, १५ उपवास करे इस तरह क्रमशः घटाते हुए एक उपवास तक करे। तत्पश्चात् आठ बेले एक साथ करे, फिर एक तेला, बेला और उपवास करे। इसकी स्थापना का क्रम नक्शे में बताया गया है।

यह एक परिपाटी होती है। इसके पारणे के दिन जैसा आहार मिले वैसा लेवे, अर्थात् पारणे के दिन सब विगय (दूध, दही घी आदि) भी लिए जा सकते हैं।

दूसरी परिपाटी में पारणे के दिन कोई भी विगय नहीं लिये जा सकते। तीसरी परिपाटी में निर्लेप (जिसका लेप न लगे) पदार्थ ही पारणे में लिए जा सकते हैं। चौथी परिपाटी में पारणे के दिन आयंबिल (किसी एक प्रकार का भूंजा हुआ धान्य वगैरह पानी में भिगो कर खाना आयंबिल कहलाता है) किया जाता है।

इस प्रकार काली आर्या को रत्नावली तप करने में पाँच वर्ष दो महीने और अट्ठाईस दिन लगे। सूत्रानुसार रत्नावली तप को पूर्ण करके अनेकविध तपस्या करती हुई वह विचरने लगी। प्रधान तप से उस का शरीर अति दुर्बल दिखाई देने लग गया था किन्तु तपोबल से वह अत्यन्त शोभित होने लगी। एक समय अर्द्ध रात्रि व्यतीत होने पर काली आर्या को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि जब तक मेरे शरीर में शक्ति है, उत्थान, कर्म, बल,

वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम हैं तब तक मुझे अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिए, अर्थात् प्रातः काल होते ही आर्या चन्दनबाला की आज्ञा प्राप्त कर संलेखना पूर्वक आहार पानी का त्याग कर काल (मृत्यु) की वाँच्छा न करती हुई विचरूँ, ऐसा विचार कर प्रातः काल होते ही आर्या चन्दनबाला के पास आकर अपना विचार प्रकट किया। तब सती चन्दनबाला ने कहा कि जिस तरह आपको सुख हो वैसा ही कार्य करो।

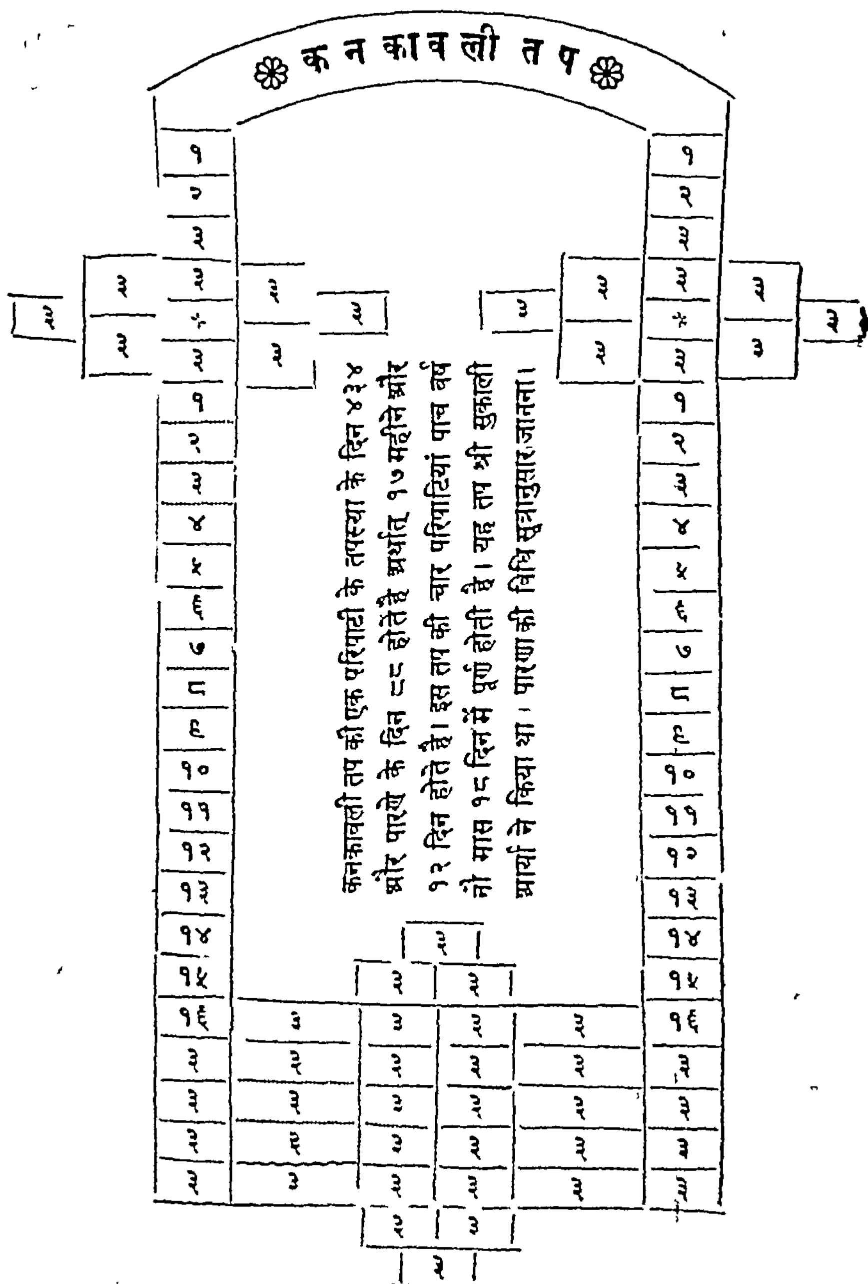
इस प्रकार सती चन्दनबाला की आज्ञा प्राप्त कर काली आर्या ने संलेखना अङ्गीकार की। आठ वर्ष साध्वी पर्याय का पालन कर और एक महीने की संलेखना करके केवलज्ञान, केवलदर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में सिद्ध पद को प्राप्त किया।

(२) सुकाली रानी– कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की दूसरी रानी का नाम सुकाली था। इसका सम्पूर्ण वर्णन काली रानी की तरह ही है। केवल इतनी विशेषता है कि सुकाली आर्या ने आर्या चन्दनबाला के पास से कनकावली तप करने की आज्ञा प्राप्त कर कनकावली तप अंगीकार किया। कनकावली भी गले के हार को कहते हैं।

कनकावली तप रत्नावली तप के समान ही है किन्तु जिस प्रकार रत्नावली हार से कनकावली हार भारी होता है उसी प्रकार कनकावली तप रत्नावली तप से कुछ विशिष्ट होता है। इसकी विधि और स्थापना का क्रम वही है जो रत्नावली तप का है सिर्फ थोड़ी विशेषता यह है कि रत्नावली तप में दोनों फूलों की जगह आठ आठ बेले और मध्य में पान के आकार ३४ बेले किये जाते हैं। कनकावली में आठ आठ बेलों की जगह आठ आठ तेले और मध्य में ३४ बेलों की जगह ३४ तेले किये जाते हैं।

कनकावली तप की एक परिपाटी में एक वर्ष पांच महीने और

१२ दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में पांच वर्ष



नौ महीने और १८ दिन लगे। पारणे की विधि रत्नावली तप के समान ही है। सुकाली आर्या ने नौ वर्ष दीक्षा पर्याय का पालन कर एक महीने की संलेखना करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में सिद्ध पद को प्राप्त किया।

१	लघु सिंह क्रीड़ा तप	१
२	लघु सिंह क्रीड़ा तप की एक परिपाटी में तपस्या के दिन १५४ और पारणे के दिन ३३ अर्थात् छः महीने और सात दिन होते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में दो वर्ष और २८ दिन लगते हैं। पारणे की विधि रत्नावली तप जैसी है।	२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९	❀ ८ ❀	९

(३) महाकाली रानी–कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की तीसरी रानी का नाम महाकाली था। इसका सारा वर्णन काली रानी की तरह ही है। तप में विशेषता है। इसने लघु सिंह क्रीड़ा तप अङ्गीकार किया। जिस तरह से क्रीड़ा करता हुआ सिंह अतिक्रान्त स्थान को देखता हुआ आगे बढ़ता है अर्थात् दो कदम आगे रख कर एक कदम वापिस पीछे रखता है। इस क्रम से वह आगे बढ़ता जाता है। इसी प्रकार जिस तप में पूर्व पूर्व आचरित तप का फिर से सेवन करते हुए आगे बढ़ा जाय वह लघुसिंह क्रीड़ा तप कहलाता है। आगे बताये जाने वाले महासिंह तप की अपेक्षा छोटा होने से यह लघुसिंह क्रीड़ा तप कहलाता है। इसमें एक से लगा कर नौ उपवास तक किये जाते हैं। इन के बीच में पूर्व आचरित तप का पुनः सेवन करके आगे बढ़ा जाता है और इस तरह वापिस श्रेणी उतारी जाती है। इसका नकशा ३४० वें पृष्ठ में दिया गया है।

इस प्रकार अनेक विध तप का आचरण करते हुए एक मास की संलेखना द्वारा केवल ज्ञान और केवल दर्शन उपार्जन कर महाकाली आर्या ने अन्तिम समय में मोक्ष पद प्राप्त किया।

(४) कृष्णा रानी–कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की चौथी रानी का नाम कृष्णा था। इसका सारा वर्णन काली रानी की तरह ही है। सिर्फ इतनी विशेषता है कि कृष्णा आर्या ने महासिंहनिष्क्रीड़ित तप किया। यह तप लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप के समान ही है सिर्फ इतनी विशेषता है कि लघुसिंह निष्क्रीड़ित में तो नौ उपवास तक करके पीछे लौटा जाता है और इस में १६ उपवास तक करके पीछे लौटना चाहिये। शेष विधि और साधनाक्रम लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप के समान है।

इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष छः महीने और १८ दिन

लगते हैं। चारों परिपाटियाँ पूर्ण करने में छः वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं। इसका आकार इस प्रकार है—

१	महा सिंह निष्क्रीडित तप	१
२	महासिंह निष्क्रीडित तप की एक परिपाटी में एक वर्ष छह महीने और अठारह दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में छह वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं। पारणे की विधि रत्नावली तप के समान है।	२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१०		१०
९		९
११		११
१०		१०
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४		१४
१६	❀ १५ ❀	१६

कृष्णा आर्या ने ग्यारह वर्ष दीक्षा पर्याय का पालन कर और एक मास की संलेखना करके केवलज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त किया।

(५) सुकृष्णा रानी– सुकृष्णा रानी भी कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की पाँचवीं रानी है। इसका पूर्व अधिकार काली रानी के समान है। तप में विशेषता है। वह इस प्रकार है– सुकृष्णा आर्या भिक्षु की सातवीं प्रतिमा (पडिमा) अङ्गीकार कर विचरने लगी। प्रथम सात दिन में एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण किया। भिक्षा देते हुए दाता के हाथ से अथवा पात्र से अव्यवच्छिन्न रूप से अर्थात् बीच में धारा टूटे बिना एक साथ जितना आहार या पानी साधु के पात्र में गिरे उसे एक दत्ति कहते हैं। बीच में जरा सी भी धारा खंडित होने पर दूसरी दत्ति गिनी जाती है।

दूसरे सात दिनों में दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी ग्रहण किया। इस प्रकार तीसरे सप्तक में तीन तीन, चौथे सप्तक में चार चार, पाँचवें सप्तक में पाँच पाँच, छठे सप्तक में छः छः और सातवें सप्तक में सात सात दत्ति आहार और पानी ग्रहण किया।

सातवीं भिक्षु पडिमा को पूर्ण करने में ४६ दिन लगे, जिसकी कुल १६६ दत्तियाँ हुईं। इस पडिमा की सूत्रोक्त विधि अनुसार आराधना कर आर्या चन्दनबाला के पास से आठवीं भिक्षु पडिमा करने की आज्ञा प्राप्त कर आठवीं भिक्षु पडिमा करने लगी। इस पडिमा में पहले आठ दिन एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण किया। द्वितीय अष्टक में दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी। इस प्रकार आठवें अष्टक में आठ दत्ति आहार और आठ दत्ति पानी ग्रहण किया। इस में कुल ६४ दिन लगे और सब दत्तियाँ २८८ हुईं। तत्पश्चात्

नवमी भिक्षु पडिमा अङ्गीकार कर विचरने लगी। इसमें क्रमशः नौ दत्तियाँ ग्रहण कीं। इस में कुल ८१ दिन लगे। कुल ४७५ दत्तियाँ हुईं। इसके बाद भिक्षु की दसवीं पडिमा अङ्गीकार की। इसमें प्रथम दस दिन तक एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण किया। इस प्रकार बढ़ाते हुए अन्तिम दस दिन में दस दत्ति आहार और दस दत्ति पानी की ग्रहण कीं। इसके आराधन में १०० दिन लगे और कुल दत्तियाँ ५५० हुईं। इस प्रकार सूत्रोक्त विधि के अनुसार भिक्षु पडिमा का आराधन किया। तत्पश्चात् अनेक प्रकार का तप करती हुई विचरने लगी।

जब सुकृष्णा आर्या का शरीर कठिन तप आचरण द्वारा अति दुर्बल हो गया तब एक मास की संलेखना करके केवल ज्ञान और केवलदर्शन उपार्जन कर अंतिम समय में सिद्ध पद (मोक्ष) को प्राप्त किया।

(६) महाकृष्णा–कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की छठी रानी का नाम महाकृष्णा है। उसका सारा वर्णन काली रानी की तरह ही है। तप में विशेषता है। इसने लघु सर्वतोभद्र तप किया। इसमें प्रथम एक उपवास किया फिर बेला तेला, चोला और पचोला किया। फिर इन पाँच अङ्कों के मध्य में आये हुए अङ्क से अर्थात् तेले से शुरू कर पाँच अङ्क पूर्ण किये अर्थात् तेला, चोला, पचोला, उपवास और बेला किया। फिर बीच में आये हुए पाँच के अङ्क से शुरु किया अर्थात् पचोला, उपवास, बेला, तेला और चोला किया। बाद में बेला, तेला, चोला, पचोला और उपवास किया। तत्पश्चात् चोला, पचोला उपवास, बेला और तेला किया। इस तरह पहली परिपाटी पूर्ण की। इसमें तप के ७५ दिन और पारणे के २५ दिन कुल एक सौ दिन लगे। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में ४००

दिन अर्थात् एक वर्ष एक महीना और दस दिन लगते हैं। इसका आकार इस प्रकार है-

लघु सर्वतो भद्र तप

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

इस तप में आये हुए अङ्कों को सब तरफ से अर्थात् किसी भी तरफ से गिनने से पन्द्रह की संख्या आती है। इसलिए यह सर्वतो भद्र तप कहलाता है। आगे बताये जाने वाले सर्वतो भद्र तप की अपेक्षा यह छोटा है। इसलिए लघु सर्वतो भद्र तप कहलाता है।

(७) वीर कृष्णा रानी- कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की सातवीं रानी का नाम वीरकृष्णा था। वह दीक्षा लेकर अनेक प्रकार की तपस्या करती हुई विचरने लगी, तथा महासर्वतो भद्र तप किया। इस में एक उपवास से शुरु करके सात उपवास तक किये। दूसरे कोष्ठक में सातों अङ्कों के मध्य में आये हुए चार के अङ्क को लेकर अनुक्रम से शुरु किया अर्थात् चोला, पचोला, छः, सात, उपवास बेला और तेला किया। इस प्रकार मध्य के अङ्क से शुरु करते हुए सातों पंक्तियाँ पूरी कीं। इसकी एक परिपाटी में १९६ दिन तपस्या के और ४९ दिन पारणे के होते हैं अर्थात् आठ महीने और पाँच दिन होते हैं। इसकी चारों परिपाटियों में दो वर्ष आठ

महीने वीस दिन लगते हैं। इस तप का आकार इस प्रकार है

महा सर्वतो भद्र तप

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

वीरकृष्णा आर्या ने इस तप का सूत्रोक्त विधि से आराधन कर एक मास की संलेखना करके अन्तिम समय में केवलज्ञान, केवलदर्शन उपार्जन कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।

(८) रामकृष्णा रानी– कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की आठवीं रानी का नाम रामकृष्णा था। दीक्षा धारण कर आर्या चन्दनबाला की आज्ञा प्राप्त कर वह भद्रोत्तर प्रतिमा तप अङ्गीकार कर विचरने लगी। इस तप में पाँच से शुरु कर नौ उपवास तक किये जाते हैं। मध्य में आये हुए अङ्क को लेकर अनुक्रम से पंक्ति पूरी की जाती है। इस तरह पाँच पंक्तियों को पूरी करने से एक परिपाटी पूरी होती है। इसकी एक परिपाटी में १७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणे के, सब मिला कर २०० दिन अर्थात् छः महीने वीस दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में दो वर्ष दो महीने और वीस दिन लगते हैं। इस तप का आकार इस प्रकार है–

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

रामकृष्णा आर्या ने इस तप का सूत्रोक्त विधि से आराधन किया और अनेक प्रकार के तप करती हुई विचरने लगी। तत्पश्चात् रामकृष्णा आर्या ने अपने शरीर को तप के द्वारा अति दुर्वल हुआ जान एक मास की संलेखना की। अन्तिम समय में केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।

(९) प्रिय सेन कृष्णा रानी- कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की नवीं राणी का नाम प्रियसेनकृष्णा था। दीक्षा के पश्चात् वह अनेक प्रकार का तप करती हुई विचरने लगी। सती चन्दनवाला की आज्ञा लेकर उसने मुक्तावली तप किया। इसमें एक उपवास से शुरू करके पन्द्रह उपवास तक किये जाते हैं और वीच वीच में एक एक उपवास किया जाता है। मध्य में १६ उपवास करके फिर क्रमशः उतरते हुए एक उपवास तक किया जाता है। इसका नकशा ३४८ वें पृष्ठ पर दिया गया है।

इस प्रकार तप करती हुई प्रियसेन कृष्णा रानी ने देखा कि अब मेरा शरीर तपस्या से अति दुर्वल हो गया है तब सती चन्दनवाला से आज्ञा लेकर एक मास की संलेखना की। केवल-ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्त में मोक्ष पद प्राप्त किया।

❀ मुक्तावली तप ❀

१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१

❀ १६ ❀

१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१

इस तप की एक परिपाटी में तपस्या के दिन २८६ और पारणे के दिन ५६ होते हैं यानि ११ मास १५ दिन होते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में तीन वर्ष १० महीने होते हैं। पारणे की विधि रत्नावली तप के समान है।

नोट—पारने सहित मुक्तावली तप के दिन गिनने पर ११ मास १३ दिन होते हैं, किन्तु मूल पाठ में ११ मास १५ दिन लिखा है। टीकाकार ने भी इस बात को दर्शाया है।

(१०) महासेन कृष्णा- कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की दसवीं रानी का नाम महासेन कृष्णा था। उसने आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा लेकर आयंबिल वर्द्धमान तप किया। इस की विधि इस प्रकार है- एक आयंबिल कर उपवास किया जाता है, दो आयंबिल कर एक उपवास किया जाता है। फिर तीन आयंबिल कर एक उपवास किया जाता है। इस तरह एक सौ आयंबिल तक बढ़ाते जाना चाहिए। बीच बीच में एक उपवास किया जाता है। इस तप में १०० उपवास और ५०५० आयंबिल होते हैं। यह तप चौदह वर्ष तीन महीने बीस दिन में पूर्ण होता है।

उपरोक्त तप की सूत्रोक्त विधि से आराधना कर महासेन कृष्णा आर्या अपनी आत्मा को भावती हुई तथा उदार (प्रधान), तप से अति ही शोभित होती हुई विचरने लगी। एक दिन अर्द्ध रात्रि व्यतीत होने पर उसको ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि अब मेरा शरीर तपस्या से अति दुर्बल हो गया है, अतः जब तक मेरे शरीर में उत्थान, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार पराक्रम है तब तक संलेखना कर लेनी चाहिए।

प्रातः काल होने पर आर्या चन्दनबाला की आज्ञा लेकर संलेखना की। मरण की वाञ्छा न करती हुई तथा आर्या चन्दनबाला के पास से पढ़े हुए ग्यारह अंगों का स्मरण करती हुई धर्मध्यान में तल्लीन रहने लगी। साठ भक्त अनशन का छेदन कर और एक महीने की संलेखना कर जिस कार्य के लिए उसने दीक्षा ली थी उसे पूर्ण किया अर्थात् केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में मोक्ष पद प्राप्त किया।

इन दस ही आर्याओं के दीक्षा पर्याय का समय इस प्रकार है- काली आर्या ८ वर्ष, सुकाली आर्या ९ वर्ष, महाकाली आर्या

१० वर्ष, कृष्णा आर्या ११ वर्ष, सुकृष्णा आर्या १२ वर्ष, महाकृष्णा आर्या १३ वर्ष, वीरकृष्णा आर्या १४ वर्ष, रामकृष्णा आर्या १५ वर्ष, पियसेनकृष्णा आर्या १६ वर्ष, महासेन कृष्णा आर्या १७ वर्ष। (अन्तगड सूत्र आठवां वर्ग)

६८७- आवश्यक के दस नाम

उपयोग पूर्वक आवश्यक सूत्र का श्रवण करना, यतना पूर्वक पडिलेहणा वगैरह आवश्यक कार्य करना, सुबह शाम पापों का प्रतिक्रमण करना तथा साधु और श्रावक के लिए शास्त्रों में बताए गए कर्तव्य आवश्यक कहलाते हैं। इसके दस नाम हैं-

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुव निग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्क वग्गो नाओ आराहणा मग्गो॥

(१) आवश्यक- जो अवश्य करने योग्य हो उसे आवश्यक अथवा आवासक कहते हैं। अथवा जो गुणों का आधार है वह आवश्यक है। या जो क्रिया आत्मा को ज्ञान आदि गुणों के वश में करती है वह आवश्यक है। जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों के समीप ले जाता है, उसे गुणों द्वारा सुगन्धित करता है उसे आवासक कहते हैं। अथवा जो आत्मा को ज्ञानादि वस्त्र द्वारा सुशोभित करे, या जो आत्मा का दोषों से संवरण करे अर्थात् दोष न आने दे वह आवासक है।

(२) अवश्यकरणीय- मोक्षाभिलाषी व्यक्ति द्वारा जो अवश्य किया जाता है उसे अवश्यकरणीय कहते हैं।

(३) ध्रुव- जो अर्थ से शाश्वत है।

(४) निग्रह- जिससे इन्द्रिय और कषाय वगैरह भाव शत्रुओं का निग्रह अर्थात् दमन हो।

(५) विशुद्धि-कर्म से मलीन आत्मा की विशुद्धि का कारण।

(६) षडध्ययन-सामायिक आदि छः अध्ययन वाला। सामा-

यिक आदि का स्वरूप दूसरे भाग बोल नं० ४७६ में दिया गया है।
(७) वर्ग- जिस के द्वारा राग द्वेष आदि दोषों का वर्जन- त्याग किया जाय।
(८) न्याय- मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय होने से न्याय है अथवा जीव और कर्म के अवास्तविक सम्बन्ध को दूर करके उन दोनों का विवेक कराने वाला होने से न्याय है।
(९) आराधना- मोक्ष की आराधना का कारण होने से इसका नाम आराधना है।
(१०) मार्ग- मोक्ष रूपी नगर में पहुँचने का रास्ता होने से इसका नाम मार्ग है।

(विशेषावश्यक भाष्य गा० ८७२-८७६) (अनुयोग द्वार आवश्यक प्रकरण)

६८८- दृष्टिवाद के दस नाम

जिसमें भिन्न भिन्न दर्शनों का स्वरूप बताया गया हो उसे दृष्टिवाद कहते हैं। इसके दस नाम हैं। वे ये है-
(१) दृष्टिवाद।
(२) हेतुवाद- इष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु कहलाता है जैसे यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि इसमें धुआँ दिखाई देता है। यहाँ धूम हेतु हमारे इष्ट अर्थ यानी पर्वत में अग्नि साध्य को सिद्ध करता है। इस प्रकार के हेतुओं का जिस में वर्णन हो उसे हेतुवाद कहते हैं, अथवा हेतु अनुमान का अङ्ग है अतः यहाँ उपचार से हेतु शब्द से अनुमान का ग्रहण करना चाहिए। अनुमान आदि का वर्णन जिसमें हो उसे हेतुवाद कहते हैं।
(३) भूत वाद- भूत यानी सद्‌भूत पदार्थों का जिस में वर्णन किया गया हो उसे भूतवाद कहते हैं।
(४) तथ्यवाद- (तत्त्व वाद) तत्त्व यानी वस्तुओं का जिसमें

१० वर्ष, कृष्णा आर्या ११ वर्ष, सुकृष्णा आर्या १२ वर्ष, महाकृष्णा आर्या १३ वर्ष, वीरकृष्णा आर्या १४ वर्ष, रामकृष्णा आर्या १५ वर्ष, प्रियसेनकृष्णा आर्या १६ वर्ष, महासेन कृष्णा आर्या १७ वर्ष। (अन्तगड सूत्र आठवां वर्ग)

६८७- आवश्यक के दस नाम

उपयोग पूर्वक आवश्यक सूत्र का श्रवण करना, यतना पूर्वक पडिलेहणा वगैरह आवश्यक कार्य करना, सुबह शाम पापों का प्रतिक्रमण करना तथा साधु और श्रावक के लिए शास्त्रों में बताए गए कर्तव्य आवश्यक कहलाते हैं। इसके दस नाम हैं-

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुव निग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्क वग्गो नाओ आराहणा मग्गो॥

(१) आवश्यक- जो अवश्य करने योग्य हो उसे आवश्यक अथवा आवासक कहते हैं। अथवा जो गुणों का आधार है वह आवश्यक है। या जो क्रिया आत्मा को ज्ञान आदि गुणों के वश में करती है वह आवश्यक है। जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों के समीप ले जाता है, उसे गुणों द्वारा सुगन्धित करता है उसे आवासक कहते हैं। अथवा जो आत्मा को ज्ञानादि वस्त्र द्वारा सुशोभित करे, या जो आत्मा का दोषों से संवरण करे अर्थात् दोष न आने दे वह आवासक है।

(२) अवश्यकरणीय- मोक्षाभिलाषी व्यक्ति द्वारा जो अवश्य किया जाता है उसे अवश्यकरणीय कहते हैं।

(३) ध्रुव- जो अर्थ से शाश्वत है।

(४) निग्रह- जिससे इन्द्रिय और कषाय वगैरह भाव शत्रुओं का निग्रह अर्थात् दमन हो।

(५) विशुद्धि-कर्म से मलीन आत्मा की विशुद्धि का कारण।

(६) षडध्ययन-सामायिक आदि छः अध्ययन वाला। सामा-

यिक आदि का स्वरूप दूसरे भाग बोल नं० ४७६ में दिया गया है।
(७) वर्ग- जिस के द्वारा राग द्वेष आदि दोषों का वर्जन-त्याग किया जाय।
(८) न्याय- मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय होने से न्याय है अथवा जीव और कर्म के अवास्तविक सम्बन्ध को दूर करके उन दोनों का विवेक कराने वाला होने से न्याय है।
(९) आराधना- मोक्ष की आराधना का कारण होने से इसका नाम आराधना है।
(१०) मार्ग- मोक्ष रूपी नगर में पहुँचने का रास्ता होने से इसका नाम मार्ग है।

(विशेषावश्यक भाष्य गा० ८७२-८७६) (अनुयोग द्वार आवश्यक प्रकरण)

६८८- दृष्टिवाद के दस नाम

जिसमें भिन्न भिन्न दर्शनों का स्वरूप बताया गया हो उसे दृष्टिवाद कहते हैं। इसके दस नाम हैं। वे ये है-
(१) दृष्टिवाद।
(२) हेतुवाद- इष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु कहलाता है जैसे यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि इसमें धुआँ दिखाई देता है। यहाँ धूम हेतु हमारे इष्ट अर्थ यानी पर्वत में अग्नि साध्य को सिद्ध करता है। इस प्रकार के हेतुओं का जिस में वर्णन हो उसे हेतुवाद कहते हैं, अथवा हेतु अनुमान का अङ्ग है अतः यहाँ उपचार से हेतु शब्द से अनुमान का ग्रहण करना चाहिए। अनुमान आदि का वर्णन जिसमें हो उसे हेतुवाद कहते हैं।
(३) भूत वाद- भूत यानी सद्भूत पदार्थों का जिस में वर्णन किया गया हो उसे भूतवाद कहते हैं।
(४) तथ्यवाद- (तत्त्व वाद) तत्त्व यानी वस्तुओं का जिसमें

वर्णन हो अथवा तथ्य यानी सत्य पदार्थ का वर्णन जिसमें हो उसे तत्त्ववाद या तथ्यवाद कहते हैं।

(५) सम्यग्वाद- वस्तुओं के अविपरीत अर्थात् सत्य स्वरूप को बतलाने वाला वाद सम्यग्वाद कहलाता है।

(६) धर्मवाद- वस्तुओं के पर्यायों को धर्म कहते हैं अथवा चारित्र को भी धर्म कहते हैं। इनका जिसमें वर्णन हो उसे धर्मवाद कहते हैं।

(७) भाषा विजय वाद-- सत्या, असत्या आदि भाषाओं का निर्णय करने वाले या भाषा की समृद्धि जिसमें बतलाई गई हो उसे भाषा विजय वाद कहते हैं।

(८) पूर्वगत वाद- उत्पाद आदि चौदह पूर्वों का स्वरूप बतलाने वाला वाद पूर्वगत वाद कहलाता है।

(९) अनुयोगगत वाद- अनुयोग दो तरह का है। प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग।

तीर्थङ्करों के पूर्व भव आदि का व्याख्यान जिस ग्रन्थ में किया गया हो उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। भरत चक्रवर्ती आदि वंशजों के मोक्ष गमन का और अनुत्तर विमान आदि का वर्णन जिस ग्रन्थ में हो उसे गण्डिकानुयोग कहते हैं।

पूर्वगत वाद और अनुयोग गत वाद ये दोनों वाद दृष्टिवाद के ही अंश हैं किन्तु यहाँ पर अवयव में समुदाय का उपचार करके इन दोनों को दृष्टिवाद ही कहा गया है।

(१०) सर्व प्राण भूत जीव सत्त्व सुखावह वाद- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। वृक्ष आदि वनस्पति को भूत कहते हैं। पञ्चेन्द्रिय प्राणी जीव कहलाते हैं और पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय को सत्त्व कहते हैं। इन सब प्राणियों को सुख का देने वाला वाद सर्व प्राण भूत

जीव सत्त्व सुखावह वाद कहलाता है। इसमें प्राणियों के संयम का प्रतिपादन किया गया है। तथा इस वाद का अध्ययन मोक्ष का कारण माना गया है। इसीलिए यह सर्व प्राण भूत जीव सत्त्व सुखावह वाद कहलाता है। (ठाणांग, सूत्र ७८२)

६८६- पइण्णा दस

तीर्थङ्कर या गणधरों के सिवाय सामान्य साधुओं द्वारा रचे गए ग्रन्थ पइण्णा (प्रकीर्णक) कहलाते हैं।

(१) चउसरण पइण्णा- इसमें ६३ गाथायें हैं। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म इन चार का शरण महान् कल्याणकारी है। इनकी यथावत् आराधना करने से जीव को शाश्वत सुखों की प्राप्ति होती है। इस पइण्णा में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म के गुणों का कथन किया गया है।

(२) आउर पच्चक्खाण पइण्णा- इसमें ७० गाथाएं हैं। बाल मरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण का स्वरूप काफी विस्तार के साथ बतलाया गया है। बालमरण से मरने वाले प्राणियों को बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। पण्डितमरण से संसार के बन्धन टूट जाते हैं। इसलिए प्राणियों को पण्डितमरण की आराधना करनी चाहिए।

(३) महा पच्चक्खाण पइण्णा- इसमें १४२ गाथाएं हैं। इनमें बालमरण आदि का ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। मरण तो धीरपुरुष और कायर पुरुष दोनों को अवश्य प्राप्त होता है। ऐसी दशा में धैर्य्य पूर्वक मरना ही श्रेष्ठ है जिससे श्रेष्ठ गति प्राप्त हो या मोक्ष की प्राप्ति हो। इसलिए अन्तिम अवस्था में अठारह पापों का त्याग कर निःशल्य हो सब जीवों को खमा कर धैर्य्य पूर्वक पण्डित मरण मरना चाहिए।

(४) भत्त परिण्णा- इसमें १७२ गाथाएं हैं। इस पइण्णा में

भक्त परिज्ञा, इंगिनी, पादपोपगमन आदि का स्वरूप बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त नमस्कार, मिथ्यात्व त्याग, सम्यक्त्व, भक्ति, दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह, नियाणा, इन्द्रिय दमन, कषाय, कषायों का विजय, वेदना इत्यादि विषयों का वर्णन भी इस पइण्णा में है।

(५) तन्दुलवेयालीय– इस में १३८ गाथाएं हैं। इनमें मुख्यतः गर्भ में रहे हुए जीव की दशा, आहार आदि का वर्णन किया गया है। इसके सिवाय जीव की गर्भ में उत्पत्ति किस प्रकार होती है? वह किस प्रकार आहार करता है? उसमें मातृअङ्ग और पितृअङ्ग कौन कौन से हैं? गर्भ की अवस्था, शरीर की उत्पत्ति का कारण मनुष्य की दस दशाएं, जोड़ा, संहनन, संस्थान, प्रस्थक, आढक आदि का परिमाण, काया का अशुचिपन स्त्री के शरीर का विशेष अशुचिपन, स्त्री के ६३ नाम और उनकी ६३ उपमा आदि आदि विषय भी विस्तार के साथ वर्णित किये गये हैं। मरण के समय पुरुष को स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सभी छोड़ देते हैं, केवल धर्म ही एक ऐसा परम मित्र है जो जीव के साथ जाता है। धर्म ही शरण रूप है। इस लिए ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे सब दुःखों से छुटकारा होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

(६) संथार पइण्णा– इसमें १२३ गाथाएं हैं, जिनमें मुख्य रूप से संथारे (मारणान्तिक शय्या) का वर्णन किया गया है। संथारे की महिमा, संथारा करने वाले का अनुमोदन, संथारे की अशुद्धि और विशुद्धि, संथारे में आहारत्याग, क्षमा याचना, ममत्व त्याग आदि का वर्णन भी इसी पइण्णा में है।

(७) गच्छाचार पइण्णा– इसमें १३७ गाथाएं हैं। इनमें बतलाया गया है कि श्रेष्ठ गच्छ में रह कर मुनि आत्मकल्याण

कर सकता है। गच्छ में रहने का श्रेष्ठ फल, गच्छ, गणि और आचार्य का स्वरूप गीतार्थ साधु के गुण वर्णन, गच्छ का आचार आदि विषयों का वर्णन भी इस पइण्णा में विस्तार पूर्वक किया गया है।
(८) गणिविज्जा पइण्णा– इसमें ८२ गाथाएं हैं। तिथि, नक्षत्र आदि के शुभाशुभ से शकुनों का विचार विस्तार पूर्वक बतलाया गया है। किन तिथियों में किधर गमन करने से किस अर्थ की प्राप्ति होती है इसका भी विचार किया गया है।
(९) देविंदथव पइण्णा– इसमें ३०७ गाथाएं हैं। देवेन्द्रों द्वारा की गई तीर्थङ्करों की स्तुति, देवेन्द्रों की गिनती, भवनपतियों के इन्द्र चमरेन्द्र आदि की स्थिति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी, और वैमानिक देवों के भवनों का वर्णन, उनके इन्द्र की स्थिति, अल्प बहुत्व, सिद्धों के सुख आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।
(१०) मरण समाहि– इस में ६६३ गाथाएं हैं। समाधि पूर्वक मरण कैसा होता है और वह किस प्रकार प्राप्त होता है यह इसमें बतलाया गया है। आराधना, आराधक अनाराधक का स्वरूप, शल्योद्धार, आलोचना, ज्ञानादि में उद्यम, ज्ञान की महिमा, संलेखना, संलेखना की विधि, राग द्वेष का निग्रह, प्रमाद का त्याग, ममत्व एवं भाव शल्य का त्याग, महाव्रतों की रक्षा, पण्डित मरण, उत्तम अर्थ की प्राप्ति, जिनवचनों की महिमा, जीव का दूसरी गति में गमन, पूर्वभव के दुःखों का स्मरण, जिनधर्म से विचलित न होने वाले गजसुकुमाल, चिलातिपुत्र, धन्नाजी, शालिभद्र, पाँच पाण्डव आदि के दृष्टान्त, परिषह, उपसर्ग का सहन, पूर्वभव का चिन्तन, जीव की नित्यता, अनित्यता, एकत्व आदि भावनाएं इत्यादि विषयों का वर्णन इस पइण्णा में विस्तार के साथ किया गया है। अन्त में मोक्ष के सुखों का वर्णन और उनकी अपूर्वता बताई गई है।

(पइण्णा दस)

६९०- अस्वाध्याय (आन्तरिक्ष) दस

वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय जिस काल में नहीं किया जा सकता हो उसे अस्वाध्याय कहते हैं उसमें आन्तरिक्ष अर्थात् आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के दस भेद हैं-

(१) उक्कावाते (उल्कापात)- पूँछ वाले तारे आदि के टूटने को उल्कापात कहते हैं।

(२) दिसिदाघ (दिग्दाह)- दिशाओं में दाह का होना। इसका यह अभिप्राय है कि किसी एक दिशा में महानगर के दाह के समान प्रकाश का दिखाई देना। जिसमें नीचे अन्धकार और ऊपर प्रकाश दिखाई देता है।

(३) गज्जिते (गर्जित)- आकाश में गर्जना का होना। भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा ७ में 'गहगज्जिअ' यह पाठ है। उसका अर्थ है ग्रहों की गति के कारण आकाश में होने वाली कड़-कड़ाहट या गर्जना।

(४) विज्जुते (विद्युत्)- बिजली का चमकना।

(५) निग्घाते (निर्घात)- मेघों से आच्छादित या अनाच्छादित आकाश के अन्दर व्यन्तर देवता कृत महान् गर्जने की ध्वनि होना निर्घात कहलाता है।

(६) जूयते (यूपक)- सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का जिस काल में सम्मिश्रण होता है वह यूपक कहलाता है। इसका यह अभिप्राय है कि चन्द्र प्रभा से आवृत सन्ध्या मालूम नहीं पड़ती। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा आदि तीन तिथियों में अर्थात् एकम, दूज, और तीज को सन्ध्या का भान नहीं होता। सन्ध्या का यथावत् ज्ञान न होने के कारण इन तीन दिनों के अन्दर प्रादोषिक काल का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः इन

तीन दिनों में कालिक सूत्रों का अस्वाध्याय होता है। ये तीन दिन अस्वाध्याय के हैं।

नोट- व्यवहार भाष्य में शुक्ल पक्ष की द्वितीया, तृतीया और चतुर्थी ये तीन तिथियाँ भी यूपक मानी गई हैं।

(७) जक्खालित्त (यक्षादीप्त)-कभी कभी किसी दिशा में बिजली के समान जो प्रकाश होता है वह व्यन्तर देव कृत अग्नि दीपन यक्षादीप्त कहलाता है।

(८) धूमिता (धूमिका) - कोहरा या धँवर जिससे अंधेरा सा छा जाता है।

(९) महिका- तुषार या वर्फ का पड़ना।

धूमिका और महिका कार्तिक आदि गर्भमासों में गिरती हैं और गिरने के बाद ही सूक्ष्म होने के कारण अप्काय स्वरूप हो जाती हैं।

(१०) रय उग्घाते (रज उद्‌घात)- स्वाभाविक परिणाम से रेणु (धूलि) का गिरना रज उद्‌घात कहलाता है।

उपरोक्त दस अस्वाध्यायों के समय को छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि इन अस्वाध्याय के समयों में स्वाध्याय करने से कभी कभी व्यन्तर जाति के देव कुछ उपद्रव कर देते हैं। अतः अस्वाध्याय के समय में स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(ठाणांग, सूत्र ७१४)

ऊपर लिखे अस्वाध्यायों में से (१) उल्कापात (२) दिग्दाह (३) विद्युत् (४) यूपक और (५) यक्षादीप्त इन पाँच में एक पौरुषी तक अस्वाध्याय रहता है। गर्जित में दो पौरुषी तक। निर्घात में अहोरात्र तक। धूमिता, महिका और रज उद्‌घात में जितने समय तक ये गिरते रहें तभी तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(व्यवहार भाष्य और निर्युक्ति उद्देशा ६) (प्रवचनसारोद्धार द्वार २६८)

६९१- अस्वाध्याय (औदारिक) दस

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अस्वाध्याय हैं। यथा- (१) अस्थि (२) मांस (३) शोणित (४) अशुचिसामन्त (५) श्मशानसामन्त (६) चन्द्रोपराग (७) सूर्योपराग (८) पतन (९) राजविग्रह (१०) मृत औदारिक शरीर।

(१) अस्थि (हड्डी) (२) मांस (३) शोणित (रुधिर)- ये तीनों चीजें मनुष्य और तिर्यञ्च के औदारिक शरीर में पाई जाती हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से इस प्रकार अस्वाध्याय माना गया है।

द्रव्य से- तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के अस्थि, मांस और रुधिर अस्वाध्याय के कारण हैं। किसी किसी ग्रन्थ में 'चर्म' भी लिखा है।

क्षेत्र से- साठ हाथ की दूरी तक अस्वाध्याय के कारण हैं।

काल से- उपरोक्त तीनों में से किसी के होने पर तीन पहर तक अस्वाध्याय काल माना गया है किन्तु बिलाव (मार्जार) आदि के द्वारा चूहे आदि के मार देने पर एक दिन रात तक अस्वाध्याय माना गया है।

भाव से- नन्दी आदि कोई सूत्र अस्वाध्याय काल में नहीं पढ़ना चाहिए।

मनुष्य सम्बन्धी अस्थि आदि के होने पर भी इसी तरह समझना चाहिए केवल इतनी विशेषता है कि क्षेत्र की अपेक्षा से एक सौ हाथ की दूरी तक।

काल की अपेक्षा- एक अहोरात्रि अर्थात् एक दिन और रात और समीप में स्त्री के रजस्वला होने पर तीन दिन का अस्वाध्याय होता है। लड़की पैदा होने पर आठ दिन और लड़का पैदा होने पर सात दिन तक अस्वाध्याय रहता है। हड्डियों की अपेक्षा से ऐसा जानना चाहिए की जीव द्वारा शरीर को छोड़ दिया

जाने पर यानि पुरुष की मृत्यु हो जाने पर यदि उसकी हड्डियाँ न जलें तो बारह वर्ष तक सौ हाथ के अन्दर अस्वाध्याय का कारण होती हैं। किन्तु अग्नि द्वारा दाह संस्कार कर दिये जाने पर या पानी में वह जाने पर हड्डियाँ अस्वाध्याय का कारण नहीं रहतीं। हड्डियों को जमीन में दफना देने पर (गाड़ देने पर) अस्वाध्याय माना गया है।

(४) अशुचि सामन्त- अशुचि रूप मूत्र और पुरीष (विष्टा) यदि नजदीक में पड़े हुए हों तो अस्वाध्याय होता है। इसके लिए ऐसा माना गया है कि जहाँ रुधिर, मूत्र और विष्टा आदि अशुचि पदार्थ दृष्टि गोचर होते हों तथा उनकी दुर्गन्धि आती हो वहां तक अस्वाध्याय माना गया है।

(५) श्मशान सामन्त- श्मशान के नजदीक यानि जहां मनुष्य आदि का मृतक शरीर पड़ा हुआ हो। उसके आसपास कुछ दूरी तक (१०० हाथ तक) अस्वाध्याय रहता है।

(६) चन्द्रग्रहण और (७) सूर्य्य ग्रहण के समय भी अस्वाध्याय माना गया है। इसके लिए समय का परिमाण इस प्रकार माना गया है। चन्द्र या सूर्य्य का ग्रहण होने पर यदि चन्द्र और सूर्य्य का सम्पूर्ण ग्रहण (ग्रास) हो जाय तो ग्रसित होने के समय से लेकर चन्द्रग्रहण में उस रात्रि और दूसरा एक दिन रात छोड़ कर तथा सूर्य्य ग्रहण में वह दिन और दूसरा एक दिन रात छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिये किन्तु यदि उसी रात्रि अथवा दिन में ग्रहण से छुटकारा हो जाय तो चन्द्र ग्रहण में उस रात्रि का शेष भाग और सूर्यग्रहण में उस दिन का शेष भाग और उस रात्रि तक अस्वाध्याय रहता है।

चन्द्र और सूर्यग्रहण का अस्वाध्याय आन्तरिक्ष यानि आकाश सम्बन्धी होने पर भी यहाँ पर इसकी विवक्षा नहीं की गई है किन्तु

चन्द्र और सूर्य का विमान पृथ्वीकायिक होने से इनकी गिनती औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय में की गई है।

(८) पतन– पतन नाम मरण का है। राजा, मन्त्री, सेनापति या ग्राम के ठाकुर की मृत्यु हो जाने पर अस्वाध्याय माना गया है। राजा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा गद्दी पर न बैठे तब तक किसी प्रकार का भय होने पर अथवा निर्भय होने पर भी अस्वाध्याय माना गया है। दूसरे राजा के होजाने पर और शहर में निर्भय की घोषणा (ढिंढोरा) हो जाने पर भी एक अहोरात्र अर्थात् एक दिन रात तक अस्वाध्याय रहता है। अतः उस समय तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

ग्राम के किसी प्रतिष्ठित पुरुष की या अधिकार सम्पन्न पुरुष की अथवा शय्यातर और अन्य किसी पुरुष की भी उपाश्रय से सात घरों के अन्दर यदि मृत्यु हो जाय तो एक दिन रात तक अस्वाध्याय रहता है अर्थात् स्वाध्याय नहीं किया जाता है।

यहाँ पर किसी आचार्य का यह भी मत है कि ऐसे समय में स्वाध्याय बन्द करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु धीरे धीरे मन्द स्वर से स्वाध्याय करना चाहिए, उच्च स्वर से नहीं क्योंकि उच्च स्वर से स्वाध्याय करने पर लोक में निन्दा होने की सम्भावना रहती है।

(९) राजविग्रह– राजा, सेनापति, ग्राम का ठाकुर या किसी बड़े अर्थात् प्रतिष्ठित पुरुष के आपसी मल्ल युद्ध होने पर या अन्य राजा के साथ संग्राम होने पर अस्वाध्याय माना गया है। जिस देश में जितने समय तक राजा आदि का संग्राम चलता रहे तब तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

(१०) मृत औदारिक शरीर– उपाश्रय के समीप में अथवा उपाश्रय के अन्दर मनुष्यादि का मृत औदारिक शरीर पड़ा हुआ

हो तो एक सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना गया है। मनुष्यादि का शरीर खुला पड़ा हो तो सौ हाथ तक अस्वाध्याय है और यदि ढका हुआ हो तो भी उसके कुत्सित होने के कारण सौ हाथ जमीन छोड़ कर ही स्वाध्याय करना चाहिए।

(ठाणाग, सूत्र ७१४)

नोट–असज्झाओं का अधिक विस्तार व्यवहार सूत्र भाष्य और निर्युक्ति उद्देशे ७ से जानना चाहिए।

६९२– धर्म दस

वस्तु के स्वभाव, ग्राम नगर वगैरह के रीति रिवाज तथा साधु वगैरह के कर्तव्य को धर्म कहते हैं। धर्म दस प्रकार का है–

(१) ग्रामधर्म– हर एक गाँव के रीति रिवाज तथा उनकी व्यवस्था अलग अलग होती है। इसी को ग्रामधर्म कहते हैं।

(२) नगरधर्म– शहर के आचार को नगरधर्म कहते हैं। वह भी हर एक नगर का प्रायः भिन्न भिन्न होता है।

(३) राष्ट्रधर्म– देश का आचार।

(४) पाखण्ड धर्म– पाखण्डी अर्थात् विविध सम्प्रदाय वालों का आचार।

(५) कुलधर्म– उग्र कुल आदि कुलों का आचार। अथवा गच्छों के समूह रूप चान्द्र वगैरह कुलों का आचार अर्थात् समाचारी।

(६) गणधर्म– मल्ल वगैरह गणों की व्यवस्था अथवा जैनियों के कुलों का समुदाय गण कहलाता है, उसकी समाचारी।

(७) संघधर्म– मेले वगैरह का आचार अर्थात् कुछ आदमी इकट्ठे होकर जिस व्यवस्था को बाँध लेते हैं, अथवा जैन सम्प्रदाय के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की व्यवस्था।

(८) श्रुतधर्म– श्रुत अर्थात् आचाराङ्ग वगैरह शास्त्र दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को ऊपर उठाने वाले होने से धर्म हैं।

(६) चारित्रधर्म– संचित कर्मों को जिन उपायों से रिक्त अर्थात् खाली किया जाय उसे चारित्रधर्म कहते हैं।

(१०) अस्तिकायधर्म– अस्ति अर्थात् प्रदेशों की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। उनके स्वभाव को अस्तिकाय धर्म कहते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्गल को गति में सहायता देना है।

(ठाणांग, सूत्र ७६०)

नोट– दस धर्मों की विस्तृत व्याख्या 'हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम (मालवा)' द्वारा प्रकाशित धर्मव्याख्या नामक पुस्तक में है।

६६३– सम्यक्त्व प्राप्ति के दस बोल

जीव अजीव आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा करने को सम्यक्त्व कहते हैं। जीवों के स्वभाव भेद के अनुसार इसकी प्राप्ति दस प्रकार से होती है।

निसग्गुवएसरुई आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई किरियासंखेवधम्मरुई ॥

(१) निसर्गरुचि– जीवादि तत्त्वों पर जाति स्मरणादि ज्ञान द्वारा जान कर श्रद्धान करना निसर्गरुचि सम्यक्त्व है। अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का क्षयोपशम, क्षय या उपशम होने पर गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जाति स्मरण या प्रतिभा आदि ज्ञान द्वारा जीव आदि तत्त्वों का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपों द्वारा जान कर उन पर दृढ श्रद्धा करना तथा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बताए गए जीवादि तत्त्व ही यथार्थ हैं, सत्य हैं, वैसे ही हैं, इस प्रकार विश्वास होना निसर्गरुचि है।

(२) उपदेशरुचि– केवली भगवान् अथवा छद्मस्थ गुरुओं का उपदेश सुन कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना उपदेश रुचि है।

(३) आज्ञा रुचि- राग, द्वेष, मोह तथा अज्ञान से रहित गुरु की आज्ञा से तत्त्वों पर श्रद्धा करना आज्ञारुचि है। जिस जीव के मिथ्यात्व और कषायों की मन्दता होती है, उसे आचार्य की आज्ञा मात्र से जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा हो जाती है, इसी को आज्ञा रुचि कहते हैं।

(४) सूत्ररुचि- अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य सूत्रों को पढ़ कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान करना सूत्ररुचि है।

(५) बीजरुचि- जिस तरह जल पर तेल की बूंद फैल जाती है। एक बीज बोने से सैंकड़ों बीजों की प्राप्ति हो जाती है। उसी तरह क्षयोपशम के बल से एक पद, हेतु या दृष्टान्त से अपने आप बहुत से पद हेतु तथा दृष्टान्तों को समझ कर श्रद्धा करना बीज रुचि है।

(६) अभिगम रुचि- ग्यारह अंग, दृष्टिवाद तथा दूसरे सभी सिद्धान्तों को अर्थ सहित पढ़ कर श्रद्धा करना अभिगम रुचि है।

(७) विस्ताररुचि- द्रव्यों के सभी भावों को बहुत से प्रमाण तथा नयों द्वारा जानने के बाद श्रद्धा होना विस्ताररुचि है।

(८) क्रियारुचि- चारित्र, तप, विनय, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों आदि क्रियाओं का शुद्ध रूप से पालन करते हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति होना क्रियारुचि है।

(९) संक्षेपरुचि- दूसरे मत मतान्तरों तथा शास्त्रों वगैरह का ज्ञान न होने पर भी जीवादि पदार्थों में श्रद्धा रखना संक्षेपरुचि है। अथवा बिना अधिक पढ़ा लिखा होने पर भी श्रद्धा का शुद्ध होना संक्षेपरुचि है।

(१०) धर्मरुचि- वीतराग द्वारा प्रतिपादित द्रव्य और शास्त्र का ज्ञान होने पर श्रद्धा होना धर्मरुचि है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २८ गाथा १६-२७)

६९४- सराग सम्यग्दर्शन के दस प्रकार

जिस जीव के मोहनीय कर्म उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है उसकी तत्त्वार्थ श्रद्धा को सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस के निसर्ग रुचि से लेकर धर्म रुचि तक ऊपर लिखे अनुसार दस भेद हैं। (ठाणांग, सूत्र ७५१) (पन्नवणा पद १)

६९५- मिथ्यात्व दस

जो बात जैसी हो उसे वैसा न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है। इसके दस भेद हैं-

(१) अधर्म को धर्म समझना।
(२) वास्तविक धर्म को अधर्म समझना।
(३) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना।
(४) मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना।
(५) अजीव को जीव समझना।
(६) जीव को अजीव समझना।
(७) कुसाधु को सुसाधु समझना।
(८) सुसाधु को कुसाधु समझना।
(९) जो व्यक्ति राग द्वेष रूप संसार से मुक्त नहीं हुआ है उसे मुक्त समझना।
(१०) जो महापुरुष संसार से मुक्त हो चुका है, उसे संसार में लिप्त समझना। (ठाणांग, सूत्र ७३४)

६९६- दस प्रकार का शस्त्र

जिससे प्राणियों की हिंसा हो उसे शस्त्र कहते हैं। वे शस्त्र दस प्रकार के बताए गए हैं। यह द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र के भेद से दो प्रकार का है। पहिले द्रव्य शस्त्र के भेद बतलाये जाते हैं।

(१) अग्नि- अपनी जाति से भिन्न विजातीय अग्नि की अपेक्षा

स्वकाय शस्त्र है। पृथ्वीकाय अप्कायादि की अपेक्षा परकाय शस्त्र है।
(२) विष- स्थावर और जंगम के भेद से विष दो प्रकार का है।
(३) लवण- नमक (४) स्नेह- तैल घी आदि। (५) खार।
(६) अम्ल- काञ्जी अर्थात् एक प्रकार का खट्टा रस जिसे हरे शाक वगैरह में डालने से वह अचित्त हो जाता है। ये छः द्रव्य शस्त्र हैं। आगे के चार भाव शस्त्र हैं। वे इस प्रकार हैं- (७) दुष्प्रयुक्त मन (८) दुष्प्रयुक्त वचन (९) दुष्प्रयुक्त शरीर।
(१०) अविरति- किसी प्रकार का प्रत्याख्यान न करना अप्रत्याख्यान या अविरति कहलाता है। यह भी एक प्रकार का शस्त्र है। (ठाणांग, सूत्र ७४३)

६९७-शुद्ध वागनुयोग के दस प्रकार

वाक्य में आए हुए जिन पदों का वाक्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है उसे शुद्धवाक् कहते हैं। जैसे 'इत्थिओ सयणाणि य' यहाँ पर 'य'। इस प्रकार के शुद्धवाक् का प्रयोग शास्त्रों में बहुत स्थानों पर आता है। उसका अनुयोग अर्थात् वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध का विचार दस प्रकार से होता है। यद्यपि उन के बिना वाक्य का अर्थ करने में कोई बाधा नहीं पड़ती, किन्तु वे वाक्य के अर्थ को व्यवस्थित करते हैं। वे दस प्रकार से प्रयुक्त होते हैं-

(१) चकार- प्राकृत में 'च' की जगह 'य' आता है। समाहार इतरेतरयोग, समुच्चय, अन्वाचय, अवधारण, पादपूरण और अधिक वचन वगैरह में इसका प्रयोग होता है। जैसे-'इत्थिओ सयणाणि य' यहाँ पर स्त्रियाँ और शयन इस अर्थ में 'च' समुच्चय के लिए है अर्थात् दोनों के अपरिभोग को समान रूप से बताने के लिए कहा गया है।

(२) मकार- 'मा' का अर्थ है निषेध। जैसे 'समणं वा माहणं

वां ' यहाँ मकार निषेध अर्थ में प्रयुक्त है। ' जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव ' यहाँ मकार का प्रयोग सौन्दर्य के लिए ही किया गया है। 'जेणेव' करने से भी वही अर्थ निकल जाता है।
(३) अपि– इसका प्राकृत में पि हो जाता है। इसके अर्थ हैं सम्भावना, निवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गर्हा, शिष्यामर्षण, भूषण और प्रश्न। जैसे– ' एवं पि एगे आसासे ' यहाँ पर अपि शब्द प्रकारान्तर के समुच्चय के लिए है और बताता है, 'इस प्रकार भी और दूसरी तरह से भी।'
(४) सेयंकार– से शब्द का प्रयोग अथ के लिए किया जाता है। अथ का प्रयोग प्रक्रिया (नए प्रकरण या ग्रन्थ का प्रारम्भ करना), प्रश्न, आनन्तर्य (इस प्रकरण के बाद अमुक शुरू किया जाता है), मंगल, प्रतिवचन (हाँ का उत्तर देना, जैसे नाटकों में आता है, अथ किम्!) और समुच्चय के लिए होता है। ' वह ' और ' उसके ' अर्थ में भी इस का प्रयोग होता है।

अथवा इसकी संस्कृत श्रेयस्कर है। इसका अर्थ है कल्याण जैसे– सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं।

सेय शब्द का अर्थ भविष्यत्काल भी है जैसे– 'सेयं काले अकम्मं वावि भवई' यहाँ पर सेय शब्द का अर्थ भविष्यत्काल है।
(५) सायंकार– सायं का अर्थ है सत्य। तथावचन, सद्भाव और प्रश्न इन तीन अर्थों में इसका प्रयोग होता है।
(६) एकत्व – बहुत सी बातें जहाँ मिल कर किसी एक वस्तु के प्रति कारण हों वहाँ एक वचन का प्रयोग होता है। जैसे, सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ' यहाँ अगर 'मार्गाः ' बहुवचन कर दिया जाता तो इसका अर्थ हो जाता ज्ञान, दर्शन और चारित्र अलग अलग मोक्ष के मार्ग हैं। ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग हैं, अलग अलग नहीं, यह बताने के लिए मार्ग एक वचन कहा गया है।

(७) पृथक्त्व- भेद अर्थात् द्विवचन और बहुवचन। जैसे- 'धम्मत्थिकाये धम्मत्थिकायदेसे धम्मत्थिकायपदेसा' यहाँ पर धम्मत्थिकायपदेसा' यह बहुवचन उन्हें असंख्यात बताने के लिए दिया है।

(८) संयूथ-इकट्ठे किए हुए या समस्त पदों को संयूथ कहते हैं। जैसे- 'सम्यग्दर्शनशुद्धं' यहाँ पर सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध, उसके लिए शुद्ध, सम्यग्दर्शन से शुद्ध इत्यादि अनेक अर्थ मिले हुए हैं।

(९) संक्रामित-जहाँ विभक्ति या वचन को बदल कर वाक्य का अर्थ किया जाता है। जैसे- साहूणं वन्दणेणं नासति पावं असंकिया भावा'। यहाँ 'साधूनाम्' इस षष्ठी को 'साधुभ्यः' पञ्चमी में बदल कर फिर अर्थ किया जाता है 'साधुओं की वन्दना से पाप नष्ट होता है और साधुओं से भाव अशंकित होते हैं।' अथवा 'अच्छन्दा जे न भुञ्जन्ति, न से चाइत्ति वुच्चइ' यहाँ 'वह त्यागी नहीं होता' इस एक वचन को बदल कर बहु-वचन किया जाता है- 'वे त्यागी नहीं कहे जाते।'

(१०) भिन्न- क्रम और काल आदि के भेद से भिन्न अर्थात् विसदृश। जैसे- तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं।' यहाँ पर तीन करण और तीन योग से त्याग होता है। मन, वचन और काया रूप तीन योगों का करना, कराना और अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ क्रम रखने से मन से करना, वचन से कराना और काया से अनुमोदन करना यह अर्थ हो जायगा। इस लिए यह क्रम छोड़ कर तीनों करणों का सम्बन्ध प्रत्येक योग से होता है अर्थात् मन से करना, कराना और अनुमोदन करना। इसी प्रकार वचन से तथा काया से करना, कराना और अनुमोदन रूप अर्थ किया जाता है। इसी को क्रम भिन्न कहते हैं।

इसी प्रकार काल भिन्न होता है। जैसे-जम्बूद्वीपपण्णत्ति आदि

में भगवान् ऋषभदेव के लिए आया है 'सक्के देविंदे देवराया वंदति नमंसति' अर्थात् देवों का राजा देवेन्द्र शक्र वन्दना करता है, नमस्कार करता है। ऋषभदेव के भूत काल में होने पर भी यहाँ क्रिया में वर्तमान काल है। यद्यपि इस तरह काल में भेद होता है, फिर भी यह निर्देश तीनों कालों में इस बात की समानता बताने के लिए किया गया है अर्थात् देवेन्द्र भूत काल में तीर्थङ्करों को वन्दना करते थे, वर्तमान काल में करते हैं और भविष्यत्काल में करेंगे। इन तीनों कालों को बताने के लिए काल का भेद होने पर भी सामान्य रूप से वर्तमान काल दे दिया गया है। (ठाणांग, सूत्र ७४४)

६९८- सत्यवचन के दस प्रकार

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताना सत्यवचन है। एक जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताता है और दूसरी जगह दूसरे अर्थ को। ऐसी हालत में अगर वक्ता की विवक्षा ठीक है तो दोनों ही अर्थों में वह शब्द सत्य है। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य वचन दस प्रकार का है-

(१) जनपद सत्य- जिस देश में जिस वस्तु का जो नाम है, उस देश में वह नाम सत्य है। दूसरे किसी देश में उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी किसी भी विवक्षा में वह असत्य नहीं है। जैसे- कोंकण देश में पानी को पिच्च कहते हैं। किसी देश में पिता को भाई, सासु को आई इत्यादि कहते हैं। भाई और आई का दूसरा अर्थ होने पर भी उस देश में वह सत्य ही है।

(२) सम्मतसत्य- प्राचीन आचार्यों अथवा विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह शब्द सम्मत-सत्य है। जैसे पंकज का यौगिक अर्थ है कीचड़ से पैदा होने वाली वस्तु। कीचड़ से मेंढक, शैवाल, कमल आदि बहुत सी

वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, फिर भी शब्द शास्त्र के विद्वानों ने पङ्कज शब्द का अर्थ सिर्फ कमल मान लिया है। इस लिए पंकज शब्द से कमल ही लिया जाता है मेंढक आदि नहीं। यह सम्मत सत्य है।
(३) स्थापनासत्य-- सदृश या विसदृश आकार वाली वस्तु में किसी की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। जैसे–शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा आदि कहना। अथवा 'क' इस आकार विशेष को क कहना। वास्तव में क आदि वर्ण ध्वनिरूप हैं। पुस्तक के अक्षरों में उस ध्वनि की स्थापना की जाती है, अथवा आचारांग आदि श्रुत ज्ञान रूप हैं, लिखे हुए शास्त्रों में उन की स्थापना की जाती है। जम्बूद्वीप के नकशे को जम्बूद्वीप कहना सदृश आकार वाले में स्थापना है।
(४) नामसत्य–गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष का या वस्तु विशेष का वैसा नाम रख कर उस नाम से पुकारना नामसत्य है। जैसे-- किसी ने अपने लड़के का नाम कुलवर्द्धन रक्खा, लेकिन उसके पैदा होने के बाद कुल का हास होने लगा। फिर भी उसे कुलवर्द्धन कहना नामसत्य है। अथवा अमरावती देवों की नगरी का नाम है। वैसी बातें न होने पर भी किसी गाँव को अमरावती कहना नाम सत्य है।
(५) रूपसत्य–वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे– साधु के गुण न होने पर भी साधु वेश वाले पुरुष को साधु कहना।
(६) प्रतीतसत्य अर्थात् अपेक्षासत्य- किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बड़ी आदि कहना अपेक्षासत्य या प्रतीतसत्य है। जैसे मध्यमा अंगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहना।
(७) व्यवहारसत्य–जो बात व्यवहार में बोली जाती है। जैसे - पर्वत पर पड़ी हुई लकड़ियों के जलने पर भी पर्वत जलता है, यह

कहना। रास्ते के स्थिर होने पर भी कहना, यह मार्ग अमुक नगर को जाता है। गाड़ी के पहुँचने पर भी कहना कि गांव आगया।
(८) भावसत्य– निश्चय की अपेक्षा कई बातें होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसमें वही बताना। जैसे तोते में कई रंग होने पर भी उसे हरा कहना।
(९) योगसत्य– किसी चीज के सम्बन्ध से व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना। जैसे– लकड़ी ढोने वाले को लकड़ी के नाम से पुकारना।
(१०) उपमासत्य– किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना।

(ठाणाग. सूत्र ७४१) (पन्नवणा सूत्र भाषापद ११)
(धर्मसग्रह अधिकार ३ गाथा ४१ की टीका)

६९९–सत्यामृषा (मिश्र) भाषा के दस प्रकार

जिस भाषा में कुछ अंश सत्य तथा कुछ असत्य हो उसे सत्यामृषा (मिश्र) भाषा कहते हैं। इसके दस भेद हैं–
(१) उत्पन्नमिश्रिता– संख्या पूरी करने के लिए नहीं उत्पन्न हुओं के साथ उत्पन्न हुओं को मिला देना। जैसे– किसी गाँव में कम या अधिक बालक उत्पन्न होने पर भी 'दस बालक उत्पन्न हुए' यह कहना।
(२) विगतमिश्रिता– इसी प्रकार मरण के विषय में कहना।
(३) उत्पन्नविगतमिश्रिता– जन्म और मृत्यु दोनों के विषय में अयथार्थ कथन।
(४) जीवमिश्रिता– जीवित तथा मरे हुए बहुत से शंख आदि के ढेर को देख कर यह कहना अहो! यह कितना बड़ा जीवों का ढेर है। जीवितों को लेकर सत्य तथा मरे हुओं को लेने से असत्य होने के कारण यह भाषा सत्यामृषा है।

(५) अजीवमिश्रिता– उसी राशि को अजीवों का ढेर बताना।
(६) जीवाजीवमिश्रिता– उसी राशि में अयथार्थ रूप से यह बताना कि इतने जीव हैं और इतने अजीव।
(७) अनन्तमिश्रिता– अनन्तकायिक तथा प्रत्येकशरीरी वनस्पति काय के ढेर को देख कर कहना कि यह अनन्तकाय का ढेर है।
(८) प्रत्येकमिश्रिता– उसी ढेर को कहना कि यह प्रत्येक वनस्पति काय का ढेर है।
(९) अद्धामिश्रिता– दिन या रात वगैरह काल के विषय में मिश्रित वाक्य बोलना। जैसे जल्दी के कारण कोई दिन रहते कहे– उठो रात होगई। अथवा रात रहते कहे, सूरज निकल आया।
(१०) अद्धाद्धामिश्रिता– दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। उन दोनों के लिए मिश्रित वचन बोलना अद्धाद्धा मिश्रिता है जैसे जल्दी करने वाला कोई मनुष्य दिन के पहले पहर में भी कहे, दोपहर हो गया।

(पन्नवणा भाषापद ११)(ठाणांग, सूत्र ७४१)(धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा ४१ की टीका)

७००– मृषावाद दस प्रकार का

असत्यवचन को मृषावाद कहते हैं। इस के दस भेद हैं–
(१) क्रोधनिःसृत– जो असत्य वचन क्रोध में बोला जाय। जैसे क्रोध में कोई दूसरे को दास न होने पर भी दास कह देता है।
(२) माननिःसृत–मान अर्थात् घमण्ड में बोला हुआ वचन। जैसे घमण्ड में आकर कोई गरीब भी अपने को धनवान् कहने लगता है।
(३) मायानिःसृत– कपट से अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिए बोला हुआ झूठ।
(४) लोभनिःसृत– लोभ में आकर बोला हुआ वचन, जैसे कोई दुकानदार थोड़ी कीमत में खरीदी हुई वस्तु को अधिक कीमत की बता देता है।

(५) प्रेमनिःसृत-- अत्यन्त प्रेम में निकला हुआ असत्य वचन। जैसे प्रेम में आकर कोई कहता है- मैं तो आप का दास हूँ।
(६) द्वेषनिःसृत-- द्वेष से निकला हुआ वचन। जैसे द्वेष में आकर किसी गुणी को भी निर्गुण कह देना।
(७) हासनिःसृत- हँसी में झूठ बोलना।
(८) भयनिःसृत--चोर वगैरह से डर कर असत्य वचन बोलना।
(९) आख्यायिकानिःसृत-- कहानी वगैरह कहते समय उस में गप्प लगाना।
(१०) उपघातनिःसृत-- प्राणियों की हिंसा के लिए बोला गया असत्य वचन। जैसे भले आदमी को भी चोर कह देना।
(ठाणांग, सूत्र ७४१) (पन्नवणा पद ११) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा ४१ की टीका)

७०१- ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान बतलाये गये हैं। वे ये हैं-
(१) जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुँसक रहते हों ऐसे स्थान में ब्रह्मचारी को न रहना चाहिये। ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचारी के हृदय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं तथा चारित्र का विनाश, उन्माद और दाहज्वर आदि भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति होने की संभावना रहती है। अतिक्लिष्ट कर्मों के उदय से कोई कोई व्यक्ति केवलिप्ररूपित श्रुत चारित्र रूपी धर्म से गिर जाता है अर्थात् वह धर्म को ही छोड़ देता है। चूहे को बिल्ली का दृष्टान्त।
(२) स्त्री सम्बन्धी कथा न करे अर्थात् स्त्रियों की जाति, रूप कुल आदि की कथा न करे। निम्बू का दृष्टान्त।
(३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे। जिस आसन या जिस जगह पर स्त्री बैठी हो उसके उठ जाने पर एक मुहूर्त्त

तक ब्रह्मचारी को उस आसन या जगह पर न बैठना चाहिये। घी के घड़े को अग्नि का दृष्टान्त।

(४) स्त्रियों के मनोहर और मनोरम (सुन्दर) अङ्ग प्रत्यङ्गों को आसक्तिपूर्वक न देखे। कारी कराई हुई कच्ची आँख को सूर्य का दृष्टान्त।

(५) बाँस आदि की टाटी, भीत और वस्त्र (पर्दा) आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियों के विषयोत्पादक शब्द, रोने के शब्द, गीत, हँसी, आक्रन्द और विलाप आदि के शब्दों को न सुने। मोर को बादल की गर्जना का दृष्टान्त।

(६) पहले भोगे हुए काम भोगों का स्मरण न करे। मुसाफिरों को बुढ़िया की छाछ का दृष्टान्त।

(७) प्रणीत भोजन न करे अर्थात् जिसमें से घी की बूँदें टपक रही हों ऐसा सरस और काम को उत्तेजित करने वाला आहार ब्रह्मचारी को न करना चाहिए। सन्निपात के रोगी को दूध मिश्री के भोजन का दृष्टान्त।

(८) शास्त्र में बतलाए हुए परिमाण से अधिक आहार न करे। शास्त्र में पुरुष के लिए ३२ कवल और स्त्री के लिए २८ कवल आहार का परिमाण बतलाया गया है। जीर्ण कोथली का दृष्टान्त।

(९) स्नान मंजन आदि करके अपने शरीर को अलंकृत न करे। अलंकृत शरीर वाला पुरुष स्त्रियों द्वारा प्रार्थनीय होता है। जिससे ब्रह्मचर्य भङ्ग होने की सम्भावना रहती है। रंक के हाथ में गए हुए रत्न का दृष्टान्त।

(१०) सुन्दर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने।

उपरोक्त बातों का पालन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। इसी लिए ये ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान कहे जाते हैं।

(उत्तराध्ययन अध्ययन १६)

७०२– क्रोध कषाय के दस नाम

(१) क्रोध (२) कोप (३) रोष (४) दोष (५) अक्षमा (६) संज्वलन (७) कलह (८) चाण्डिक्य (९) भंडन (१०) विवाद।

(समवायांग, समवाय ५२)

७०३– अहंकार के दस कारण

दस कारणों से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वे ये हैं– (१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) श्रुतमद (५) ऐश्वर्य मद (६) रूप मद (७) तप मद (८) लब्धि मद। (९) नागसुवर्ण-मद (१०) अवधि ज्ञान दर्शन मद।

मेरी जाति सब जातियों से उत्तम है। मैं श्रेष्ठ जाति वाला हूँ। जाति में मेरी बराबरी करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। इस प्रकार जाति का मद करना जातिमद कहलाता है। इसी तरह कुल, बल आदि मदों के लिए भी समझ लेना चाहिए।

(९) नाग सुवर्ण मद–मेरे पास नाग कुमार, सुवर्ण कुमार आदि जाति के देव आते हैं। मैं कितना तेजस्वी हूँ कि देवता भी मेरी सेवा करते हैं। इस प्रकार मद करना।

(१०) अवधिज्ञान दर्शन मद–मनुष्यों को सामान्यतः जो अवधि ज्ञान और अवधि दर्शन उत्पन्न होता है उससे मुझे अत्यधिक विशेष ज्ञान उत्पन्न हुआ है। मेरे से अधिक अवधिज्ञान किसी भी मनुष्यादि को हो नहीं सकता। इस प्रकार से अवधिज्ञान और अवधि दर्शन का मद करना।

इस भव में जिस बात का मद किया जायगा, आगामी भव में वह प्राणी उस बात में हीनता को प्राप्त करेगा। अतः आत्मार्थी पुरुषों को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिए।

(ठाणांग, सूत्र ७१०)

७०४- प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) दस

अमुक समय के लिए पहले से ही किसी वस्तु के त्याग कर देने को प्रत्याख्यान कहते हैं। इसके दस भेद है--

अणागयमतिक्कंतं कोडीसहियं नियंटितं चेव।
सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं॥
संकेयं चेव अद्धाए पच्चक्खाणं दसविहं तु॥

(१) अनागत-- किसी आने वाले पर्व पर निश्चित किए हुए पच्चक्खाण को उस समय बाधा पड़ती देख पहिले ही कर लेना। जैसे पर्युषण में आचार्य या ग्लान तपस्वी की सेवा सुश्रूषा करने के कारण होने वाली अन्तराय को देख कर पहिले ही उपवास वगैरह कर लेना।

(२) अतिक्रान्त-- पर्युषणादि के समय कोई कारण उपस्थित होने पर बाद में तपस्या वगैरह करना अर्थात् गुरु तपस्वी और ग्लान की वैयावृत्त्य आदि कारणों से जो व्यक्ति पर्युषण वगैरह पर्वों पर तपस्या नहीं कर सकता, वह यदि बाद में उसी तप को करे तो उसे अतिक्रान्त कहते हैं।

(३) कोटी सहित--जहाँ एक प्रत्याख्यान की समाप्ति तथा दूसरे का प्रारम्भ एक ही दिन में हो जाय उसे कोटी सहित कहते हैं।

(४) नियन्त्रित-- जिस दिन जिस पच्चक्खाण को करने का निश्चय किया है उस दिन उसे नियमपूर्वक करना, बीमारी वगैरह की बाधा आने पर भी उसे नहीं छोड़ना नियन्त्रित प्रत्याख्यान है।

प्रत्येक मास में जिस दिन जितने काल के लिए जो तप अंगीकार किया है उसे अवश्य करना, बीमारी वगैरह बाधाएं उपस्थित होने पर भी प्राण रहते उसे न छोड़ना नियन्त्रित तप है। यह प्रत्याख्यान चौदह पूर्वधर, जिनकल्पी, वज्रऋषभ नाराच

संहनन वालों के ही होता है। पहिले स्थविरकल्पी भी इसे करते थे, लेकिन अब विच्छिन्न हो गया है।

(५) सागार प्रत्याख्यान– जिस प्रत्याख्यान में कुछ आगार अर्थात् अपवाद रक्खा जाय, उन आगारों में से किसी के उपस्थित होने पर त्यागी हुई वस्तु त्याग का समय पूरा होने से पहिले भी काम में ले ली जाय तो पच्चक्खाण नहीं टूटता। जैसे नवकारसी, पोरिसी आदि पच्चक्खाणों में अनाभोग वगैरह आगार हैं।

(६) अणागार प्रत्याख्यान-- जिस पच्चक्खाण में महत्तरागार वगैरह आगार न हों। अनाभोग और सहसाकार तो उस में भी होते हैं क्योंकि मुहँ में अङ्गुली वगैरह के अनुपयोग पूर्वक पड़ जाने से आगार न होने पर पच्चक्खाण के टूटने का डर है।

(७) परिमाणकृत– दत्ति, कवल, घर, भिक्षा या भोजन के द्रव्यों की मर्यादा करना परिमाणकृत पच्चक्खाण है।

(८) निरवशेष– अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना निरवशेष पच्चक्खाण है।

(९) संकेत पच्चक्खाण– अंगूठा, मुट्ठि, गांठ वगैरह के चिह्न को लेकर जो त्याग किया जाता है, उसे संकेत प्रत्याख्यान कहते हैं।

(१०) अद्धाप्रत्याख्यान-- अद्धा अर्थात् काल को लेकर जो त्याग किया जाता है, जैसे पौरुषी, दो पौरुषी वगैरह।।

(ठाणाग सूत्र ७४८) (पंचाशक ५ वि०) (भगवती शतक ७ उद्देशा २)

७०५– अद्धा पच्चक्खाण के दस भेद

कुछ काल के लिए अशनादि का त्याग करना अद्धा प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) है। इसके दस भेद हैं–

(१) नमुक्कारसहियं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण– सूर्योदय से लेकर दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट तक चारों आहारों का त्याग करना नमुक्कारसहियं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण है।

नमुक्कारसहिय करने का पाठ

सूरे उग्गए नमुक्कारसहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ।

नोट– अगर स्वयं पच्चक्खाण करना हो तो 'पच्चक्खाइ' की जगह 'पच्चक्खामि' और 'वोसिरइ' की जगह 'वोसिरामि' कहना चाहिए। दूसरे को पच्चक्खाण कराते समय ऊपर लिखा पाठ बोलना चाहिए।

(२) पोरिसी, साढ पोरिसी पच्चक्खाण– सूर्योदय से लेकर एक पहर (दिन का चौथा भाग) तक चारों आहारों का त्याग करने को पोरिसी पच्चक्खाण और डेढ़ पहर तक त्याग करने को साढ पोरिसी कहते हैं।

पोरिसी करने का पाठ

पोरिसिं पच्चक्खाइ उग्गए सूरे चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

पोरिसी के आगारों की व्याख्या दूसरे भाग के बोल नं० ४८३ में दी गई है।

नोट– अगर साढ पोरिसी का पच्चक्खाण करना हो तो 'पोरिसिं' की जगह 'साढपोरिसिं' बोलना चाहिए।

(३) पुरिमड्ढ अवड्ढ पच्चक्खाण– सूर्योदय से लेकर दो पहर तक चारों आहारों का त्याग करने को पुरिमड्ढ पच्चक्खाण कहते हैं और तीन पहर तक चारों आहारों का त्याग करने को अवड्ढ कहते हैं।

पुरिमड्ढ करने का पाठ

सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं

पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

पुरिमड्ढ पच्चक्खाण के आगारों की व्याख्या इसके दूसरे भाग के सातवें बोलसंग्रह के बोल नं ५१६ में दी गई है ।

नोट– अगर अवड्ढं पच्चक्खाण करना हो तो पुरिमड्ढं की जगह अवड्ढं बोलना चाहिए । पुरिमड्ढ को दो पोरिसी और अवड्ढ को तीन पोरिसी भी कहते हैं ।

(४) एकासन, बियासन का पच्चक्खाण– पोरिसी या दो पोरिसी के बाद दिन में एक बार भोजन करने को एकासन कहते हैं । यदि दो बार भोजन किया जाय तो बियासण पच्चक्खाण हो जाता है । एकासण और बियासण में अचित्त भोजन और पक्के पानी का ही सेवन किया जाता है ।

एकासन करने का पाठ

एगासणं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

एकासन के आगारों की व्याख्या बोल नं ५८७ में दी है ।

* इस में श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए ।

नोट– अगर बियासण करना हो 'एगासणं' की जगह 'बियासणं' बोलना चाहिए ।

(५) एगट्ठाण का पच्चक्खाण– हाथ और मुँह के सिवाय शेष अङ्गों को बिना हिलाए दिन में एक ही बार भोजन करने को एगट्ठाण पच्चक्खाण कहते हैं । इसकी सारी विधि एकासना के समान है । केवल हाथ पैर हिलाने का आगार नहीं रहता । इसी लिए इसमें 'आउंटणपसारणेणं' नहीं बोला जाता । भोजन प्रारम्भ करते समय जिस आसन से बैठे, ठेठ तक वैसे ही बैठे रहना चाहिए ।

एगट्ठाण करने का पाठ

एकासणं एगट्ठाणं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

*इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(६) आयंबिल का पच्चक्खाण—एक बार नीरस और विगय रहित आहार करने को आयम्बिल कहते हैं। शास्त्र में इस पच्चक्खाण को चावल, उड़द या सत्तू आदि से करने का विधान है। इसका दूसरा नाम 'गोण्ण' तप है।

आयंबिल करने का पाठ

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

आयंबिल के आगारों का स्वरूप बोल नं० ५८८ में है।

*इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(७) अभत्तट्ठ (उपवास) का पच्चक्खाण— यह पच्चक्खाण दो प्रकार का है-(क) सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग चौविहार अभत्तट्ठ कहलाता है। (ख) पानी का आगार रख कर तीन आहारों का त्याग करना तिविहार अभत्तट्ठ है।

(क) चौविहार उपवास करने का पाठ

सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं

पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

पुरिमड्ढ पच्चक्खाण के आगारों की व्याख्या इसके दूसरे भाग के सातवें बोलसंग्रह के बोल नं ५१६ में दी गई है।

नोट– अगर अवड्ढं पच्चक्खाण करना हो तो पुरिमड्ढं की जगह अवड्ढं बोलना चाहिए। पुरिमड्ढ को दो पोरिसी और अवड्ढ को तीन पोरिसी भी कहते है।

(४) एकासन, बियासन का पच्चक्खाण– पोरिसी या दो पोरिसी के बाद दिन में एक बार भोजन करने को एकासन कहते हैं। यदि दो बार भोजन किया जाय तो बियासण पच्चक्खाण हो जाता है। एकासण और बियासण में अचित्त भोजन और पक्के पानी का ही सेवन किया जाता है।

एकासन करने का पाठ

एगासणं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

एकासन के आगारों की व्याख्या बोल नं ५८७ में दी है।

* इस में श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

नोट– अगर बियासण करना हो 'एगासणं' की जगह 'बियासणं' बोलना चाहिए।

(५) एगट्ठाण का पच्चक्खाण– हाथ और मुँह के सिवाय शेष अङ्गों को बिना हिलाए दिन में एक ही बार भोजन करने को एगट्ठाण पच्चक्खाण कहते हैं। इसकी सारी विधि एकासना के समान है। केवल हाथ पैर हिलाने का आगार नहीं रहता। इसी लिए इसमें 'आउंटणपसारणेणं' नहीं बोला जाता। भोजन प्रारम्भ करते समय जिस आसन से बैठे, अन्त तक वैसे ही बैठे रहना चाहिए।

एगट्ठाण करने का पाठ

एकासणं एगट्ठाणं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

*इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(६) आयंबिल का पच्चक्खाण– एक वार नीरस और विगय रहित आहार करने को आयम्बिल कहते हैं। शास्त्र में इस पच्चक्खाण को चावल, उड़द या सत्तू आदि से करने का विधान है। इसका दूसरा नाम 'गोण्ण' तप है।

आयंबिल करने का पाठ

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

आयंबिल के आगारों का स्वरूप बोल नं० ५८८ में है।

*इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(७) अभत्तट्ठ (उपवास) का पच्चक्खाण– यह पच्चक्खाण दो प्रकार का है–(क) सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग चौविहार अभत्तट्ठ कहलाता है। (ख) पानी का आगार रख कर तीन आहारों का त्याग करना तिविहार अभत्तट्ठ है।

(क) चौविहार उपवास करने का पाठ

सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं

पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

(ख) तिविहार उपवास करने का पाठ

सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ।

*'पारिट्ठावणियागारेणं' श्रावक को न बोलना चाहिए।

(८) चरिम पच्चक्खाण– यह दो प्रकार का है। (क) दिवसचरिम– सूर्य अस्त होने से पहिले दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों या तीनों आहारों का त्याग करना दिवसचरिम पच्चक्खाण है। (ख) भवचरिम– पच्चक्खाण करने के समय से लेकर यावज्जीव आहारों का त्याग करना भवचरिम पच्चक्खाण है।

दिवसचरिम (रात्रिचौविहार) करने का पाठ

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

अगर रात को तिविहार पच्चक्खाण करना हो तो 'चउव्विहं' की जगह 'तिविहं' कहना चाहिए और 'पाणं' न बोलना चाहिए।

भवचरिम करने का पाठ

भवचरिमं पच्चक्खाइ चउविहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ।

भवचरिम में अपनी इच्छानुसार आगार तथा आहारों की संख्या घटाई बढ़ाई जा सकती है।

(९) अभिग्रह पच्चक्खाण– उपवास के बाद या बिना उपवास के अपने मन में निश्चय कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा या आहारादि ग्रहण करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा को अभिग्रह कहते हैं। जैसे भगवान् महावीर स्वामी ने पाँच मास के उपरान्त अभिग्रह किया था–कोई सती राजकुमारी उड़दों को लिए बैठी हो। उसका सिर मुँडा हुआ हो। पैरों में बेड़ी हो। एक पैर देहली के अन्दर तथा एक बाहर हो। आँखों में आँसू हों इत्यादि सब बातें मिलने पर राजकन्या के हाथ से उबाले हुए उड़दों का ही आहार लेना। जब तक सारी बातें न मिलें पारना न करना।

अभिग्रह में जो बातें धारणी हों उन्हें मन में या वचन द्वारा निश्चय कर लेने के बाद नीचे लिखा पच्चक्खाण किया जाता है।

अभिग्रह करने का पाठ

अभिग्गहं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

अगर अप्रावरण अर्थात् वस्त्र रहित अभिग्रह किया हो तो 'चोलपट्टागारेणं' अधिक बोलना चाहिए।

(१०) निव्विगइ पच्चक्खाण– विगयों के त्याग को निव्विगइ पच्चक्खाण कहते हैं।

निव्विगइ करने का पाठ

निव्विगइयं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

निव्विगइ के नौ आगारों का स्वरूप इसी भाग के बोल नं० ६२९ में दे दिया गया है।

इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं'* नहीं बोलना चाहिए। (प्र०सारोद्धार ४ प्रत्या० द्वार) (हरि० आवश्यक निर्युक्ति गा० १५६७)

७०६- विगय दस

शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय (विकृति) कहते हैं। वे दस हैं-

(१) दूध (२) दही (३) मक्खन (४) घी (५) तेल (६) गुड़ (७) मधु (८) मद्य (शराब) (६) मांस (१०) पक्वान्न (मिठाई)।

दूध पाँच तरह का होता है गाय का, भैंस का, बकरी का, भेड़ का और ऊँटनी का।

दही, घी और मक्खन चार तरह के होते हैं। ऊँटनी के दूध का दही नहीं होता। इसी लिए मक्खन और घी भी नहीं होते।

तेल चार तरह का होता है। तिलों का, अलसी का, कुसुम्भ का और सरसों का। ये चारों तेल विगय में गिने जाते हैं। बाकी तेल विगय नहीं माने जाते। लेप करने वाले होते हैं।

मद्य दो तरह का होता है- काठ से बनाया हुआ और ईख आदि से तैयार किया हुआ।

गुड़ दो तरह का होता है- द्रव अर्थात् पिघला हुआ और पिंड अर्थात् सूखा।

मधु (शहद) तीन तरह का होता है- (१) माक्षिक अर्थात् मक्खियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (२) कौन्तिक- कुंत नाम के जन्तु विशेष द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (३) भ्रामर- भ्रमरों द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (हरि० आवश्यक निर्युक्ति गाथा १६०६)

७०७- वेयावच्च (वैयावृत्य) दस

अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा सुश्रूषा करने को वेयावच्च (वैयावृत्य) कहते हैं। इस के दस भेद हैं-

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इस में भी श्रावक को 'पारिट्ठावणियागारेणं'* नहीं बोलना चाहिए। (प्र०सारोद्धार ४ प्रत्या० द्वार) (हरि० आवश्यक निर्युक्ति गा० १५६७)

७०६- विगय दस

शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय (विकृति) कहते हैं। वे दस हैं-

(१) दूध (२) दही (३) मक्खन (४) घी (५) तेल (६) गुड़ (७) मधु (८) मद्य (शराब) (९) मांस (१०) पकान्न (मिठाई)।

दूध पाँच तरह का होता है गाय का, भैंस का, बकरी का, भेड़ का और ऊँटनी का।

दही, घी और मक्खन चार तरह के होते हैं। ऊँटनी के दूध का दही नहीं होता। इसी लिए मक्खन और घी भी नहीं होते।

तेल चार तरह का होता है। तिलों का, अलसी का, कुसुम्भ का और सरसों का। ये चारों तेल विगय में गिने जाते हैं। बाकी तेल विगय नहीं माने जाते। लेप करने वाले होते हैं।

मद्य दो तरह का होता है- काठ से बनाया हुआ और ईख आदि से तैयार किया हुआ।

गुड़ दो तरह का होता है- द्रव अर्थात् पिघला हुआ और पिंड अर्थात् सूखा।

मधु (शहद) तीन तरह का होता है- (१) माक्षिक अर्थात् मक्खियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (२) कौन्तिक- कुँत नाम के जन्तु विशेष द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (३) भ्रामर- भ्रमरों द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (हरि० आवश्यक निर्युक्ति गाथा १६०६)

७०७- वेयावच्च (वैयावृत्य) दस

अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा सुश्रूषा करने को वेयावच्च (वैयावृत्य) कहते हैं। इस के दस भेद हैं-

(१) आचार्य की वेयावच्च।
(२) उपाध्याय की वेयावच्च।
(३) स्थविर की वेयावच्च।
(४) तपस्वी की वेयावच्च।
(५) रोगी की वेयावच्च।
(६) शैक्ष अर्थात् नव दीक्षित साधु की वेयावच्च।
(७) कुल अर्थात् एक आचार्य के शिष्यपरिवार की वेयावच्च।
(८) गण– साथ पढ़ने वाले साधुओं के समूह की वेयावच्च।
(९) संघ की वेयावच्च।
(१०) साधर्मिक अर्थात् समान धर्म वालों की वेयावच्च।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७)

७०८– पर्युपासना के परम्परा दस फल

शुद्ध चारित्र पालने वाले श्रमणों की पर्युपासना (सेवा, भक्ति तथा सत्संग) करने से उत्तरोत्तर निम्न लिखित दस फलों की प्राप्ति होती है–

सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिश्र निव्वाणे॥

(१) सवणे– निर्ग्रन्थ साधुओं की पर्युपासना (सेवा, भक्ति और सत्संग) से श्रवण की प्राप्ति होती है अर्थात् साधु लोग धर्मकथा फरमाते हैं और शास्त्रों का स्वाध्याय किया करते हैं। इस लिए उन की सेवा में रहने से शास्त्रों के श्रवण की प्राप्ति होती है।

(२) णाणे–शास्त्रों के श्रवण से श्रुत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

(३) विन्नाणे– श्रुतज्ञान से विज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात् हेय (त्यागने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का ज्ञान होता है।

(४) पच्चक्खाणे– हेयोपादेय का ज्ञान हो जाने पर पच्चक्खाण

की प्राप्ति होती है।

(५) संजमे-- पच्चक्खाण से संयम की प्राप्ति होती है।

(६) अण्णहत्ते- संयम से अनाश्रव की प्राप्ति होती है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता।

(७) तवे- इसके बाद अनशन आदि बारह प्रकार के तप की ओर प्रवृत्ति होती है।

(८) वोदाणे- तप से पूर्वकृत कर्मों का नाश होता है अथवा आत्मा में रहे हुए पूर्वकृत कर्म रूपी कचरे की शुद्धि हो जाती है।

(६) अकिरिय- इसके बाद आत्मा अक्रिय हो जाता है अर्थात् मन, वचन और काया रूप योगों का निरोध हो जाता है।

(१०) निव्वाणे- योगनिरोध के पश्चात् जीव का निर्वाण हो जाता है अर्थात् जीव पूर्वकृत कर्म विकारों से रहित हो जाता है। कर्मों से छूटते ही जीव सिद्धगति में चला जाता है। सिद्धगति को प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम प्रयोजन है।

(ठाणांग, सूत्र १६० ठाणा ३ उद्देशा ३)

७०६-- दर्शनविनय के दस बोल

वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवली भाषित धर्म में श्रद्धा रखना दर्शन या सम्यक्त्व है। दर्शन के विनय, भक्ति और श्रद्धा को दर्शनविनय कहते हैं। इसके दस भेद हैं-

(१) अरिहन्तों का विनय।

(२) अरिहन्त प्ररूपित धर्म का विनय।

(३) आचार्यों का विनय।

(४) उपाध्यायों का विनय।

(५) स्थविरों का विनय।

(६) कुल का विनय।

(७) गण का विनय।

(८) संघ का विनय।
(९) धार्मिक क्रिया का विनय।
(१०) साधर्मिक का विनय।

नोट– भगवती सूत्र में दर्शन विनय के दो भेद बताए हैं– शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के अनेक भेद हैं। अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद हैं। ऊपर के दस तथा पाँच ज्ञान, इन पन्द्रह बोलों की (१) अनाशातना (२) भक्ति और (३) बहुमान, इस प्रकार प्रत्येक के तीन भेद होने से पैंतालीस हो जाते हैं। दर्शनविनय के दस भेद भी प्रसिद्ध होने के कारण दसवें बोल संग्रह में ले लिए गए हैं और यहाँ दस ही बताए गए हैं।

(भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ७)

७१०– संवर दस

इन्द्रिय और योगों की अशुभ प्रवृत्ति से आते हुए कर्मों को रोकना संवर है। इसके दस भेद हैं–

(१) श्रोत्रेन्द्रियसंवर (२) चक्षुरिन्द्रियसंवर (३) घ्राणेन्द्रियसंवर (४) रसनेन्द्रियसंवर (५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर (६) मनसंवर (७) वचनसंवर (८) कायसंवर (९) उपकरणसंवर (१०) सूचीकुशाग्रसंवर।

पाँच इन्द्रियों और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ व्यापार में लगाना क्रम से श्रोत्रेन्द्रिय वगैरह आठ संवर हैं।

(९) उपकरणसंवर– जिन वस्त्रों के पहनने में हिंसा हो अथवा जो वस्त्रादि न कल्पते हों, उन्हें न लेना उपकरण संवर है। अथवा बिखरे हुए वस्त्रादि को समेट कर रखना उपकरणसंवर है। यह उपकरणसंवर समग्र औधिक उपधि की अपेक्षा कहा गया है। जो वस्त्र पात्रादि उपधि एक बार ग्रहण करके वापिस

न लौटाई जाय उसे औधिक कहते हैं।

(१०) सूचीकुशाग्रसंवर- सूई और कुशाग्र वगैरह वस्तुएं जिन के बिखरे रहने से शरीर में चुभने वगैरह का डर है, उन सब को समेट कर रखना। सामान्य रूप से यह संवर सारी औपग्रहिक उपधि के लिए है। जो वस्तुएं आवश्यकता के समय गृहस्थ से लेकर काम होने पर वापिस कर दी जायँ उन्हें औपग्रहिक उपधि कहते हैं। जैसे सूई वगैरह।

अन्त के दो द्रव्य संवर हैं। पहले आठ भावसंवर।

(ठाणांग, सूत्र ७०६)

७११- असंवर दस

संवर से विपरीत अर्थात् कर्मों के आगमन को असंवर कहते हैं। इसके भी संवर की तरह दस भेद हैं। इन्द्रिय, योग और उपकरणादि को वश में न रख कर खुले रखना अथवा बिखरे पड़े रहने देना क्रमशः दस प्रकार का असंवर है।

(ठाणांग, सूत्र ७०६)

७१२- संज्ञा दस

वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से पैदा होने वाली आहारादि की प्राप्ति के लिये आत्मा की क्रिया विशेष को संज्ञा कहते हैं। अथवा जिन बातों से यह जाना जाय कि जीव आहार आदि को चाहता है उसे संज्ञा कहते हैं। किसी के मत से मानसिक ज्ञान ही संज्ञा है अथवा जीव का आहारादि विषयक चिन्तन संज्ञा है। इसके दस भेद हैं —

(१) आहार संज्ञा- क्षुधावेदनीय के उदय से कवलादि आहार के लिए पुद्गल ग्रहण करने की क्रिया को आहार संज्ञा कहते हैं।

(२) भय संज्ञा- भयवेदनीय के उदय से व्याकुल चित्त वाले

पुरुष का भयभीत होना, घबराना, रोमाञ्च, शरीर का काँपना वगैरह क्रियाएं भय संज्ञा हैं।

(३) मैथुन संज्ञा– पुरुषवेद के उदय से स्त्री के अंगों को देखने, छूने वगैरह की इच्छा तथा उससे होने वाले शरीर में कम्पन आदि को, जिन से मैथुन की इच्छा जानी जाय, मैथुन संज्ञा कहते हैं।

(४) परिग्रह संज्ञा–लोभरूप कषाय मोहनीय के उदय से संसार-बन्ध के कारणों में आसक्ति पूर्वक सचित्त और अचित्त द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा परिग्रह संज्ञा कहलाती है।

(५) क्रोध संज्ञा–क्रोध के उदय से आवेश में भर जाना, मुँह का सूखना, आँखें लाल हो जाना और काँपना वगैरह क्रियाएं क्रोध संज्ञा हैं।

(६) मान संज्ञा– मान के उदय से आत्मा के अहङ्कारादिरूप परिणामों को मान संज्ञा कहते हैं।

(७) माया संज्ञा– माया के उदय से बुरे भाव लेकर दूसरे को ठगना, झूठ बोलना वगैरह माया संज्ञा है।

(८) लोभ संज्ञा– लोभ के उदय से सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा करना लोभ संज्ञा है।

(९) ओघ संज्ञा–मतिज्ञानावरण वगैरह के क्षयोपशम से शब्द और अर्थ के सामान्य ज्ञान को ओघ संज्ञा कहते हैं।

(१०) लोक संज्ञा– सामान्यरूप से जानी हुई बात को विशेष रूप से जानना लोकसंज्ञा है। अर्थात् दर्शनोपयोग को ओघ संज्ञा तथा ज्ञानोपयोग को लोकसंज्ञा कहते हैं। किसी के मत से ज्ञानोपयोग ओघ संज्ञा है और दर्शनोपयोग लोकसंज्ञा। सामान्य प्रवृत्ति को ओघसंज्ञा कहते हैं तथा लोकदृष्टि को लोकसंज्ञा कहते हैं, यह भी एक मत है।

(ठाणांग, सूत्र ७५२) (भगवती शतक ७ उद्देशा ८)

७१३– दस प्रकार का शब्द

(१) निर्हारी शब्द– आवाज युक्त शब्द। जैसे घण्टा झालर आदि का शब्द होता है।

(२) पिण्डिम शब्द– आवाज (घोष) से रहित शब्द। जैसे ढक्का (डमरू) आदि का शब्द होता है।

(३) रूक्ष शब्द– रूखा शब्द। जैसे कौए का शब्द होता है।

(४) भिन्न शब्द– कुष्ट अर्थात् कोढ आदि रोग से पीड़ित पुरुष का जो कंपता हुआ शब्द होता है उसे भिन्न शब्द कहते हैं।

(५) जर्जरित शब्द– करटिका आदि वाद्य विशेष का शब्द।

(६) दीर्घ शब्द– दीर्घ वर्णों से युक्त जो शब्द हो, अथवा जो शब्द बहुत दूर तक सुनाई देता हो उसे दीर्घ शब्द कहते हैं। जैसे मेघादि का शब्द (गाजना)।

(७) ह्रस्व शब्द– ह्रस्व वर्णों से युक्त अथवा दीर्घ शब्द की अपेक्षा जो लघु हो उसे ह्रस्व शब्द कहते हैं। जैसे वीणा आदि का शब्द।

(८) पृथक् शब्द– अनेक प्रकार के वाद्यों (बाजों) का जो मिला हुआ शब्द होता है, वह पृथक् शब्द कहलाता है। जैसे दो शंखों का मिला हुआ शब्द।

(९) काकणी शब्द– सूक्ष्म कण्ठ से जो गीत गाया जाता है उसे काकणी या काकली शब्द कहते हैं।

(१०) किंकिणी शब्द– छोटे छोटे घूँघरे जो बैलों के गले में बाँधे जाते हैं अथवा नाचने वाले पुरुष (भोपे आदि) अपने पैरों में बाँधते हैं, उन घूँघरों के शब्द को किङ्किणी शब्द कहते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७०५)

७१४–संक्लेश दस

समाधि (शान्ति) पूर्वक संयम का पालन करते हुए मुनियों के चित्त में जिन कारणों से संक्षोभ (अशान्ति) पैदा हो जाता

है उसे संक्लेश कहते हैं। संक्लेश के दस कारण हैं-

(१) उपधि संक्लेश–वस्त्र, पात्र आदि संयमोपकरण उपधि कहलाते हैं। इनके विषय में संक्लेश होना उपधिसंक्लेश कहलाता है।

(२) उपाश्रय संक्लेश– उपाश्रय नाम स्थान का है। स्थान के विषय में संक्लेश होना उपाश्रय संक्लेश कहलाता है।

(३) कषायसंक्लेश– कषाय यानी क्रोध मान माया लोभ से चित्त में अशान्ति पैदा होना कषाय संक्लेश है।

(४) भक्तपान संक्लेश– भक्त (आहार) पान आदि से होने वाला संक्लेश भक्त पान संक्लेश कहलाता है।

(५–६–७) मन, वचन और काया से किसी प्रकार चित्त में अशान्ति का होना क्रमशः (५) मन संक्लेश (६) वचन संक्लेश और (७) काया संक्लेश कहलाता है।

(८–९–१०) ज्ञान, दर्शन और चारित्र में किसी तरह की अशुद्धता का आना क्रमशः (८) ज्ञान संक्लेश (९) दर्शन संक्लेश और (१०) चारित्र संक्लेश कहलाता है। (ठाणांग, सूत्र ७३९)

७१५– असंक्लेश दस

संयम का पालन करते हुए मुनियों के चित्त में किसी प्रकार की अशान्ति (असमाधि) का न होना असंक्लेश कहलाता है। इसके दस भेद हैं–

(१) उपधि असंक्लेश (२) उपाश्रय असंक्लेश (३) कषाय असंक्लेश (४) भक्त पान असंक्लेश (५) मन असंक्लेश (६) वचन असंक्लेश (७) काया असंक्लेश (८) ज्ञान असंक्लेश (९) दर्शन असंक्लेश (१०) चारित्र असंक्लेश (ठाणांग, सूत्र ७३९)

७१६– छद्मस्थ दस बातों को नहीं देख सकता

दस स्थानों को जीव सर्व भाव से जानता या देखता नहीं है।

यानि अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ सर्व भाव से इन बातों को जानता देखता नहीं है। यहाँ पर अतिशय ज्ञान रहित विशेषण देने का यह अभिप्राय है कि अवधि ज्ञानी छद्मस्थ होते हुए भी अतिशय ज्ञानी होने के कारण परमाणु आदि को यथार्थ रूप से जानता और देखता है किन्तु अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ नहीं जान या देख सकता। वे दस बोल ये हैं-

(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) वायु (५) शरीर रहित जीव (६) परमाणु पुद्गल (७) शब्द (८) गन्ध (९) यह पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञानशाली केवली होगा या नहीं (१०) यह पुरुष सर्व दुःखों का अन्त कर सिद्ध बुद्ध यावत् मुक्त होगा या नहीं।

इन दस बातों को निरतिशय ज्ञानी छद्मस्थ सर्व भाव से न जानता है और न देख सकता है किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारक अरिहन्त जिन केवली उपरोक्त दस ही बातों को सर्व भाव से जानते और देखते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७५४) (भगवती शतक ८ उद्देशा २)

७१७-आनुपूर्वी दस

क्रम, परिपाटी या पूर्वापरीभाव को आनुपूर्वी कहते हैं। क्रम से कम तीन वस्तुओं में ही आनुपूर्वी होती है। एक या दो वस्तुओं में प्रथम मध्यम और अन्तिम का क्रम नहीं हो सकता इसलिए वे आनुपूर्वी के अन्तर्गत नहीं हैं। आनुपूर्वी के दस भेद हैं--

(१) नामानुपूर्वी- गुणों की अपेक्षा विना किए सजीव या निर्जीव वस्तु का नाम आनुपूर्वी होना नामानुपूर्वी है।

(२) स्थापनानुपूर्वी-आनुपूर्वी के सदृश आकार वाले या किसी दूसरे आकार वाले चित्र आदि में आनुपूर्वी की स्थापना करना अर्थात् उसे आनुपूर्वी मान लेना स्थापनानुपूर्वी है।

(३) द्रव्यानुपूर्वी- जो वस्तु पहले कभी आनुपूर्वी के रूप में परिणत हो चुकी हो या भविष्य में होने वाली हो उसे द्रव्यानुपूर्वी कहते हैं।

(४) क्षेत्रानुपूर्वी- क्षेत्र विषयक पूर्वापरीभाव को क्षेत्रानुपूर्वी कहते हैं। जैसे इस गाँव के बाद वह गाँव है और उसके बाद वह इत्यादि।

(५) कालानुपूर्वी- काल विषयक पौर्वापर्य को कालानुपूर्वी कहते हैं। जैसे अमुक व्यक्ति उससे बड़ा है या छोटा है इत्यादि।

(६) उत्कीर्तनानुपूर्वी-किसी क्रम को लेकर कई पुरुष या वस्तुओं का उत्कीर्तन अर्थात् नाम लेना उत्कीर्तनानुपूर्वी है।

(७) गणनानुपूर्वी-एक दो तीन आदि को किसी क्रम से गिनना गणनानुपूर्वी है।

(८) संस्थानानुपूर्वी- जीव और अजीवों की रचना विशेष को संस्थान कहते हैं। समचतुरस्र आदि संस्थानों के क्रम को संस्थानानुपूर्वी कहते हैं।

(९) समाचार्यनुपूर्वी- शिष्ट अर्थात् साधुओं के द्वारा किए गए क्रियाकलाप को समाचार्यनुपूर्वी कहते हैं।

(१०) भावानुपूर्वी-औदयिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं। उनका क्रम अथवा परिपाटी भावानुपूर्वी कहा जाता है।

इन आनुपूर्वियों के भेद प्रभेद तथा स्वरूप विस्तार के साथ अनुयोगद्वार सूत्र में दिए गए हैं। (अनुयोग द्वार सूत्र ७१-१२०)

६१८- द्रव्यानुयोग दस

सूत्र का अर्थ के साथ ठीक ठीक सम्बन्ध बैठाना अनुयोग कहलाता है। इस के चार भेद हैं- चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग।

चरण करण अर्थात् साधुधर्म और श्रावकधर्म का प्रतिपादन

करने वाले अनुयोग को चरणकरणानुयोग कहते हैं।

धर्मकथानुयोग-- तीर्थङ्कर, साधु, मुख्य श्रावक, चरम शरीरी आदि उत्तम पुरुषों का कथाविषयक अनुयोग धर्मकथानुयोग है।

गणितानुयोग-- चन्द्र सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों की गति तथा गणित के दूसरे विषयों को बताने वाला गणितानुयोग कहलाता है।

द्रव्यानुयोग-- जीव आदि द्रव्यों का विचार जिसमें हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। इस के दस भेद हैं-

(१) द्रव्यानुयोग-- जीवादि पदार्थों को द्रव्य क्यों कहा जाता है, इत्यादि विचार को द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैसे-- जो उत्तरोत्तर पर्यायों को प्राप्त हो और गुणों का आधार हो उसे द्रव्य कहते हैं। जीव मनुष्यत्व देवत्व वगैरह भिन्न भिन्न पर्यायों को प्राप्त करता है। एक जन्म में भी बाल्य युवादि पर्याय प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। काल के द्वारा होने वाली ये अवस्थाएं जीव में होती ही रहती हैं तथा जीव के ज्ञान वगैरह सहभावी गुण हमेशा रहते हैं, जीव उनके बिना कभी नहीं रहता। इसलिए गुण और पर्यायों वाला होने से जीव द्रव्य है।

(२) मातृकानुयोग-- उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन पदों को मातृकापद कहते हैं। इन्हें जीवादि द्रव्यों में घटाना मातृकानुयोग है। जैसे-- जीव उत्पाद वाला है, क्योंकि बाल्यादि नवीन पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं। यदि प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न न हों तो वृद्ध वगैरह अवस्थाएं न आएं, क्योंकि वृद्धावस्था कभी एक ही साथ नहीं आती। प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। जीवद्रव्य व्यय वाला भी है क्योंकि बाल्य वगैरह अवस्थाएं प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं। यदि व्यय न हो तो जीव सदा बाल्य अवस्था में ही बना रहे। जीव द्रव्य रूप से ध्रुव भी है अर्थात् हमेशा बना रहता है। यदि ध्रौव्यगुण वाला न हो, हमेशा बिल्कुल नया

उत्पन्न होता रहे तो काम करने वाले को फल प्राप्त न होगा क्योंकि काम करने वाला काम करते ही नष्ट हो जाएगा। जिसने कुछ नहीं किया उसे फल प्राप्त होगा। पहले देखी हुई बात का स्मरण नहीं हो सकेगा। उसके लिए अभिलाषा भी न हो सकेगी। इस लोक तथा परलोक के लिए की जाने वाली धार्मिक क्रियाएं व्यर्थ हो जाएंगी। इसलिए किसी एक वस्तु का पूर्वापर सभी पर्यायों में रहना अवश्य मानना चाहिए। इस तरह द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सिद्ध करना मातृकापदानुयोग है।

(३) एकार्थिकानुयोग–एक अर्थ वाले शब्दों का अनुयोग करना अथवा समान अर्थ वाले शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा वाच्यार्थ में संगति बैठाना एकार्थिकानुयोग है। जैसे– जीव द्रव्य के वाचक पर्याय शब्द हैं– जीव, प्राणी, भूत, सत्त्व वगैरह। जीवन अर्थात् प्राणों के धारण करने से वह जीव कहलाता है। प्राण अर्थात् श्वास लेने से प्राणी कहा जाता है। हमेशा होने से भूत कहा जाता है। हमेशा सत् होने से सत्त्व है इत्यादि।

(४) करणानुयोग–करण अर्थात् क्रिया के प्रति साधक कारणों का विचार। जैसे जीव द्रव्य भिन्न भिन्न क्रियाओं को करने में काल, स्वभाव, नियति और पहले किए हुए कर्मों की अपेक्षा रखता है। अकेला जीव कुछ नहीं कर सकता। अथवा मिट्टी से घड़ा बनाने में कुम्हार को चक्र, चीवर, दण्ड आदि करणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तात्त्विक बातों के करणों की पर्यालोचना करना करणानुयोग है।

(५) अर्पितानर्पितानुयोग–विशेषण सहित वस्तु को अर्पित कहते हैं। जैसे– द्रव्य सामान्य है, विशेषण लगाने पर जीव द्रव्य, फिर विशेषण लगाने पर संसारी जीवद्रव्य। फिर त्रस, पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य इत्यादि। अनर्पित अर्थात् बिना विशेषण का सामान्य।

जैसे जीव द्रव्य। अर्पित और अनर्पित के विचार को अर्पितानर्पितानुयोग कहते हैं।

(६) भाविताभावितानुयोग– जिसमें दूसरे द्रव्य के संसर्ग से उसकी वासना आगई हो उसे भावित कहते हैं। यह दो तरह का है–प्रशस्तभावित और अप्रशस्तभावित। संविग्नभावित अर्थात् मुक्ति की इच्छा होना, संसार से ग्लानि होना आदि प्रशस्तभावित है। इसके विपरीत संसार की ओर झुकाव होना अप्रशस्तभावित है। इन दोनों के दो दो भेद हैं– वामनीय और अवामनीय। किसी संसर्ग से पैदा हुए जो गुण और दोष दूसरे संसर्ग से दूर हो जायँ उन्हें वामनीय अर्थात् वमन होने योग्य कहते हैं। जो दूर न हों वे अवामनीय हैं।

जिसे किसी दूसरी वस्तु का संसर्ग प्राप्त न हुआ हो या संसर्ग होने पर भी किसी प्रकार का असर न हो उसे अभावित कहते हैं। इसी प्रकार घटादि द्रव्य भी भावित और अभावित दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के विचार को भाविताभावितानुयोग कहते हैं।

(७) बाह्याबाह्यानुयोग– बाह्य अर्थात् विलक्षण और अबाह्य अर्थात् समान के विचार को बाह्याबाह्यानुयोग कहते हैं। जैसे– जीव द्रव्य बाह्य है क्योंकि चैतन्य वाला होने से आकाशास्तिकाय वगैरह से विलक्षण है। वह अबाह्य भी है, क्योंकि अरूपी होने से आकाशास्तिकाय आदि के समान है। अथवा चैतन्य गुण वाला होने से जीवास्तिकाय से अबाह्य है। अथवा घट वगैरह द्रव्य बाह्य हैं और कर्म चैतन्य वगैरह अबाह्य हैं, क्योंकि आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार के अनुयोग को बाह्याबाह्यानुयोग कहते हैं।

(८) शाश्वताशाश्वतानुयोग– शाश्वत अर्थात् नित्य और अशाश्वत अर्थात् अनित्य। जैसे जीव द्रव्य नित्य है, क्योंकि इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई और न कभी अन्त होगा। मनुष्य वगैरह

पर्यायों से युक्त जीव अनित्य है, क्योंकि पर्याय बदलते रहते हैं। इस विचार को शाश्वताशाश्वतानुयोग कहते हैं।

(९) तथाज्ञानानुयोग– जैसी वस्तु है, उसके वैसे ही ज्ञान वाले अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को तथाज्ञान कहते हैं। अथवा वस्तु के यथार्थ ज्ञान को तथाज्ञान कहते हैं। इसी विचार को तथाज्ञानानुयोग कहते हैं। जैसे घट को घट रूप से, परिणामी को परिणामी रूप से जानना।

(१०) अतथाज्ञान– मिथ्यादृष्टि जीव या वस्तु के विपरीतज्ञान को अतथाज्ञान कहते हैं। जैसे– कथञ्चित् नित्यानित्य वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य कहना। (ठाणांग, सूत्र ७२७)

७१९– नाम दस प्रकार का

वस्तु के संकेत या अभिधान को नाम कहते हैं। इसके दस भेद हैं–

(१) गौण– जो नाम किसी गुण के कारण पड़ा हो। जैसे– क्षमा गुण से युक्त होने के कारण साधु क्षमण कहलाते हैं। तपने के कारण सूर्य तपन कहलाता है। जलने के कारण अग्नि ज्वलन कहलाती है। इसी प्रकार दूसरे नाम भी जानने चाहिएं।

(२) नोगौण– गुण न होने पर भी जो वस्तु उस गुण वाली कही जाती है, उसे नोगौण कहते हैं। जैसे कुन्त नामक हथियार के न होने पर भी पक्षी को सकुन्त कहा जाता है। मुद्ग अर्थात् मूँग न होने पर भी कपूर वगैरह रखने के डब्बे को समुद्ग कहते हैं। मुद्रा अर्थात् अंगूठी न होने पर भी सागर को समुद्र कहा जाता है। लालाओं के न होने पर भी घास विशेष को पलाल* कहा जाता है। इसी प्रकार कुलिका (भीत) न होने पर भी चिड़िया को सउलिया (शकुनिका) कहा जाता है। पल अर्थात् कच्चे

* 'प्रकृष्टा लालायत्र तत्प्रलालं' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से प्रलाल शब्द बनता है। उसी का प्राकृत में 'पलाल' हो जाता है।

मांस को खाने वाला न होने पर भी ढाक का पत्ता पलाश कहा जाता है, इत्यादि।

(३) आदानपद- जिस पद से जो शास्त्र या प्रकरण आरम्भ हो, उसी नाम से उसे पुकारना आदानपद है। जैसे- आचारांग के पाँचवे अध्ययन का नाम 'आवंती' है। वह अध्ययन 'आवंती केयावंती' इस प्रकार 'आवंती' पद से शुरू होता है। इस लिए इस का नाम भी 'आवंती' पड़ गया। उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन का नाम 'चाउरंगिज्जं' है। इसका प्रारम्भ 'चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो' इस प्रकार चार अंगों के वर्णन से होता है। उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन का नाम 'असंखयं' है, क्योंकि वह 'असंखयं जीविय मा पमायए' इस प्रकार 'असंखयं' शब्द से शुरू होता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और सूयगडांग वगैरह के अध्ययनों का नाम जानना चाहिए।

(४) विपक्षपद- विवक्षित वस्तु में जो धर्म है, उससे विपरीत धर्म बताने वाले पद को विपक्ष पद नाम कहते हैं। जैसे शृगाली अशिवा (अमङ्गल) होने पर भी उसे शिवा कहा जाता है। अमङ्गल का परिहार करने के लिए इस प्रकार शब्दों का परिवर्तन नौ स्थानों में होता है। ग्राम, आकर (लोहे वगैरह की खान) नगर, खेड़ (वेड़ा जिसका परकोटा धूली का बना हुआ हो) कर्वट (खराब नगर) मडम्ब (गाँव से दूर दूसरी आबादी) द्रोणमुख- जिस स्थान पर पहुँचने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों। पत्तन-जहाँ बाहर के देशों से आई हुई वस्तुएं बेची जाती हों। वह दो तरह का होता है-जलपत्तन और स्थल पत्तन। आश्रम (तपस्वियों के रहने का स्थान)। सम्बाध (विविध प्रकार के लोगों के भीड़ भड़क्के का स्थान)। सन्निवेश (भील आदि लोगों के रहने का स्थान)। उपरोक्त ग्राम आदि जब नए बसाए जाते

हैं तो मङ्गल के लिए अशिवा को भी शिवा कहते हैं। इन स्थानों को छोड़ कर बाकी जगह कोई नियम नहीं है अर्थात् भजना है। इसी प्रकार किसी कारण से कोई आग को ठण्डा तथा विष को मीठा कहने लगता है। कलाल के घर में अम्ल शब्द कहने पर शराब खराब होजाती है इस लिए वहाँ खट्टे को भी स्वादिष्ट कहा जाता है। ऊपर लिखे शब्द विशेष स्थानों पर विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सामान्य रूप से विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे--लत्त (रक्त-लाल) होने पर भी अलत्तए (अलक्तक--स्त्रियाँ जिससे पैर रंगती हैं) कहा जाता है। लाबु (जलादि वस्तु को लाकर रखने वाली) तुम्बी भी अलाबु कही जाती है। सुम्भक (शुभ वर्ण वाला) होने पर भी कुसुम्भक कहा जाता है। बहुत अधिक लपन (बकवाद) न करने पर भी 'आलपन' कहा जाता है। बहुत कुछ सारहीन अण्ड बण्ड बोलने पर भी वक्ता को कहा जाता है, इसने कुछ नहीं कहा। इत्यादि सभी नाम विपक्षपद हैं। अगौण में गुण रहित वस्तु का भी उस गुण से युक्त नाम रक्खा जाता है। विपक्ष पद में नाम बिल्कुल उल्टा होता है।

(५) प्रधानतापद - बहुत सी बातें होने पर भी किसी प्रधान को लेकर उस नाम से पुकारना। जैसे– किसी उद्यान में थोड़े से आम आदि के वृक्ष होने पर भी अशोक वृक्ष अधिक होने से वह अशोकवन कहलाता है। इसी प्रकार किसी वन में सप्तपर्ण अधिक होने से वह सप्तपर्णवन कहलाता है। गौण पद में क्षमा आदि गुण से युक्त होने के कारण नाम दिया जाता है। वह नाम पूरे अर्थ को व्याप्त करता है। प्रधानतापद सिर्फ प्रधान वस्तु को व्याप्त करता है। यह सम्पूर्ण वस्तु को व्याप्त नहीं करता। गौण नाम का व्यवहार जिस गुण के कारण किया जाता है वह गुण

उस नाम वाले हर एक में पाया जाता है। प्रधान नाम अधिक संख्या के कारण पड़ता है, इस लिए वह असली अर्थ में अधिक संख्या में पाया जाता है, सब में नहीं। जैसे– क्षमा गुण क्षमण कहलाने वाले सब में होता है किन्तु थोड़े से आम के पेड़ होने पर भी अधिक अशोक होने के कारण किसी वन को अशोक-वन कहा जाता है वहाँ अधिक की मुख्यता है।

(६) अनादिसिद्धान्त– जहाँ शब्द और उसका वाच्य अनादि काल से सिद्ध हों, ऐसे नाम को अनादिसिद्धान्त कहते हैं। जैसे– धर्मास्तिकाय आदि।

(७) नाम से नाम– दादा, परदादा आदि किसी पूर्वज के नाम से पौत्र या प्रपौत्र आदि का रक्खा गया नाम।

(८) अवयव से नाम– शरीर के किसी अवयव से सारे अवयवी का नाम रख लेना। जैसे– सींग वाले को शृङ्गी, शिखा (चोटी) वाले को शिखी, विषाण (सींग) वाले को विषाणी, दाढा वाले को दाढी, पंख वाले को पंखी, खुर वाले को खुरी, नख वाले को नखी, अच्छे केश वाले को सुकेशी, दो पैर वाले को द्विपद (मनुष्यादि), चार पैर वाले को चतुष्पद, बहुत पैर वाले को बहुपद, पूँछ वाले को लाङ्गूली, केसर (कन्धे के बाल) वाले को केसरी, तथा ककुद् (बैल के कन्धे पर उठी हुई गाँठ) वाले को ककुद्मान् कहा जाता है। तलवार आदि बाँध कर सैनिक सरीखे कपड़े पहनने से किसी व्यक्ति को शूरवीर कह दिया जाता है। विशेष प्रकार के शृङ्गार और वेशभूषा से स्त्री जानी जाती है। एक चावल को देखकर बटलोई के सारे चावलों के पकने का ज्ञान किया जाता है। काव्य की एक गाथा से सारे काव्य के माधुर्य का पता लग जाता है। किसी एक बात को देखने से योद्धा, स्त्री, चावलों का पकना, काव्य की मधुरता आदि का ज्ञान होने से

ये भी अवयव से दिए गए नाम हैं। गौण नाम किसी गुण के कारण सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है और इसमें अवयव की प्रधानता है।

(६) संयोग-- किसी वस्तु के सम्बन्ध से जो नाम पड़ जाता है, उसे संयोग कहते हैं। इसके चार भेद हैं-- द्रव्यसंयोग, क्षेत्र संयोग, काल संयोग और भाव संयोग। द्रव्य संयोग के तीन भेद हैं-- सचित, अचित्त और मिश्र। सचित्त वस्तु के संयोग से नाम पड़ना सचित्तद्रव्यसंयोग है। जैसे-- गाय वाले को गोमान् भैंस वाले को महिषवान् इत्यादि कहा जाता है। ये नाम सचित्त गाय आदि पदार्थों के नाम से पड़े हैं।

अचित्त वस्तु के संयोग से पड़ने वाला नाम अचित्तद्रव्यसंयोग है। जैसे-- छत्र वाले को छत्री, दण्ड वाले को दण्डी कहना।

सचित्त और अचित्त दोनों के संयोग से पड़ने वाले नाम को मिश्रसंयोग कहते हैं। जैसे हल से हालिक। यहाँ अचित्त हल और सचित्त बैल दोनों से युक्त व्यक्ति को हालिक कहा जाता है। इसी तरह शकट अर्थात् गाड़ी वाला शाकटिक, रथवाला रथी कहलाता है।

क्षेत्र संयोग-- भरतादि क्षेत्रों से पड़ने वाला नाम। जैसे-- भरत से भारत, मगध से मागध, महाराष्ट्र से मरहट्टा इत्यादि।

काल संयोग-- काल विशेष में उत्पन्न होने से पड़ने वाला नाम। जैसे-- सुषमसुषमा में उत्पन्न व्यक्ति सुषमसुषमक कहलाता है। अथवा पावस (वर्षा ऋतु) में उत्पन्न पावसक कहलाता है।

भावसंयोग-- अच्छे या बुरे विचारों के संयोग से नाम पड़ जाना। इसके दो भेद हैं--प्रशस्तभावसंयोग और अप्रशस्तभाव-संयोग। ज्ञान से ज्ञानी, दर्शन से दर्शनी आदि प्रशस्तभावसंयोग हैं। क्रोध से क्रोधी, मान से मानी आदि अप्रशस्त भावसंयोग हैं।

(१०) प्रमाण-- जिस से वस्तु का सम्यग्ज्ञान हो उसे प्रमाण

कहते हैं। प्रमाणयुक्त नाम को प्रमाण कहते हैं। इसके चार भेद हैं--नाम प्रमाण, स्थापना प्रमाण, द्रव्य प्रमाण और भाव प्रमाण।

नामप्रमाण--किसी जीव, अजीव या मिश्रवस्तु का नाम प्रमाण रख लेना नाम प्रमाण है।

स्थापना प्रमाण- नक्षत्र, देवता, कुल, गण, मत आदि को लेकर किसी के नाम की स्थापना करना स्थापना प्रमाण है। इसके सात भेद हैं-

(क) नक्षत्रस्थापना प्रमाण- कृत्तिका आदि नक्षत्रों के नाम से किसी का नाम रखना नक्षत्रस्थापना प्रमाण है। जैसे- कृत्तिका में पैदा होने वाले का नाम 'कार्तिक' रखना। इसी तरह कृत्तिका-दत्त, कृत्तिकाधर्म, कृत्तिकाशर्म, कृत्तिकादेव, कृत्तिकादास, कृत्तिकासेन तथा कृत्तिकारक्षित आदि। इसी प्रकार दूसरे २७ नक्षत्रों के भी नाम जानने चाहिएं।

(ख) देवतास्थापना प्रमाण- कृत्तिका वगैरह नक्षत्रों के अठाईस ही देवता हैं। उनमें से किसी के नाम की स्थापना देवतास्थापना प्रमाण है। जैसे- कृत्तिका नक्षत्र का अधिष्ठाता देव अग्नि है। इसलिए कृत्तिका नक्षत्र में पैदा हुए का नाम आग्निक या अग्निदत्त वगैरह रखना।

(ग) कुलनाम स्थापना प्रमाण- जो जीव जिस उग्रादि कुल में उत्पन्न हुआ है, उस कुल से नाम की स्थापना करना कुलस्थापना है। जैसे कौरव, ज्ञातपुत्र वगैरह।

(घ) पासंडनाम- किसी मत या सम्प्रदाय के नाम की स्थापना करना। जैसे-निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक, आजीवक ये पाँच प्रकार के श्रमण तथा नैयायिकादि मतों के पाण्डुरंग वगैरह नामों की स्थापना।

(ङ) गण स्थापना-- मल्ल नट वगैरह की टोली को गण कहते

हैं। जो जिस गण में है उसकी उस नाम से स्थापना करना गण स्थापना है। जैसे– मल्ल, मल्लदत्त इत्यादि।
(च) जीवन हेतु– जिसके यहाँ सन्तान पैदा होते ही मर जाती है, वहाँ सन्तान को जीवित रखने के लिए विचित्र नाम रक्खे जाते हैं। जैसे–कचरामल, कचरोशाह, पूँजोशाह, ऊकरड़ोशाह इत्यादि। इसी प्रकार उज्झितक (छोड़ा हुआ), शूर्पक (छाज में डाल कर छोड़ा हुआ) वगैरह नाम भी जानने चाहिएं।
(छ) अभिप्राय स्थापना– जो नाम बिना किसी गुण या जाति वगैरह के भिन्न भिन्न देशों में अपने अपने अभिप्राय के अनुसार प्रचलित हैं, उन्हें अभिप्राय स्थापना कहते हैं। जैसे–आम, नीम निम्बू वगैरह वृक्षों के नाम।

द्रव्य प्रमाण– शास्त्रों में जिस द्रव्य का जो नाम बताया गया है, उसे द्रव्यप्रमाण नाम कहते हैं। इसके छः भेद हैं– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

भाव प्रमाण–शब्द की व्याकरणादि से व्युत्पत्ति करने के बाद जो अर्थ निकलता है उसे भावप्रमाण कहते हैं। इसके चार भेद हैं– सामासिक, तद्धितज, धातुज और नैरुक्त।

समासज– दो या बहुत पदों के मिलाने को समास कहते हैं। इसके सात भेद हैं–
(क) द्वन्द्व– जहाँ समान विभक्ति वाले दो पदों का समुच्चय हो उसे द्वन्द्व कहते हैं। जैसे–दन्त और ओष्ठ का द्वन्द्व होने से दन्तौष्ठ हो गया। इसी तरह स्तनोदर (स्तन और उदर), वस्त्रपात्र, अश्वमहिष (घोड़ा और भैंसा), अहिनकुल (साँप और नेवला) इत्यादि।
(ख) बहुव्रीहि–जिस समास में समस्त पदों के अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ प्रधान हो उसे बहुव्रीहि कहते हैं। जैसे– जिस

गिरि में कुटज और कदम्ब खिले हैं उसे 'पुष्पितकुटजकदम्ब' कहा जाता है। यहाँ समस्त पदों के अतिरिक्त गिरि अर्थ प्रधान है।
(ग) कर्मधारय–समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय कहते हैं। जैसे– धवलवृषभ (सफेद बैल)।
(घ) द्विगु–जिस समास का पहला पद संख्यावाचक हो उसे द्विगु कहते हैं। जैसे– त्रिमधुर, पञ्चमूली।
(ङ) तत्पुरुष–उत्तरपद प्रधान द्वितीयादि विभक्त्यन्त पदों के समास को तत्पुरुष कहते हैं। जैसे– तीर्थकाक इत्यादि।
(च) अव्ययीभाव– जिसमें पहले पद का अर्थ प्रधान हो उसे अव्ययीभाव कहते हैं। जैसे– अनुग्रामम् (ग्राम के समीप) अनुनदि (नदी के समीप) इत्यादि।
(छ) एकशेष– एक विभक्ति वाले पदों का वह समास जिस में एक पद के सिवाय दूसरे पदों का लोप हो जाता है, एक शेष कहलाता है। जैसे– पुरुषौ (पुरुषश्च पुरुषश्च) दो पुरुष।

तद्धितज– जहाँ तद्धित से व्युत्पत्ति करके नाम रक्खा जाय उसे तद्धितज भावप्रमाण कहते हैं। इसके आठ भेद हैं–
(क) कर्म–जैसे दूष्य अर्थात् कपड़े का व्यापारी दौष्यिक कहलाता है। सूत बेचने वाला सौत्रिक इत्यादि।
(ख) शिल्पज– जिसका कपड़े बुनने का शिल्प है उसे वास्त्रिक कहा जाता है। तन्त्री बजाने वाले को तान्त्रिक इत्यादि।
(ग) श्लाघाज–प्रशंसनीय अर्थ के बोधक पद। जैसे–श्रमण आदि।
(घ) संयोगज–जो नाम दो पदों के संयोग से हो। जैसे–राजा का ससुर। भगिनीपति इत्यादि।
(ङ) समीपज– जैसे गिरि के समीप वाले नगर को गिरिनगर कहा जाता है। विदिशा के समीप का वैदिश इत्यादि।
(च) संयूथज– जैसे तरङ्गवतीकार इत्यादि।

(छ) ऐश्वर्यज- जैसे राजेश्वर आदि ।
(ज) अपत्यज- जैसे तीर्थङ्कर जिसका पुत्र है उसे तीर्थङ्कर माता कहा जाता है।

धातुज- 'भू' आदि धातुओं से बने हुए नाम धातुज कहलाते हैं। जैसे भावकः।

नैरुक्त- नाम के अक्षरों के अनुसार निश्चित अर्थ का बताना निरुक्त है। निरुक्त से बनाया गया नाम नैरुक्त कहलाता है। जैसे जो मही (पृथ्वी) पर सोवे उसे महिष कहा जाता है इत्यादि।

(अनुयोगद्वार सूत्र १३०)

७२०- अनन्तक दस

जिस वस्तु का संख्या आदि किसी प्रकार से अन्त न हो उसे अनन्तक कहते हैं। इसके दस भेद है-

(१) नामानन्तक- सचेतन या अचेतन जिस वस्तु का 'अनन्तक' यह नाम है उसे नामानन्तक कहा जाता है।

(२) स्थापनानन्तक- अक्ष वगैरह में 'अनन्तक' की स्थापना करना स्थापनानन्तक है।

(३) द्रव्यानन्तक- जीव और पुद्गल द्रव्य में रहने वाली अनन्तता को द्रव्यानन्तक कहते हैं। जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य की अपेक्षा अनन्त हैं।

(४) गणनानन्तक- एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, अनन्त इस प्रकार केवल गिनती करना गणनानन्तक है। इस में वस्तु की विवक्षा नहीं होती।

(५) प्रदेशानन्तक- आकाश के प्रदेशों में रहने वाले आनन्त्य को प्रदेशानन्तक कहते हैं।

(६) एकतोऽनन्तक- भूतकाल या भविष्यत् काल को एकतोऽनन्तक कहते हैं, क्योंकि भूत काल आदि की अपेक्षा अनन्त है

और भविष्यत्काल अन्त की अपेक्षा से।

(७) द्विधाऽनन्तक– जो आदि और अन्त दोनों अपेक्षाओं से अनन्त हो। जैसे काल।

(८) देशविस्तारानन्तक– जो नीचे और ऊपर अर्थात् मोटाई की अपेक्षा अन्त वाला होने पर भी विस्तार की अपेक्षा अनन्त हो। जैसे– आकाश का एक प्रतर। आकाश के एक प्रतर की मोटाई एक प्रदेश जितनी होती है इसलिए मोटाई की अपेक्षा उसका दोनों तरफ से अन्त है। लम्बाई और चौड़ाई की अपेक्षा वह अनन्त है इसलिए देश अर्थात् एक तरफ से विस्तारानन्तक है।

(९) सर्वविस्तारानन्तक– जो लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि सभी की अपेक्षा अनन्त हो वह सर्वविस्तारानन्तक है। जैसे– आकाशास्तिकाय।

(१०) शाश्वतानन्तक– जिसके कभी आदि या अन्त न हों वह शाश्वतानन्तक है। जैसे जीव आदि द्रव्य। (ठाणांग, सूत्र ७३१)

७२१– संख्यान दस

जिस उपाय से किसी वस्तु की संख्या या परिमाण का पता लगे उसे संख्यान कहते हैं। इसके दस भेद हैं–

(१) परिक्रम–जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि को परिक्रम कहते हैं।

(२) व्यवहार– श्रेणी, व्यवहार वगैरह पाटी गणित में प्रसिद्ध अनेक प्रकार का गणित व्यवहार संख्यान है।

(३) रज्जु– रस्सी से नाप कर लम्बाई चौड़ाई आदि का पता लगाना रज्जुसंख्यान है। इसी को क्षेत्र गणित कहते हैं।

(४) राशि– धान वगैरह के ढेर का नाप कर या तोल कर परिमाण जानना राशिसंख्यान है। इसी को राशिव्यवहार भी कहते हैं।

(५) कलासवर्ण– कला अर्थात् वस्तु के अंशों को बराबर करके

जो गणित किया जाता है, वह कलासवर्ण है।

(६) जावंतावइ (यावत्तावत्)- एक संख्या को उसी से गुणा करना। अथवा किसी संख्या का एक से लेकर जोड़ निकालने के लिए गुणा वगैरह करना। इसका क्रम इस प्रकार है-

गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो वाञ्छयुतो गच्छसंगुणः कार्यः।
द्विगुणीकृतवाञ्छहृते वदन्ति सङ्कलितमाचार्याः॥

अर्थात्- एक से लेकर किसी संख्या का जोड़ करने के लिए जिस संख्या तक जोड़ करना हो उसे अपनी इच्छानुसार किसी संख्या से गुणा करे। गुणनफल में जिस संख्या से गुणा किया गया है, उसे जोड़ दे। इससे प्राप्त संख्या को जोड़ की जाने वाली संख्या से गुणा करे। वाञ्छित संख्या को (जिससे पहले पहल गुणा किया था) दुगुना करके गुणन फल को भाग दे देवे। इस से जोड़ निकल आएगा। जैसे- एक से लेकर दस तक का योग फल निकालना है। उसे अपनी मरजी के अनुसार किसी भी संख्या से गुणा कर दिया जाय। आठ से गुणा किया जाय तो अस्सी हो जायगा। यहाँ सुविधा के लिए पहले (१०) संख्या का नाम गच्छ तथा दूसरी (८) का वाञ्छा रक्खा जाता है। गच्छ (१०) को वाञ्छा (८) से गुणा करने पर ८० हुए। फिर वाञ्छा (८) को गुणनफल (८०) में मिला देने से ८८ हुए। ८८ को फिर गच्छ (१०) से गुणा किया जाय तो गुणनफल ८८० हुए। इसके बाद वाञ्छा (८) को दुगुना (१६) करके ८८० पर भाग देने से ५५ निकल आए। यही एक से लेकर दस तक की संख्याओं का योगफल है।

ऊपर लिखा तरीका ठाणांग सूत्र की टीका में दिया गया है। इससे सरल एक दूसरा तरीका भी है-

जिस संख्या तक योग फल निकालना हो, उसे एक अधिक

संख्या से गुणा करके दो से भाग दे दे, योगफल निकल आएगा। जैसे– १० तक का योगफल निकालने के लिए दस संख्या को एक अधिक अर्थात् ११ से गुणा कर दे। गुणनफल ११० हुआ। उसको दो से भाग देने पर '५५' निकल आए।

(७) वर्ग– किसी संख्या को उसी से गुणा करना वर्गसंख्यान है –जैसै दो को दो से गुणा करने पर चार हुए।

(८) घन–एक सरीखी तीन संख्याएं रखकर उन्हें उत्तरोत्तर गुणा करना घनसंख्यान है। जैसे– २, २, २। यहाँ २ को २ से गुणा करने पर ४ हुआ। ४ को २ से गुणा करने पर ८ हुआ।

(९) वर्गवर्ग– वर्ग अर्थात् प्रथम संख्या के गुणनफल को उसी वर्ग से गुणा करना वर्गवर्गसंख्यान है। जैसे २ का वर्ग हुआ ४। ४ का वर्ग १६। १६ संख्या २ का वर्गवर्ग है।

(१०) कल्प– आरी से लकड़ी को काट कर उसका परिमाण जानना कल्पसंख्यान है। (ठाणांग, सूत्र ७४७)

७२२– वाद के दस दोष

गुरु शिष्य या वादी प्रतिवादी के आपस में शास्त्रार्थ करने को वाद कहते हैं। इसके नीचे लिखे दस दोष हैं–

(१) तज्जातदोष– गुरु या प्रतिवादी के जन्म, कुल, जाति या पेशे आदि किसी निजी बात में दोष निकालना अर्थात् व्यक्तिगत आक्षेप करना। अथवा प्रतिवादी के द्वारा क्रोध में आकर किया गया मुखस्तम्भन आदि दोष, जिससे बोलते बोलते दूसरे की जबान बन्द हो जाय।

(२) मतिभंग दोष– अपनी ही मति अर्थात् बुद्धि का भंग हो जाना। जानी हुई बात को भूल जाना या उसका समय पर न सूझना मतिभंग दोष है।

(३) प्रशास्तृदोष– सभा की व्यवस्था करने वाले सभापति या किसी प्रभावशाली सभ्य द्वारा पक्षपात के कारण प्रतिवादी को विजयी बना देना, अथवा प्रतिवादी के किसी बात को भूल जाने पर उसे बता देना।

(४) परिहरण दोष–अपने सिद्धान्त के अनुसार अथवा लोक-रूढ़ि के कारण जिस बात को नहीं कहना चाहिए, उसी को कहना परिहरण दोष है। अथवा सभा के नियमानुसार जिस बात को कहना चाहिए उसे न कहना या वादी के द्वारा दिए गए दोष का ठीक ठीक परिहार बिना किए जात्युत्तर देना परिहरण दोष है। जैसे– किसी बौद्ध वादी ने अनुमान बनाया 'शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक अर्थात् किया गया है। जैसे घड़ा।' शब्द को नित्य मानने वाला मीमांसक इसका खण्डन नीचे लिखे अनुसार करता है–शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु दिया है, यह कृतकत्व कौनसा है? घट में रहा हुआ कृतकत्व या शब्द में रहा हुआ? यदि घटगत कृतकत्व हेतु है तो वह शब्द में नहीं है, इस लिए हेतु पक्ष में न रहने से असिद्ध हो जायगा। यदि शब्दगत कृतकत्व हेतु है तो उसके साथ अनित्यत्व की व्याप्ति नहीं है इस लिए हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव न होने से हेतु असाधारणानैकान्तिक हो जायगा।

बौद्धों के अनुमान के लिए मीमांसकों का यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह कोई भी अनुमान न बन सकेगा। धूएँ से आग का अनुमान भी न हो सकेगा। 'पर्वत में आग है क्योंकि धूआँ है, जैसे रसोईघर में।' इस अनुमान में भी विकल्प किए जा सकते हैं।

अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिए गए धूम रूप हेतु में कौनसा धूम विवक्षित है, पर्वत में रहा हुआ धूम या रसोई वाला धूम? यदि पर्वत वाला, तो उसकी व्याप्ति अग्नि के साथ गृहीत नहीं

है, इस लिए हेतु असाधारणानैकान्तिक हो जायगा। यदि रसोई घर वाला, तो असिद्ध है क्योंकि वह धूआँ पर्वत में नहीं है। हेतु में इस प्रकार के दोष देना परिहरण दोष है।

(५) लक्षण दोष- बहुत से पदार्थों में किसी एक पदार्थ को अलग करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है। जैसे जीव का लक्षण उपयोग। जीव में उपयोग ऐसी विशेषता है जो इसे सब अजीवों से अलग कर देती है। अथवा, जिससे अपना और दूसरे का सच्चा ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। यहाँ अपना और पराया सच्चा ज्ञान रूप लक्षण प्रमाण को दूसरे सब पदार्थों से अलग करता है।

लक्षण के तीन दोष हैं- (क) अव्याप्ति (ख) अति व्याप्ति और (ग) असम्भव।

(क) अव्याप्ति- जिस पदार्थ के सन्निधान और असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में फरक हो जाता है, उसे स्वलक्षण अर्थात् विशेष पदार्थ कहते हैं। यह स्वलक्षण का लक्षण है किन्तु यह इन्द्रियप्रत्यक्ष को लेकर ही कहा जा सकता है योगिप्रत्यक्ष को लेकर नहीं, क्योंकि योगिप्रत्यक्ष के लिए पदार्थ के पास होने की आवश्यकता नहीं है। इस लिए स्वलक्षण का यह लक्षण सभी स्वलक्षणों को व्याप्त नहीं करता। इसी को अव्याप्ति दोष कहते हैं अर्थात् लक्षण यदि लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जाय) के एक देश में रहे और एक देश में नहीं तो उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं।

(ख) अतिव्याप्ति-लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य (लक्ष्य के सिवाय दूसरे पदार्थ) दोनों में रहना अतिव्याप्ति दोष है। जैसे- 'पदार्थों की उपलब्धि के हेतु को प्रमाण कहते हैं।' पदार्थों की उपलब्धि के आँख, दही चावल खाना आदि बहुत से हेतु हैं। वे सभी प्रमाण हो जाएंगे। इस लिए यहाँ अतिव्याप्ति दोष है।

(ग) असम्भव-लक्षण का लक्ष्य में बिल्कुल न रहना असम्भव

दोष है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग।

नोट- ठाणांग सूत्र की टीका में लक्षण के दो ही दोष बताए हैं, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति। किन्तु न्याय शास्त्र के ग्रन्थों में तीनों लक्षण प्रचलित हैं।

अथवा दृष्टान्त को लक्षण कहते हैं और दृष्टान्त के दोष को लक्षण दोष। साध्यविकल, साधनविकल, उभयविकल आदि दृष्टान्तदोष के कई भेद हैं। जिस दृष्टान्त में साध्य न हो उसे साध्यविकल कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि मूर्त है। जैसे घड़ा। यहाँ घड़े में नित्यत्व रूप साध्य नहीं है।

(६) कारणदोष- जिस हेतु के लिए कोई दृष्टान्त न हो। परोक्ष अर्थ का निर्णय करने के लिए सिर्फ उपपत्ति अर्थात् युक्ति को कारण कहते हैं। जैसे सिद्ध निरुपम सुख वाले होते है क्योंकि उनकी ज्ञान दर्शन आदि सभी बातें अव्याबाध और अनन्त हैं। यहाँ पर साध्य और साधन दोनों से युक्त कोई दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध नहीं है। इस लिए इसे उपपत्ति कहते हैं। दृष्टान्त होने पर यही हेतु हो जाता।

साध्य के विना भी कारण का रह जाना कारण दोष है। जैसे- वेद अपौरुषेय है, क्योंकि वेद का कोई कारण नहीं सुना जाता। कारण का न सुनाई देना अपौरुषेयत्व को छोड़ कर दूसरे कारणों से भी हो सकता है।

(७) हेतुदोष--जो साध्य के होने पर हो और उसके विना न हो तथा अपने अस्तित्व से साध्य का ज्ञान करावे उसे हेतु कहते हैं। हेतु के तीन दोष हैं-(क) असिद्ध (ख) विरुद्ध (ग) अनैकान्तिक।

(क) असिद्ध- यदि पक्ष में हेतु का रहना वादी, प्रतिवादी या दोनों को असिद्ध हो तो असिद्ध दोष है। जैसे-शब्द अनित्य है, क्योंकि आँखों से जाना जाता है। घड़े की तरह। यहाँ शब्द

(पक्ष) में आँखों के ज्ञान का विषय होना (हेतु) असिद्ध है।

(ख) विरुद्ध– जो हेतु साध्य से उल्टा सिद्ध करे। जैसे– 'शब्द नित्य है, क्योंकि कृतक है। घड़े की तरह।' यहाँ कृतकत्व (हेतु) नित्यत्व (साध्य) से उल्टे अनित्यत्व को सिद्ध करता है। क्योंकि जो वस्तु की जाती है वह नित्य नहीं होती।

(ग) अनैकान्तिक– जो हेतु साध्य के साथ तथा उसके बिना भी रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि प्रमेय है, आकाश की तरह। यहाँ प्रमेयत्व हेतु नित्य तथा अनित्य सभी पदार्थों में रहता है इस लिए वह नित्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकता।

(८) संक्रामण– प्रस्तुत विषय को छोड़ कर अप्रस्तुत विषय में चले जाना अथवा अपना मत कहते कहते उसे छोड़ कर प्रतिवादी के मत को स्वीकार कर लेना तथा उसका प्रतिपादन करने लगना संक्रामण दोष है।

(९) निग्रह–छल आदि से दूसरे को पराजित करना निग्रह दोष है।

(१०) वस्तुदोष– जहाँ साधन और साध्य रहें ऐसे पक्ष को वस्तु कहते हैं। पक्ष के दोषों को वस्तुदोष कहते हैं। प्रत्यक्ष-निराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत आदि इसके कई भेद हैं। जो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित हो उसे प्रत्यक्षनिराकृत कहते हैं। जैसे– शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। यह कहना प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि शब्द का कान से सुना जाना प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार दूसरे दोष भी समझ लेने चाहिएं। (ठाणांग, सूत्र ७४३ टीका)

७२३– विशेष दोष दस

जिसके कारण वस्तुओं में भेद हो अर्थात् सामान्य रूप से ग्रहण की हुई बहुत सी वस्तुओं में से किसी व्यक्ति विशेष को पहिचाना जाय उसे विशेष कहते हैं। विशेष का अर्थ है व्यक्ति या भेद। पहले सामान्य रूप से वाद के दस दोष बताए गए हैं।

यहाँ उन्हीं के विशेष दोष बताए जाते हैं। वे दस हैं--

(१) वस्तु-- पक्ष के दोष को वस्तु दोष कहते हैं। दोष सामान्य की अपेक्षा वस्तु दोष विशेष है। वस्तुदोष में भी प्रत्यक्षनिराकृत आदि कई विशेष हैं। उनके उदाहरण नीचे लिखे अनुसार हैं--

(क) प्रत्यक्षनिराकृत-- जो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित हो। जैसे-- शब्द कान का विषय नहीं है।

(ख) अनुमाननिराकृत--जो पक्ष अनुमान से बाधित हो। जैसे-- शब्द नित्य है। यह बात शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाती है।

(ग) प्रतीतिनिराकृत--जो लोक में प्रसिद्ध ज्ञान से बाधित हो। जैसे-- शशि चन्द्र नहीं है। यह बात सर्वसाधारण में प्रसिद्ध शशि और चन्द्र के ऐक्यज्ञान से बाधित है।

(घ) स्ववचननिराकृत-- जो अपने ही वचनों से बाधित हो। जैसे-- मैं जो कुछ कहता हूँ झूठ कहता हूँ। यहाँ कहने वाले का उक्त वाक्य भी उसी के कथनानुसार मिथ्या है।

(ङ) लोकरूढिनिराकृत-- जो लोकरूढि के अनुसार ठीक न हो। जैसे-- मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

(२) तज्जातदोष-- प्रतिवादी की जाति या कुल आदि को लेकर दोष देना तज्जातदोष है। यह भी सामान्य दोष की अपेक्षा विशेष है। जन्म, कर्म, मर्म आदि से इसके अनेक भेद हैं।

(३) दोष--पहले कहे हुए मतिभंग आदि बाकी बचे आठ दोषों को सामान्य रूप से न लेकर आठ भेद लेने से यह भी विशेष है अथवा दोषों के अनेक प्रकार यहाँ दोष रूप विशेष में लिए गए हैं।

(४) एकार्थिक-- एक अर्थ वाला शब्द एकार्थिक विशेष है। जैसे-- घट शब्द एकार्थिक है और गो शब्द अनेकार्थिक है। गो शब्द के दिशा, दृष्टि, वाणी, जल, पृथ्वी, आकाश, वज्र, किरण

(पक्ष) में आँखों के ज्ञान का विषय होना (हेतु) असिद्ध है।

(ख) विरुद्ध– जो हेतु साध्य से उल्टा सिद्ध करे। जैसे– 'शब्द नित्य है, क्योंकि कृतक है। घड़े की तरह।' यहाँ कृतकत्व (हेतु) नित्यत्व (साध्य) से उल्टे अनित्यत्व को सिद्ध करता है। क्योंकि जो वस्तु की जाती है वह नित्य नहीं होती।

(ग) अनैकान्तिक– जो हेतु साध्य के साथ तथा उसके विना भी रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि प्रमेय है, आकाश की तरह। यहाँ प्रमेयत्व हेतु नित्य तथा अनित्य सभी पदार्थों में रहता है इस लिए वह नित्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकता।

(८) संक्रामण– प्रस्तुत विषय को छोड़ कर अप्रस्तुत विषय में चले जाना अथवा अपना मत कहते कहते उसे छोड़ कर प्रतिवादी के मत को स्वीकार कर लेना तथा उसका प्रतिपादन करने लगना. संक्रामण दोष है।

(९) निग्रह– छल आदि से दूसरे को पराजित करना निग्रह दोष है।

(१०) वस्तुदोष– जहाँ साधन और साध्य रहें ऐसे पक्ष को वस्तु कहते हैं। पक्ष के दोषों को वस्तुदोष कहते हैं। प्रत्यक्ष-निराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत आदि इसके कई भेद हैं। जो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित हो उसे प्रत्यक्षनिराकृत कहते हैं। जैसे– शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। यह कहना प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि शब्द का कान से सुना जाना प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार दूसरे दोष भी समझ लेने चाहिएं। (ठाणांग, सूत्र ७४३ टीका)

७२३– विशेष दोष दस

जिसके कारण वस्तुओं में भेद हो अर्थात् सामान्य रूप से ग्रहण की हुई बहुत सी वस्तुओं में से किसी व्यक्ति विशेष को पहिचाना जाय उसे विशेष कहते हैं। विशेष का अर्थ है व्यक्ति या भेद। पहले सामान्य रूप से वाद के दस दोष बताए गए हैं।

यहाँ उन्हीं के विशेष दोष बताए जाते हैं। वे दस हैं--

(१) वस्तु--पक्ष के दोष को वस्तु दोष कहते हैं। दोष सामान्य की अपेक्षा वस्तु दोष विशेष है। वस्तुदोष में भी प्रत्यक्षनिराकृत आदि कई विशेष हैं। उनके उदाहरण नीचे लिखे अनुसार हैं--

(क) प्रत्यक्षनिराकृत-- जो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित हो। जैसे-- शब्द कान का विषय नहीं है।

(ख) अनुमाननिराकृत--जो पक्ष अनुमान से बाधित हो। जैसे-- शब्द नित्य है। यह बात शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाती है।

(ग) प्रतीतिनिराकृत--जो लोक में प्रसिद्ध ज्ञान से बाधित हो। जैसे-- शशि चन्द्र नहीं है। यह बात सर्वसाधारण में प्रसिद्ध शशि और चन्द्र के ऐक्यज्ञान से बाधित है।

(घ) स्ववचननिराकृत-- जो अपने ही वचनों से बाधित हो। जैसे-- मैं जो कुछ कहता हूँ झूठ कहता हूँ। यहाँ कहने वाले का उक्त वाक्य भी उसी के कथनानुसार मिथ्या है।

(ङ) लोकरूढिनिराकृत-- जो लोकरूढि के अनुसार ठीक न हो। जैसे-- मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

(२) तज्जातदोष-- प्रतिवादी की जाति या कुल आदि को लेकर दोष देना तज्जातदोष है। यह भी सामान्य दोष की अपेक्षा विशेष है। जन्म, कर्म, मर्म आदि से इसके अनेक भेद हैं।

(३) दोष--पहले कहे हुए मतिभंग आदि बाकी बचे आठ दोषों को सामान्य रूप से न लेकर आठ भेद लेने से यह भी विशेष है अथवा दोषों के अनेक प्रकार यहाँ दोष रूप विशेष में लिए गए हैं।

(४) एकार्थिक-- एक अर्थ वाला शब्द एकार्थिक विशेष है। जैसे-- घट शब्द एकार्थिक है और गो शब्द अनेकार्थिक है। गो शब्द के दिशा, दृष्टि, वाणी, जल, पृथ्वी, आकाश, वज्र, किरण

आदि अनेक अर्थ हैं अथवा समान अर्थ वाले शब्दों में समभिरूढ और एवम्भूत नय के अनुसार भेद डाल देना एकार्थिक विशेष है। जैसे- शक्र और पुरन्दर दोनों शब्दों का एक अर्थ होने पर भी किसी कार्य में शक्त अर्थात् समर्थ होते समय ही शक्र और पुरों का दारण (नाश) करते समय ही पुरन्दर कहना।

(५) कारण-- कार्य कारण रूप वस्तु समूह में कारण विशेष है। इसी तरह कार्य भी विशेष हो सकता है, अथवा कारणों के भेद कारणविशेष हैं। जैसे घट का परिणामी कारण मिट्टी है, अपेक्षाकारण दिशा, देश, काल, आकाश, पुरुष, चक्र आदि हैं। अथवा मिट्टी वगैरह उपादान कारण हैं, कुलाल (कुम्हार) आदि निमित्त कारण हैं और चक्र, चीवर (डोरा) आदि सहकारी कारण हैं।

(६) प्रत्युत्पन्न दोष-- प्रत्युत्पन्न का अर्थ है वर्तमानकालिक या जो पहले कभी न हुआ हो। अतीत या भविष्यत्काल को छोड़ कर वर्तमानकाल में लगने वाला दोष प्रत्युत्पन्नदोष है। अथवा प्रत्युत्पन्न स्वीकार की हुई वस्तु में दिए जाने वाले अकृताभ्यागम, कृतप्रणाश आदि दोष प्रत्युत्पन्न दोष हैं।

(७) नित्यदोष-- जिस दोष के आदि और अन्त न हों। जैसे अभव्य जीवों के मिथ्यात्व आदि दोष। अथवा वस्तु को एकान्त नित्य मानने पर जो दोष लगते हैं, उन्हें नित्य दोष कहते हैं।

(८) अधिक दोष--दूसरे को ज्ञान कराने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण आदि जितनी बातों की आवश्यकता है उससे अधिक कहना अधिक दोष है।

(९) आत्मकृत-- जो दोष स्वयं किया हो उसे आत्मकृत दोष कहते हैं।

(१०) उपनीत-- जो दोष दूसरे द्वारा लगाया गया हो उसे उपनीत दोष कहते हैं। (ठाणांग, सूत्र ७४३)

७२४- प्राण दस

जिन से प्राणी जीवित रहें उन्हें प्राण कहते हैं। वे दस हैं- (१) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण (२) रसनेन्द्रिय बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण (४) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण (६) काय बल प्राण (७) वचन बल प्राण (८) मन बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण (१०) आयुष्य बल प्राण।

इन दस प्राणों में से किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। जैन शास्त्रों में हिंसा के लिए प्रायः प्राणातिपात शब्द का ही प्रयोग होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का अतिपात (विनाश) करना ही हिंसा है।

(ठाणांग, सूत्र ४८ की टीका) (प्रवचनसारोद्धार गाथा १०६६)

एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण होते है- स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, काय बल प्राण, श्वासोच्छ्वास बल प्राण, आयुष्य बल प्राण। द्वीन्द्रिय में छः प्राण होते हैं- चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय और वचन बल प्राण। त्रीन्द्रिय में सात प्राण होते हैं- छः पूर्वोक्त और घ्राणेन्द्रिय। चतुरिन्द्रिय में आठ प्राण होते हैं- पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में नौ प्राण होते हैं- पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं- पूर्वोक्त नौ और मन बल प्राण।

७२५- गति दस

गतियाँ दस बतलाई गई हैं। वे निम्न प्रकार हैं-

(१) नरकगति- नरक गति नाम कर्म के उदय से नरक पर्याय की प्राप्ति होना नरकगति कहलाती है। नरक गति को निरय गति भी कहते हैं। अय नाम शुभ, उससे रहित जो गति हो वह निरय गति कहलाती है।

(२) नरक विग्रह गति- नरक में जाने वाले जीवों की जो विग्रह

गति ऋजु (सरल-सीधे) रूप से या वक्र (टेढ़े) रूप से होती है, उसे नरक विग्रह गति कहते हैं।

इसी तरह (३) तिर्यञ्च गति (४) तिर्यञ्च विग्रह गति (५) मनुष्य गति (६) मनुष्य विग्रह गति (७) देव गति (८) देव विग्रह गति समझनी चाहिए। इन सब की विग्रह गति ऋजु रूप से या वक्र रूप से होती है।

(९) सिद्ध गति- आठ कर्मों का सर्वथा क्षय करके लोकाग्र पर स्थित सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करना सिद्धगति कहलाती है।

(१०) सिद्ध विग्रह गति-अष्ट कर्म से विमुक्त प्राणी की आकाश प्रदेशों का अतिक्रमण (उल्लंघन) रूप जो गति अर्थात् लोकान्त प्राप्ति वह सिद्ध विग्रह गति कहलाती है।

कहीं कहीं पर विग्रह गति का अपरनाम वक्र गति कहा गया है। यह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के लिए तो उपयुक्त है, क्योंकि उन की विग्रह गति ऋजु रूप से और वक्र रूप से दोनों तरह होती है किन्तु अष्ट कर्म से विमुक्त जीवों की विग्रह गति वक्र नहीं होती। अथवा इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि पहले जो सिद्ध गति बतलाई गई है वह सामान्य सिद्ध गति कही गई है और दूसरी सिद्धाविग्रह गति अर्थात् सिद्धों की अविग्रह-अवक्र (सरल-सीधी) गति होती है। यह विशेष की अपेक्षा से कथित सिद्धाविग्रह गति है। अतः सिद्ध गति और सिद्धाविग्रह गति सामान्य और विशेष की अपेक्षा से कही गई है। (ठाणांग, सूत्र ७४४)

७२६- दस प्रकार के सर्व जीव

(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेउ काय (४) वायुकाय (५) वनस्पति काय (६) द्वीन्द्रिय (७) त्रीन्द्रिय (८) चतुरिन्द्रिय (९) पञ्चेन्द्रिय (१०) अनिन्द्रिय। सिद्ध जीव अनिन्द्रिय कहलाते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७७१)

७२७- दस प्रकार के सर्व जीव

(१) प्रथम समय नैरयिक (२) अप्रथम समय नैरयिक
(३) प्रथम समय तिर्यञ्च (४) अप्रथम समय तिर्यञ्च
(५) प्रथम समय मनुष्य (६) अप्रथम समय मनुष्य
(७) प्रथम समय देव (८) अप्रथम समय देव
(९) प्रथम समय सिद्ध (१०) अप्रथम समय सिद्ध ।

(ठाणांग, सूत्र ७७१)

७२८-संसार में आने वाले प्राणियों के दस भेद

(१) प्रथम समय एकेन्द्रिय (२) अप्रथम समय एकेन्द्रिय
(३) प्रथम समय द्वीन्द्रिय (४) अप्रथम समय द्वीन्द्रिय
(५) प्रथम समय त्रीन्द्रिय (६) अप्रथम समय त्रीन्द्रिय
(७) प्रथम समय चतुरिन्द्रिय (८) अप्रथम समय चतुरिन्द्रिय
(९) प्रथम समय पञ्चेन्द्रिय (१०) अप्रथम समय पञ्चेन्द्रिय ।

(ठाणांग, सूत्र ७७१)

७२९- देवों में दस भेद

दस प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाँच प्रकार के ज्योतिषी और बारह प्रकार के वैमानिक देवों में प्रत्येक के दस दस भेद होते हैं। अर्थात् प्रत्येक देव योनि दस विभागों में विभक्त है।

(१) इन्द्र- सामानिक आदि सभी प्रकार के देवों का स्वामी इन्द्र कहलाता है।

(२) सामानिक- आयु आदि में जो इन्द्र के बराबर होते हैं उन्हें सामानिक कहते हैं। केवल इन में इन्द्रत्व नहीं होता शेष सभी बातों में इन्द्र के समान होते हैं, बल्कि इन्द्र के लिए ये अमात्य, माता, पिता एवं गुरू आदि की तरह पूज्य होते हैं।

(३) त्रायस्त्रिंश- जो देव मन्त्री और पुरोहित का काम करते हैं

वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

(४) पारिषद्य– जो देव इन्द्र के मित्र सरीखे होते हैं वे पारिषद्य कहलाते हैं।

(५) आत्मरक्षक– जो देव शस्त्र लेकर इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं वे आत्मरक्षक कहलाते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार की तकलीफ या अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं है तथापि आत्मरक्षक देव अपना कर्तव्य पालन करने के लिए हर समय हाथ में शस्त्र लेकर खड़े रहते हैं।

(६) लोकपाल– सीमा (सरहद) की रक्षा करने वाले देव लोकपाल कहलाते हैं।

(७) अनीक– जो देव सैनिक अथवा सेना नायक का काम करते हैं वे अनीक कहलाते हैं।

(८) प्रकीर्णक– जो देव नगर निवासी अथवा साधारण जनता की तरह रहते हैं, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं।

(९) आभियोगिक– जो देव दास के समान होते हैं वे आभियोगिक (सेवक) कहलाते हैं।

(१०) किल्विषिक– अन्त्यज (चाण्डाल) के समान जो देव होते हैं वे किल्विषिक कहलाते हैं। (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य अध्याय ४ सूत्र ४)

७३०– भवनवासी देव दस

भवनवासी देवों के नाम–(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) वायुकुमार (१०) स्तनितकुमार।

ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं इसलिए भवनवासी कहलाते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति असुरकुमारों की अपेक्षा समझनी चाहिए, क्योंकि विशेषतः ये ही भवनों में रहते हैं। नागकुमार आदि

देव तो आवासों में रहते हैं।

भवनवासी देवों के भवन और आवासों में यह फरक होता है कि भवन तो बाहर से गोल और अन्दर से चतुष्कोण होते हैं। उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता है।

शरीर प्रमाण बड़े, मणि तथा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मंडप आवास कहलाते है।

भवन वासी देव भवनों तथा आवासों दोनों मे रहते हैं।

(पन्नवणा पद १) (ठाणाग, सूत्र ७३६) (भगवती शतक २ उद्देशा ७)

(जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३ उद्देशा १ सूत्र ११५)

७३१- असुरकुमारों के दस अधिपति

असुरकुमार देवों के दस अधिपति हैं। उनके नाम (१) चमरेन्द्र (असुरेन्द्र, असुरराज) (२) सोम (३) यम (४) वरुण (५) वैश्रमण (६) बलि (वैरोचनेन्द्र, वैरोचनराज, बलीन्द्र) (७) सोम (८) यम (६) वरुण (१०) वैश्रमण।

असुर कुमारों के प्रधान इन्द्र दो हैं। चमरेन्द्र और बलीन्द्र। इन दोनों इन्द्रों के चार दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं। पूर्व दिशा में सोम, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में वैश्रमण देव। दोनों इन्द्रों के लोकपालों के नाम एक सरीखे हैं।

इन लोकपाल देवों की बहुत सी ऋद्धि है। इन चारों लोकपालों के चार विमान हैं। (१) सन्ध्या प्रभ (२) वरशिष्ट (६) स्वयंज्वल (४) वल्गु। इनमें सोम नाम के लोकपाल का सन्ध्याप्रभ विमान दूसरे लोकपालों के विमानों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। इसकी अधीनता में अनेक देव रहते हैं और वे सब देव सोम नामक लोकपाल की आज्ञा का पालन करते हैं।

७३२- नागकुमारों के दस अधिपति

नागकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र हैं- (१) धरणेन्द्र और (२) भूतानन्द। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं। (१) पूर्व दिशा में कालवाल (२) दक्षिण में कोलवाल (३) पश्चिम में शैलपाल (४) उत्तर दिशा में शंखवाल।

इस प्रकार धरणेन्द्र (नागकुमारेन्द्र, नागकुमारराज) और भूतानन्द (नागकुमारेन्द्र) ये दो इन्द्र और आठ लोकपाल, सब मिल कर नागकुमारों के दस अधिपति हैं। (भगवती श० ३ उ० ८)

७३३- सुपर्णकुमार देवों के दस अधिपति

सुपर्णकुमार जाति के देवों के दो इन्द्र हैं- (१) वेणुदेव और (२) विचित्रपक्ष। इन दोनों इन्द्रों के चार चार लोकपाल (दिग्पाल) हैं। (१) पूर्व में वेणुदालि (२) दक्षिण में चित्र (३) पश्चिम में विचित्र (४) उत्तर में चित्रपक्ष। (भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७३४- विद्युत्कुमार देवों के दस अधिपति

हरिकान्त और सुप्रभकान्त ये दो इनके इन्द्र हैं। इन दोनों के चार चार लोकपाल हैं- (१) पूर्व में हरिस्सह (२) दक्षिण में प्रभ (३) पश्चिम में सुप्रभ (४) उत्तर में प्रभाकान्त।

(भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७३५- अग्निकुमार देवों के दस अधिपति

अग्निकुमार देवों के दो इन्द्र हैं- (१) अग्निसिंह और (२) तेजप्रभ। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं। (१) पूर्व दिशा में अग्नि माणव (२) दक्षिण दिशा में तेज (३) पश्चिम दिशा में तेजसिंह (४) उत्तर दिशा में तेजस्कान्त।

(भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७३६- द्वीपकुमार देवों के दस अधिपति

द्वीपकुमारों के दो इन्द्र हैं- (१) पूर्ण और (२) रूपप्रभ। इनके चार चार लोकपाल हैं। (१) पूर्व में विशिष्ट (२) दक्षिण में रूप (३) पश्चिम में रूपांश (४) उत्तर में रूपकान्त।

(भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७३७- उदधिकुमारों के दस अधिपति

उदधिकुमारों के दो इन्द्र हैं- (१) जलकान्त (२) जलप्रभ। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं। (१) पूर्व दिशा में जलप्रभ (२) दक्षिण दिशा में जल (३) पश्चिम दिशा में जलरूप (४) उत्तर दिशा में जलकान्त। इस तरह उदधिकुमारों के कुल दस अधिपति हैं। (भगवती श० ३ उ० ८)

७३८- दिक्कुमार देवों के दस अधिपति

अमितगति और सिंहविक्रमगति दिक्कुमार देवों के इन्द्र हैं। प्रत्येक इन्द्र के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में क्रमशः (१) अमितवाहन (२) तूर्यगति (३) क्षिप्रगति (४) सिंहगति नामक चार लोकपाल हैं। इस प्रकार दिक्कुमार देवों के दस अधिपति हैं।

(भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७३९- वायुकुमारों के दस अधिपति

वेलम्ब और रिष्ट ये दो इनके इन्द्र हैं। प्रत्येक इन्द्र के चारों दिशाओं में चार लोकपाल हैं। यथा- (१) पूर्व दिशा में प्रभञ्जन (२) दक्षिण दिशा में काल (३) पश्चिम दिशा में महा-काल (४) उत्तर दिशा में अञ्जन।

इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल ये दस वायुकुमारों के अधिपति हैं।

(भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७४०- स्तनित कुमार देवों के दस अधिपति

घोष और महानन्द्यावर्त ये दो स्तनितकुमार देवों के इन्द्र हैं। प्रत्येक इन्द्र के चारों दिशाओं में चार लोकपाल हैं। यथा- (१) पूर्व दिशा में महाघोष (२) दक्षिण दिशा में आवर्त (३) पश्चिम दिशा में व्यावर्त (४) उत्तर दिशा में नन्द्यावर्त।

इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल ये दस स्तनितकुमार देवों के अधिपति हैं। (भगवती शतक ३ उद्देशा ८)

७४१- कल्पोपपन्न इन्द्र दस

कल्पोपपन्न देवलोक बारह हैं। उनके दस इन्द्र ये हैं- (१) सुधर्म देवलोक का इन्द्र सौधर्मेन्द्र या शक्रेन्द्र कहलाता है। (२) ईशान देवलोक का इन्द्र ईशानेन्द्र कहलाता है। (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक (७) शुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत।

इन देवलोकों के इन्द्रों के नाम अपने अपने देवलोक के समान ही हैं। नवें और दसवें देवलोक का प्राणत नामक एक ही इन्द्र होता है। ग्यारहवें और बारहवें देवलोक का भी अच्युत नामक एक ही इन्द्र होता है। इस प्रकार बारह देवलोकों के दस इन्द्र होते हैं। इन देवलोकों में छोटे बड़े का कल्प (व्यवहार) होता है और इनके इन्द्र भी होते हैं। इसलिए ये देवलोक कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

(ठाणाग, सूत्र ७६९)

७४२- जृम्भक देवों के दस भेद

अपनी इच्छानुसार स्वतंन्त्र प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् निरन्तर क्रीड़ा में रत रहने वाले देव जृम्भक कहलाते हैं। ये अति प्रसन्न चित्त रहते हैं और मैथुन सेवन की प्रवृत्ति में आसक्त बने रहते हैं। ये तिर्छे लोक में रहते हैं। जिन मनुष्यों पर ये प्रसन्न हो

जाते हैं उन्हें धन सम्पत्ति आदि से सुखी कर देते हैं और जिन पर ये कुपित हो जाते हैं उन को कई प्रकार से हानि पहुँचा देते हैं। इनके दस भेद हैं–

(१) अन्नजृम्भक– भोजन के परिमाण को बढ़ा देने, घटा देने, सरस कर देने या नीरस कर देने आदि की शक्ति (सामर्थ्य) रखने वाले देव अन्नजृम्भक कहलाते हैं।

(२) पाणजृम्भक– पानी को घटा देने या बढ़ा देने वाले देव।

(३) वस्त्रजृम्भक–वस्त्र को घटाने बढ़ाने की शक्ति रखने वाले देव।

(४) लयणजृम्भक– घर मकान आदि की रक्षा करने वाले देव।

(५) शयनजृम्भक– शय्या आदि की रक्षा करने वाले देव।

(६) पुष्पजृम्भक– फूलों की रक्षा करने वाले देव।

(७) फलजृम्भक– फलों की रक्षा करने वाले देव।

(८) पुष्पफलजृम्भक– फूलों और फलों की रक्षा करने वाले देव। कहीं कहीं इसके स्थान में 'मन्त्रजृम्भक' पाठ भी मिलता है।

(९) विद्याजृम्भक– विद्याओं की रक्षा करने वाले देव।

(१०) अव्यक्तजृम्भक– सामान्य रूप से सब पदार्थों की रक्षा करने वाले देव। कहीं कहीं इसके स्थान में 'अधिपतिजृम्भक' पाठ भी आता है। (भगवती शतक १४ उद्देशा ८)

७४३– दस महर्द्धिक देव

महान् वैभवशाली देव महर्द्धिक देव कहलाते हैं। उनके नाम– (१) जम्बूद्वीप का अधिपति अनादृत देव (२) सुदर्शन (३) प्रिय दर्शन (४) पौण्डरीक (५) महापौण्डरीक और पाँच गरुड वेणु-देव कहे गये हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६४)

७४४– दस विमान

बारह देवलोकों के दस इन्द्र होते हैं। यह पहले बताया जा

चुका है। इन दस इन्द्रों के दस विमान होते हैं। वे इस प्रकार हैं-
(१) प्रथम सुधर्म देवलोक के इन्द्र (शक्रेन्द्र) का पालक विमान है।
(२) दूसरे ईशान देवलोक के इन्द्र (ईशानेन्द्र) का पुष्पक विमान है।
(३) तीसरे सनत्कुमार देवलोक के इन्द्र का सौमनस विमान है।
(४) चौथे माहेन्द्र देवलोक के इन्द्र का श्रीवत्स विमान है।
(५) पाँचवें ब्रह्मलोक देवलोक के इन्द्र का नन्दिकावर्त्त विमान है।
(६) छठे लान्तक देवलोक के इन्द्र का कामकम नामक विमान है।
(७) सातवें शुक्र देवलोक के इन्द्र का प्रीतिगम नामक विमान है।
(८) आठवें सहस्रार देवलोक के इन्द्र का मनोरम विमान है।
(९) नवें आणत और दसवें प्राणत देवलोक का एक ही इन्द्र है और उस का विमलवर नामक विमान है।
(१०) ग्यारहवें आरण और बारहवें अच्युत देवलोक का एक ही इन्द्र है। उसका सर्वतोभद्र नामक विमान है।

इन विमानों में दस इन्द्र रहते हैं। ये विमान नगर के आकार वाले होते हैं। ये शाश्वत नहीं हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६९)

७४५- तृण वनस्पतिकाय के दस भेद

तृण के समान जो वनस्पति हो उसे तृण वनस्पति कहते हैं। बादर की अपेक्षा से वनस्पति की तृण के साथ साधर्म्यता (समानता) बतलाई गई है। बादर की अपेक्षा से ही इसके दस भेद होते हैं सूक्ष्म की अपेक्षा से नहीं। तृण वनस्पति के दस भेद ये हैं-
(१) मूल- जटा यानि जड़।
(२) कन्द- स्कन्ध के नीचे का भाग।
(३) स्कन्ध- थड़ को स्कन्ध कहते हैं।
(४) त्वक्- वल्कल यानि छाल।
(५) शाला- शाखा को शाला कहते हैं।
(६) प्रवाल- अङ्कुर। (७) पत्र- पत्ते।

(८) पुष्प- फूल। (९) फल। (१०) बीज।

(ठाणांग, सूत्र ७७३)

७४६-- दस सूक्ष्म

सूक्ष्म दस प्रकार के होते हैं। वे ये हैं-

(१) प्राण सूक्ष्म (२) पनक सूक्ष्म (३) बीज सूक्ष्म (४) हरित सूक्ष्म (५) पुष्प सूक्ष्म (६) अण्ड सूक्ष्म (७) लयन सूक्ष्म (उत्तिंग सूक्ष्म) (८) स्नेह सूक्ष्म (९) गणित सूक्ष्म (१०) भङ्ग सूक्ष्म।

इन में से आठ की व्याख्या तो इसी भाग के आठवें बोल संग्रह के बोल नं० ६११ में दे दी गई है।

(९) गणित सूक्ष्म- गणित यानि संख्या की जोड़ (संकलन) आदि को गणित सूक्ष्म कहते हैं, क्योंकि इसका ज्ञान भी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही होता है।

(१०) भङ्ग सूक्ष्म-वस्तु विकल्प को भङ्ग कहते हैं। यह भङ्ग दो प्रकार का है। स्थान भङ्ग और क्रम भङ्ग। जैसे हिंसा के विषय में स्थानभङ्ग कल्पना इस प्रकार है-

(क) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।

(ख) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।

(ग) द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा।

(घ) द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा नहीं।

हिंसा के ही विषय में क्रम भङ्ग कल्पना इस प्रकार है-

(क) द्रव्य और भाव से हिंसा।

(ख) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।

(ग) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।

(घ) न द्रव्य से हिंसा, न भाव से हिंसा।

यह भङ्ग सूक्ष्म कहलाता है क्योंकि इसमें विकल्प विशेष होने

चुका है। इन दस इन्द्रों के दस विमान होते हैं। वे इस प्रकार हैं-
(१) प्रथम सुधर्म देवलोक के इन्द्र (शक्रेन्द्र) का पालक विमान है।
(२) दूसरे ईशान देवलोक के इन्द्र(ईशानेन्द्र) का पुष्पक विमान है।
(३) तीसरे सनत्कुमार देवलोक के इन्द्र का सौमनस विमान है।
(४) चौथे माहेन्द्र देवलोक के इन्द्र का श्रीवत्स विमान है।
(५) पाँचवें ब्रह्मलोक देवलोक के इन्द्र का नन्दिकावर्त्त विमान है।
(६) छठे लान्तक देवलोक के इन्द्र का कामकम नामक विमान है।
(७) सातवें शुक्र देवलोक के इन्द्र का प्रीतिगम नामक विमान है।
(८) आठवें सहस्रार देवलोक के इन्द्र का मनोरम विमान है।
(९) नवें आणत और दसवें प्राणत देवलोक का एक ही इन्द्र है और उस का विमलवर नामक विमान है।
(१०) ग्यारहवें आरण और बारहवें अच्युत देवलोक का एक ही इन्द्र है। उसका सर्वतोभद्र नामक विमान है।

इन विमानों में दस इन्द्र रहते हैं। ये विमान नगर के आकार वाले होते हैं। ये शाश्वत नहीं हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६९)

७४५- तृण वनस्पतिकाय के दस भेद

तृण के समान जो वनस्पति हो उसे तृण वनस्पति कहते हैं। बादर की अपेक्षा से वनस्पति की तृण के साथ साधर्म्यता (समानता) बतलाई गई है। बादर की अपेक्षा से ही इसके दस भेद होते हैं सूक्ष्म की अपेक्षा से नहीं। तृण वनस्पति के दस भेद ये हैं-
(१) मूल- जटा यानि जड़।
(२) कन्द- स्कन्ध के नीचे का भाग।
(३) स्कन्ध- थड़ को स्कन्ध कहते हैं।
(४) त्वक्- वल्कल यानि छाल।
(५) शाला- शाखा को शाला कहते हैं।
(६) प्रवाल- अङ्कुर। (७) पत्र- पत्ते।

पहले व्यवधान वाले पुद्गलों का आहार करते हैं या जो प्रथम समय में आहार ग्रहण नहीं करते हैं वे परम्पराहारक कहलाते हैं। उपरोक्त दोनों भेद द्रव्य की अपेक्षा से हैं।

(७) अनन्तर पर्याप्तक– जिनके पर्याप्त होने में एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ा है, वे अनन्तर पर्याप्तक या प्रथम समय पर्याप्तक कहलाते हैं।

(८) परम्परा पर्याप्तक– अनन्तर पर्याप्तक से विपरीत लक्षण वाले अर्थात् उत्पत्ति काल से दो तीन समय पश्चात् पर्याप्तक होने वाले परम्परा पर्याप्तक कहलाते हैं।

ये दोनों भेद भाव की अपेक्षा से हैं।

(९) चरम– वर्तमान नारकी का भव समाप्त करने के पश्चात् जो जीव फिर नारकी का भव प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम अर्थात् अन्तिम भव नारक कहलाते हैं।

(१०) अचरम– वर्तमान नारकी के भव को समाप्त करके जो फिर भी नरक में उत्पन्न होवेंगे वे अचरम नारक कहलाते हैं।

ये दोनों भेद भी भाव की अपेक्षा से हैं क्योंकि चरम और अचरम ये दोनों पर्याय जीव के ही होते हैं।

जिस प्रकार नारकी जीवों के ये दस भेद बतलाए गए हैं वैसे ही दस दस भेद चौवीस ही दण्डकों के जीवों के होते हैं।

(ठाणांग, सूत्र ७५७)

७४८– नारकी जीवों के वेदना दस

(१) शीत– नरक में अत्यन्त शीत (ठण्ड) होती है।
(२) उष्ण (गरमी) (३) क्षुधा (भूख) (४) पिपासा (प्यास)
(५) कण्डू (खुजली) (६) परतन्त्रता (परवशता) (७) भय (डर)
(८) शोक (दीनता) (९) जरा (बुढ़ापा) (१०) व्याधि (रोग)।

उपरोक्त दस वेदनाएं नरकों के अन्दर अत्यन्त अर्थात्

के कारण इसके गहन (गूढ) भाव सूक्ष्म बुद्धि से ही जाने जा सकते हैं। (ठाणांग, सूत्र ७१६)

७४७- दस प्रकार के नारकी

समय के व्यवधान (अन्तर) और अव्यवधान आदि की अपेक्षा नारकी जीवों के दस भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं-

(१) अनन्तरोपपन्नक- अन्तर व्यवधान को कहते हैं। जिन नारकी जीवों को उत्पन्न हुए अभी एक समय भी नहीं बीता है अर्थात् जिनकी उत्पत्ति में अभी एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ा है वे अनन्तरोपपन्नक नारकी कहलाते हैं।

(२) परम्परोपपन्नक- जिन नारकी जीवों को उत्पन्न हुए दो तीन आदि समय बीत गये हैं। उनको परम्परोपपन्नक नारकी कहते हैं। ये दोनों भेद काल की अपेक्षा से हैं।

(३) अनन्तरावगाढ- विवक्षित प्रदेश (स्थान) की अपेक्षा से अनन्तर अर्थात् अव्यवहित प्रदेशों के अन्दर उत्पन्न होने वाले अथवा प्रथम समय में क्षेत्र का अवगाहन करने वाले नारक जीव अनन्तरावगाढ कहलाते हैं।

(४) परम्परावगाढ- विवक्षित प्रदेश की अपेक्षा व्यवधान से पैदा होने वाले अथवा दो तीन समय के पश्चात् उत्पन्न होने वाले नारकी परम्परावगाढ कहलाते हैं।

ये दोनों भेद क्षेत्र की अपेक्षा से समझने चाहिएं।

(५) अनन्तराहारक- अनन्तर (अव्यवहित) अर्थात् व्यवधान रहित जीव प्रदेशों से आक्रान्त अथवा जीव प्रदेशों का स्पर्श करने वाले पुद्गलों का आहार करने वाले नारकी जीव अनन्तराहारक कहलाते हैं। अथवा उत्पत्ति के प्रथम समय में आहार ग्रहण करने वाले जीवों को अनन्तराहारक कहते हैं।

(६) परम्पराहारक- जो नारकी जीव अपने क्षेत्र में आए हुए

भजना है। आगे लेश्या परिणाम कहा जाता है।

(४) लेश्या परिणाम- लेश्याएं छः हैं। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या। इन लेश्याओं में से किसी भी लेश्या की प्राप्ति होना लेश्या-परिणाम कहलाता है। योग के होने पर ही लेश्या होती है। अतः आगे योग परिणाम कहा जाता है।

(५) योग परिणाम- मन, वचन, काया रूप योगों की प्राप्ति होना योग परिणाम कहलाता है।

संसारी प्राणियों के योग होने पर ही उपयोग होता है। अतः योग परिणाम के पश्चात् उपयोग परिणाम कहा गया है।

(६) उपयोग परिणाम- साकार और अनाकार (निराकार) के भेद से उपयोग के दो भेद हैं। दर्शनोपयोग निराकार (निर्विकल्पक) कहलाता है और ज्ञानोपयोग साकार (सविकल्पक) होता है। इनके रूप में जीव की परिणति होना उपयोग परिणाम है।

उपयोग परिणाम के होने पर ज्ञान परिणाम होता है। अतः आगे ज्ञान परिणाम बतलाया जाता है।

(७) ज्ञान परिणाम- मति श्रुति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान रूप में जीव की परिणति होना ज्ञान परिणाम कहलाता है। यही ज्ञान मिथ्यादृष्टि को अज्ञान स्वरूप होता है। अतः मत्यज्ञान श्रुत्यज्ञान विभङ्गज्ञान का भी इसी परिणाम में ग्रहण हो जाता है।

मतिज्ञान आदि के होने पर सम्यक्त्व रूप दर्शन परिणाम होता है। अतः आगे दर्शन (सम्यक्त्व) परिणाम का कथन है।

(८) दर्शन परिणाम-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) के भेद से दर्शन के तीन भेद हैं। इन में से किसी एक में जीव की परिणति होना दर्शन परिणाम है।

दर्शन के पश्चात् चारित्र होता है। अतः आगे चारित्र परि-

उत्कृष्ट रूप से होती हैं। इन वेदनाओं का विशेष विवरण सातवें बोल संग्रह के बोल नं० ५६० में दिया गया है (ठाणांग, सूत्र ७५३)

७४९- जीव परिणाम दस

एक रूप को छोड़ कर दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाना परिणाम कहलाता है। अथवा विद्यमान पर्याय को छोड़ कर नवीन पर्याय को धारण कर लेना परिणाम कहलाता है। जीव के दस परिणाम बतलाए गए हैं-

(१) गति परिणाम-- नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में से जीव को किसी भी गति की प्राप्ति होना गति-परिणाम है। गति नामकर्म के उदय से जीव जब जिस गति में होता है तब वह उसी नाम से कहा जाता है। जैसे नरकगति का जीव नारक, देवगति का जीव देव आदि।

किसी भी गति में जाने पर जीव के इन्द्रियाँ अवश्य होती हैं। इस लिए गति परिणाम के आगे इन्द्रिय परिणाम दिया गया है।

(२) इन्द्रिय परिणाम-- किसी भी गति को प्राप्त हुए जीव को श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय की प्राप्ति होना इन्द्रिय परिणाम कहलाता है।

इन्द्रिय की प्राप्ति होने पर राग द्वेष रूप कषाय की परिणति होती है। अतः इन्द्रिय परिणाम के आगे कषाय परिणाम कहा है।

(३) कषाय परिणाम- क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों का होना कषाय परिणाम कहलाता है। कषाय परिणाम के होने पर लेश्या अवश्य होती है किन्तु लेश्या के होने पर कषाय अवश्यम्भावी नहीं है। क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती जीव (सयोगी केवली) के शुक्ल लेश्या नौ वर्ष कम करोड़ पूर्व तक रह सकती है। इसका यह तात्पर्य है कि कषाय के सद्भाव में लेश्या की नियमा है और लेश्या के सद्भाव में कषाय की

भजना है। आगे लेश्या परिणाम कहा जाता है।

(४) लेश्या परिणाम- लेश्याएं छः हैं। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या। इन लेश्याओं में से किसी भी लेश्या की प्राप्ति होना लेश्या-परिणाम कहलाता है। योग के होने पर ही लेश्या होती है। अतः आगे योग परिणाम कहा जाता है।

(५) योग परिणाम- मन, वचन, काया रूप योगों की प्राप्ति होना योग परिणाम कहलाता है।

संसारी प्राणियों के योग होने पर ही उपयोग होता है। अतः योग परिणाम के पश्चात् उपयोग परिणाम कहा गया है।

(६) उपयोग परिणाम- साकार और अनाकार (निराकार) के भेद से उपयोग के दो भेद हैं। दर्शनोपयोग निराकार (निर्विकल्पक) कहलाता है और ज्ञानोपयोग साकार (सविकल्पक) होता है। इनके रूप में जीव की परिणति होना उपयोग परिणाम है।

उपयोग परिणाम के होने पर ज्ञान परिणाम होता है। अतः आगे ज्ञान परिणाम बतलाया जाता है।

(७) ज्ञान परिणाम- मति श्रुति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान रूप में जीव की परिणति होना ज्ञान परिणाम कहलाता है। यही ज्ञान मिथ्यादृष्टि को अज्ञान स्वरूप होता है। अतः मत्यज्ञान श्रुत्यज्ञान विभङ्गज्ञान का भी इसी परिणाम में ग्रहण हो जाता है।

मतिज्ञान आदि के होने पर सम्यक्त्व रूप दर्शन परिणाम होता है। अतः आगे दर्शन (सम्यक्त्व) परिणाम का कथन है।

(८) दर्शन परिणाम-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) के भेद से दर्शन के तीन भेद हैं। इन में से किसी एक में जीव की परिणति होना दर्शन परिणाम है।

दर्शन के पश्चात् चारित्र होता है। अतः आगे चारित्र परि-

णाम का कथन किया जाता है-
(९) चारित्र परिणाम- चारित्र के पाँच भेद हैं। सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र सूक्ष्म-संपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र। इन पाँचों चारित्रों में से जीव की किसी भी चारित्र में परिणति होना चारित्र परिणाम कहलाता है।
(१०) वेद परिणाम- स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुँसकवेद में से जीव को किसी एक वेद की प्राप्ति होना वेद परिणाम कहलाता है।

किन किन जीवों में कितने और कौन कौन से परिणाम पाये जाते हैं? अब यह बतलाया जाता है।

नारकी जीव-नरक गति वाला, पंचेन्द्रिय, चतुःकषायी (क्रोध मान माया लोभ चारों कषायों वाला) तीन लेश्या (कृष्ण नील कापोत) वाला, तीनों योगों वाला, दो उपयोग (साकार और निराकार) वाला, तीन ज्ञान (मति श्रुति अवधि) तथा तीन अज्ञान वाला। तीनों दर्शन (सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन मिश्रदर्शन) वाला, अविरति और नपुँसक होता है।

भवनपति-असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक सब बोल नारकी जीवों की तरह जानने चाहिएं सिर्फ इतनी विशेषता है- गति की अपेक्षा देवगति वाले, लेश्या की अपेक्षा चार लेश्या (कृष्ण नील कापोत तेजो लेश्या) वाले होते हैं। वेद की अपेक्षा स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले होते हैं, नपुँसक वेद वाले नहीं।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक जीव- गति की अपेक्षा तिर्यञ्च गति वाले, इन्द्रिय की अपेक्षा एकेन्द्रिय, लेश्या की अपेक्षा प्रथम चार लेश्या वाले, योग की अपेक्षा केवल काय योग वाले, ज्ञान परिणाम की अपेक्षा मति अज्ञानी और श्रुत अज्ञानी, दर्शन की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि। शेष बोल नारकी जीवों की तरह

ही समझने चाहिएं। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों में प्रथम तीन लेश्याएं ही होती हैं। शेष बोल ऊपर के समान ही हैं।

बेइन्द्रिय जीव– तिर्यञ्च गति वाले, बेइन्द्रिय, दो योग वाले, (काय योग और वचन योग वाले), मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान वाले मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान वाले, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होते हैं। शेष बोल नारकी जीवों की तरह ही हैं।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय वाले जीवों के भी इसी तरह होते हैं, सिर्फ त्रीन्द्रियों में इन्द्रियाँ तीन और चतुरिन्द्रियों में इन्द्रियाँ चार होती हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च–गति की अपेक्षा तिर्यञ्च गति वाले, लेश्या की अपेक्षा छः लेश्या वाले, चारित्र की अपेक्षा अविरति और देशविरति, वेद की अपेक्षा तीनों वेद वाले होते हैं। बाकी बोल नारकी जीवों की तरह समझने चाहिएं।

मनुष्य– मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय, चार कषाय वाला तथा अकषायी, छः लेश्या वाला तथा लेश्यारहित, तीनों योग वाला तथा अयोगी, दोनों उपयोग वाला, पाँचों ज्ञान वाला तथा तीन अज्ञान वाला, तीन दर्शन वाला, देशचारित्र तथा सर्वचारित्र वाला और अचारित्री और तीनों वेद वाला तथा अवेदी होता है।

व्यन्तर देव–गति की अपेक्षा देवगति वाले इत्यादि सब बोल असुरकुमारों की तरह जानने चाहिएं।

ज्योतिषी देवों में सिर्फ तेजो लेश्या होती है। वैमानिक देवों में छः ही लेश्या होती हैं। शेष बोल असुरकुमारों की तरह ही जानने चाहिएं। (पन्नवणा परिणाम पद १३) (ठाणांग. सूत्र ७१३)

७५०– अजीव परिणाम दस

अजीव अर्थात् जीवरहित वस्तुओं के परिवर्तन से होने वाली उनकी विविध अवस्थाओं को अजीव परिणाम कहते हैं। वे दस प्रकार के हैं। यथा–

(१) बन्धन परिणाम– अजीव पदार्थों का आपस में मिलना अर्थात् स्नेह हेतुक या रूक्षत्व हेतुक बन्ध होना बन्धन परिणाम कहलाता है। इसके दो भेद हैं– स्निग्धबन्धन परिणाम और रूक्षबन्धन परिणाम। स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धों का तुल्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धों के साथ सजातीय तथा विजातीय किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता है किन्तु विषम गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धों का सजातीय तथा विजातीय बन्ध होता है। स्निग्ध का अपने से द्विगुणादि अधिक स्निग्ध के साथ और रूक्ष का द्विगुणादि अधिक रूक्ष के साथ बन्ध होता है। जघन्य गुण (एक गुण) वाले रूक्ष को छोड़ कर अन्य समान या असमान रूक्ष स्कन्धों के साथ स्निग्ध का बन्ध होता है। इसका यह तात्पर्य है कि जघन्य गुण (एक गुण) वाले स्निग्ध और जघन्य गुण (एक गुण) वाले रूक्ष को छोड़ कर शेष समान गुण वाले या विषम (असमान) गुण वाले स्निग्ध तथा रूक्ष स्कन्धों का परस्पर सजातीय एवं विजातीय बन्ध होता है।

पुद्गलों के बन्ध का विचार श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्याय में विस्तार से किया है। यथा–'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः' स्निग्धता से या रूक्षता से पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है अर्थात् स्निग्ध (चिकने) और रूक्ष (रूखे) पुद्गलों के संयोग से स्नेहहेतुक या रूक्षत्वहेतुक बन्ध होता है। यह बन्ध सजातीय बन्ध और विजातीय बन्ध के भेद से दो प्रकार का है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध सजातीय अथवा सदृश बन्ध कहलाता है। स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध विजातीय या विसदृश बन्ध कहलाता है।

उपरोक्त नियम सामान्य है, इसका अपवाद बतलाया जाता है। 'न जघन्य गुणानाम्' अर्थात् जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले)

स्निग्ध और जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) रूक्ष पुद्गलों का सजातीय और विजातीय बन्ध नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जघन्य गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों के साथ और जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है क्योंकि स्नेह गुण जघन्य होने के कारण उसमें पुद्गलों को परिणमाने की शक्ति नहीं है किन्तु मध्यम गुण वाल अथवा उत्कृष्ट गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का सजातीय और विजातीय बन्ध होता है, परन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि 'गुण साम्ये सदृशांनाम्' अर्थात् गुणों की समानता होने पर सदृश बन्ध नहीं होता है। संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों का संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले रूक्ष पुद्गलों का इतने ही (संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त) गुण वाले रूक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है। इस सूत्र का यह तात्पर्य है कि गुणों की विषमता हो तो सदृश पुद्गलों का बन्ध होता है और गुणों की समानता हो तो विसदृश पुद्गलों का बन्ध होता है।

कितने गुणों की विषमता होने पर बन्ध होता है? इसके लिए बतलाया गया है कि 'द्व्यधिकादि गुणानां तु' अर्थात् दो तीन आदि गुण अधिक हों तो स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का सदृश बन्ध भी होता है। यथा– जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) स्निग्ध परमाणु का त्रिगुण स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध होता है। इसी प्रकार जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) रूक्ष परमाणु का अपने से द्विगुणाधिक अर्थात् त्रिगुण रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होता है।

इन सूत्रों का यह निष्कर्ष है कि- (१) जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों के साथ सदृश और विसदृश किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता है। (२) जघन्य गुण वाले पुद्गलों का एकाधिक गुण वाले पुद्गलों के साथ सजातीय (सदृश) बन्ध नहीं होता है किन्तु विजातीय (विसदृश) बन्ध होता है और जघन्य गुण वाले पुद्गलों का द्विगुणाधिक पुद्गलों के साथ सदृश और विसदृश दोनों प्रकार का बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले पुद्गलों को छोड़ कर शेष पुद्गलों के साथ उन्हीं के समान गुण वाले पुद्गलों का सदृश बन्ध नहीं होता है। किन्तु विसदृश बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले पुद्गलों को छोड़ कर शेष पुद्गलों के साथ अपने से एकाधिक जघन्येतर गुण वाले पुद्गलों का सदृश बन्ध नहीं होता किन्तु विसदृश बन्ध होता है। जघन्येतर यानि जघन्य गुण वाले पुद्गलों के सिवाय अन्य पुद्गलों का द्विगुणाधिकादि जघन्येतर पुद्गलों के साथ सजातीय (सदृश) और विजातीय (विसदृश) दोनों प्रकार का बन्ध होता है।

(२) गति परिणाम-अजीव पुद्गलों की गति होना गति परिणाम कहलाता है। यह दो प्रकार का है। स्पृशद्गति परिणाम और अस्पृशद्गति परिणाम। प्रयत्न विशेष से फेंका हुआ पत्थर आदि यदि पदार्थों को स्पर्श करता हुआ गति करे तो वह स्पृशद्गति परिणाम कहलाता है। जैसे पानी के ऊपर तिरछी फैंकी हुई ठीकरी बीच में रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई बहुत दूर तक चली जाती है। यह स्पृशद्गति परिणाम है।

बीच में रहे हुए पदार्थों को बिना स्पर्श करते हुए गति करना अस्पृशद्गति परिणाम कहलाता है। जैसे बहुत ऊँचे मकान पर से फैंका हुआ पत्थर बीच में अन्य पदार्थ का स्पर्श

न करते हुए एक दम नीचे पहुँच जाता है। ये दो प्रकार के गतिपरिणाम होते हैं। अथवा गतिपरिणाम के दूसरी तरह से दो भेद होते हैं। दीर्घगति परिणाम और ह्रस्वगति परिणाम। दूर क्षेत्र में जाना दीर्घगति परिणाम कहलाता है और समीप के क्षेत्र में जाना ह्रस्वगति परिणाम कहलाता है।

(३) संस्थान परिणाम– आकार विशेष को संस्थान कहते हैं। पुद्गलों का संस्थान के रूप में परिणत होना संस्थान परिणाम है। छः संस्थान दूसरे भाग के बोल नं० ४६६ बताए गए हैं।

(४) भेद परिणाम– पदार्थ में भेद का होना भेद परिणाम कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं। यथा–

(क) खण्ड भेद– जैसे घड़े को फैंकने पर उसके खण्ड खण्ड (टुकड़े टुकड़े) हो जाते हैं। यह पदार्थ का खण्ड भेद कहलाता है।

(ख) प्रतर भेद– एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना प्रतर भेद कहलाता है। जैसे आकाश में बादलों के अन्दर प्रतर भेद पाया जाता है।

(ग) अनुतट भेद– एक हिस्से (पोर) से दूसरे हिस्से तक भेद होना अनुतट भेद कहलाता है। जैसे बांस के अन्दर एक पोर से दूसरे पोर तक का हिस्सा अनुतट है।

(घ) चूर्ण भेद– किसी वस्तु में पिस जाने पर भेद होना चूर्ण भेद कहलाता है। जैसे आटा।

(ङ) उत्करिका भेद– छीले जाते हुए प्रस्थक (पायली) के जो छिलके उतरते हैं उनका भेद उत्करिका भेद कहलाता है।

(५) वर्ण परिणाम– वर्ण परिणाम कृष्ण (काला), नीला, रक्त (लाल), पीत (पीला), श्वेत (सफेद) के भेद से पाँच प्रकार का है।

(६) गन्ध परिणाम– सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध के रूप में पुद्गलों का परिणत होना गन्ध परिणाम है।

(७) रस परिणाम– रस के रूप में पुद्गलों का परिणत होना। रस पाँच हैं– तिक्त, कटु (कड़ुवा), कषायला, खट्टा, मीठा।
(८) स्पर्श परिणाम– यह आठ प्रकार का है। कर्कश परिणाम, मृदु परिणाम, रूक्ष परिणाम, स्निग्ध परिणाम, लघु (हल्का) परिणाम, गुरु (भारी) परिणाम, उष्ण परिणाम, शीत परिणाम।
(९) अगुरुलघु परिणाम–जो न तो इतना भारी हो कि अधः (नीचे) चला जावे और न इतना लघु (हल्का) हो जो ऊर्ध्व (ऊपर) चला जावे ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु अगुरुलघु परिणाम कहलाता है। यथा–भाषा, मन, कर्म आदि के परमाणु अगुरुलघु हैं।

अगुरुलघु परिणाम को ग्रहण करने से यहाँ पर गुरुलघु परिणाम भी समझ लेना चाहिए। जो अन्य पदार्थ की विवक्षा से गुरु हो और किसी अन्य पदार्थ की विवक्षा से लघु हो उसे गुरुलघु कहते हैं। यथा औदारिक शरीर आदि।
(१०) शब्द परिणाम–शब्द के रूप में पुद्गलों का परिणत होना।

(ठाणांग, सूत्र ७१३। (पन्नवणा पद १३)

७५१– अरूपी अजीव के दस भेद

(१) धर्मास्तिकाय (२) धर्मास्तिकाय का देश (३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश (४) अधर्मास्तिकाय (५) अधर्मास्तिकाय का देश (६) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश (७) आकाशास्तिकाय (८) आकाशास्तिकाय का देश (९) आकाशास्तिकाय का प्रदेश (१०) काल।
(१) धर्मास्तिकाय– गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को गति करने में जो सहायक हो उसे धर्म कहते हैं। अस्ति नाम है प्रदेश। काय समूह को कहते हैं। गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग और राशि ये सब शब्द काय शब्द के पर्यायवाची हैं। अतः अस्तिकाय यानि प्रदेशों का समूह। सब मिल कर धर्मास्तिकाय शब्द बना हुआ है।

(२) धर्मास्तिकाय के बुद्धि कल्पित दो तीन संख्यात असंख्यात प्रदेश धर्मास्तिकाय के देश कहलाते हैं।
(३) धर्मास्तिकाय के वे अत्यन्त सूक्ष्म निर्विभाग यानि जिन के फिर दो भाग न हो सकते हों ऐसे भाग जहाँ बुद्धि से कल्पना भी न की जा सकती हो वे धर्मास्तिकाय के प्रदेश कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं।
(४) अधर्मास्तिकाय– स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिति में (ठहरने में) जो सहायक हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे थके हुए पथिक के लिए छायादार वृक्ष ठहरने में सहायक होता है।
(५–६) अधर्मास्तिकाय के भी देश और प्रदेश ये दो भेद होते हैं।
(७-८-९) आकाशास्तिकाय–जो जीव और पुद्गलों को रहने के लिए अवकाश दे वह आकाशास्तिकाय कहलाता है। इसके देश और प्रदेश अनन्त हैं, क्योंकि आकाशास्तिकाय लोक और अलोक दोनों में रहता है। अलोक अनन्त है। इसलिए आकाशास्तिकाय के प्रदेश भी अनन्त हैं।
(१०) काल(अद्धा समय)–काल को अद्धा कहते हैं अथवा काल का निर्विभाग भाग अद्धा समय कहलाता है। वास्तव में वर्तमान का एक समय ही काल (अद्धा समय) कहलाता है। अतीत और अनागत का समय काल रूप नहीं है क्योंकि अतीत का तो विनाश हो चुका और अनागत (भविष्यत् काल) अनुत्पन्न है यानि अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए ये दोनों (अतीत–अनागत) वर्तमान में अविद्यमान हैं। अतः ये दोनों काल नहीं माने जाते हैं, क्योंकि 'वर्तना लक्षणः कालः' यह लक्षण वर्तमान एक समय में ही पाया जाता है। अतः वर्तमान क्षण ही काल (अद्धा समय) माना जाता है। यह निर्विभागी (निरंश) है। इसी लिए काल के साथ में 'अस्ति' और

'काय' नहीं जोड़ा गया है।

इस प्रकार अरूपी अजीव के दस भेद हैं। छः द्रव्यों का विशेष विस्तार इसी के दूसरे भाग बोल संग्रह बोल नं० ४४२ में है।

(पन्नवणा पद १) (जीवाभिगम, सूत्र ४)

७५२- लोकस्थिति दस

लोक की स्थिति दस प्रकार से व्यवस्थित है।

(१) जीव एक जगह से मर कर लोक के एक प्रदेश में किसी गति, योनि अथवा किसी कुल में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। यह लोक की प्रथम स्थिति है।

(२) प्रवाह रूप से अनादि अनन्त काल से मोक्ष के बाधक स्वरूप ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को निरन्तर रूप से जीव बाँधते रहते हैं। यह दूसरी लोक स्थिति है।

(३) जीव अनादि अनन्त काल से मोहनीय कर्म को बाँधते रहते हैं। यह लोक की तीसरी स्थिति है।

(४) अनादि अनन्त काल से लोक की यह व्यवस्था रही है कि जीव कभी अजीव नहीं हुआ है, न होता है और न भविष्यत् काल में कभी ऐसा होगा। इसी प्रकार अजीव कभी भी जीव नहीं हुआ है, न होता है और न होगा। यह लोक की चौथी स्थिति है।

(५) लोक के अन्दर कभी भी त्रस और स्थावर प्राणियों का सर्वथा अभाव न हुआ है, न होता है और न होगा और ऐसा भी कभी न होता है, न हुआ है और न होगा कि सभी त्रस प्राणी स्थावर बन गए हों अथवा सब स्थावर प्राणी त्रस बन गए हों। इसका यह अभिप्राय है कि ऐसा समय न आया है, न आता है और न आवेगा कि लोक के अन्दर केवल त्रस प्राणी ही रह गए हों अथवा केवल स्थावर प्राणी ही रह गए हों। यह लोक स्थिति का पाँचवां प्रकार है।

(६) लोक अलोक हो गया हो या अलोक लोक हो गया हो ऐसा कभी त्रिकाल में भी न होगा, न होता है और न हुआ है। यह लोक स्थिति का छठा प्रकार है।

(७) लोक का अलोक में प्रवेश या अलोक का लोक में प्रवेश न कभी हुआ है, न कभी होता है और न कभी होगा। यह सातवीं लोक स्थिति है।

(८) जितने क्षेत्र में लोक शब्द का व्यपदेश (कथन) है वहाँ वहाँ जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतना क्षेत्र लोक है। यह आठवीं लोक स्थिति है।

(९) जहाँ जहाँ जीव और पुद्गलों की गति होती है वह लोक है और जहाँ लोक है वहीं वहीं पर जीव और पुद्गलों की गति होती है। यह नवीं लोक स्थिति है।

(१०) लोकान्त में सब पुद्गल इस प्रकार और इतने रूक्ष हो जाते हैं कि वे परस्पर पृथक् हो जाते हैं अर्थात् बिखर जाते हैं। पुद्गलों के रूक्ष हो जाने के कारण जीव और पुद्गल लोक से बाहर जाने में असमर्थ हो जाते हैं। अथवा लोक का ऐसा ही स्वभाव है कि लोकान्त में जाकर पुद्गल अत्यन्त रूक्ष हो जाते हैं जिससे कर्म सहित जीव और पुद्गल फिर आगे गति करने में असमर्थ हो जाते हैं। यह दसवीं लोक स्थिति है। (ठाणांग, सूत्र ७०४)

७५३– दिशाएं दस

दिशाएं दस हैं। उनके नाम–

(१) पूर्व (२) दक्षिण (३) पश्चिम (४) उत्तर। ये चार मुख्य दिशाएं हैं। इन चार दिशाओं के अन्तराल में चार विदिशाएं हैं। यथा–(५) अग्निकोण (६) नैर्ऋत कोण (७) वायव्य कोण (८) ईशान कोण (९) ऊर्ध्व दिशा (१०) अधो दिशा।

जिधर सूर्य उदय होता है वह पूर्व दिशा है। जिधर सूर्य

अस्त होता है वह पश्चिम दिशा है। सूर्योदय की तरफ मुँह करके खड़े हुए पुरुष के सन्मुख पूर्व दिशा है। उसके पीठ पीछे की पश्चिम दिशा है। उस पुरुष के दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा और बाएं हाथ की तरफ उत्तर दिशा है। पूर्व और दक्षिण के बीच की अग्निकोण, दक्षिण और पश्चिम के बीच की नैऋ्रत कोण, पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच की वायव्य कोण, उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की ईशान कोण कहलाती है। ऊपर की दिशा ऊर्ध्व दिशा और नीचे की दिशा अधोदिशा कहलाती है।

इन दस दिशाओं के गुण निष्पन्न नाम ये हैं-

(१) ऐन्द्री (२) आग्नेयी (३) याम्या (४) नैऋ्रती (५) वारुणी (६) वायव्य (७) सौम्या (८) ऐशानी (९) विमला (१०) तमा।

पूर्व दिशा का अधिष्ठाता देव इन्द्र है। इसलिए इसको ऐन्द्री कहते हैं। इसी प्रकार अग्निकोण का स्वामी अग्नि देवता है। दक्षिण दिशा का अधिष्ठाता यम देवता है। नैऋ्रत कोण का स्वामी नैऋ्रति देव है। पश्चिम दिशा का अधिष्ठाता वरुण देव है। वायव्य कोण का स्वामी वायु देव है। उत्तर दिशा का स्वामी सोमदेव है। ईशान कोण का अधिष्ठाता ईशान देव है। अपने अपने अधिष्ठातृ देवों के नाम से ही उन दिशाओं और विदिशाओं के नाम हैं। अतएव ये गुणनिष्पन्न नाम कहलाते हैं। ऊर्ध्व दिशा को विमला कहते हैं क्योंकि ऊपर अन्धकार न होने से वह निर्मल है, अतएव विमला कहलाती है। अधोदिशा तमा कहलाती है। गाढ़ अन्धकार युक्त होने से वह रात्रि तुल्य है अतएव इसका गुण निष्पन्न नाम तमा है।

(ठाणांग, सूत्र ७२०) (भगवती शतक १० उद्देशा १)
(आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन १ उद्देशा १)

७५४- कुरुक्षेत्र दस

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से उत्तर और दक्षिण में दो कुरु हैं।

दक्षिण दिशा के अन्दर देवकुरु है और उत्तर दिशा में उत्तरकुरु है। देवकुरु पाँच हैं और उत्तरकुरु भी पाँच हैं। गजदन्ताकार (हाथी दाँत के सदृश आकार वाले) विद्युत्प्रभ और सौमनस नामक दो वर्षधर पर्वतों से देवकुरु परिवेष्टित हैं। इसी तरह उत्तरकुरु गन्धमादन और माल्यवान् नामक वर्षधर पर्वतों से घिरे हुए हैं। ये दोनों देवकुरु उत्तरकुरु अर्द्ध चन्द्राकार हैं और उत्तर दक्षिण में फैले हुए हैं। उनका प्रमाण यह है—ग्यारह हजार आठ सौ बयालीस योजन और दो कला (११८४२ २।१९) का विस्तार है और ५३००० योजन प्रमाण इन दोनों क्षेत्रों की जीवा (धनुष की डोरी) है। (ठाणांग, सूत्र ७६४)

७५५- वक्खार पर्वत दस

जम्बू द्वीप के अन्दर मेरु पर्वत के पूर्व में सीता महा नदी के दोनों तटों पर दस वक्खार पर्वत हैं। उनके नाम-

(१) मालवंत (२) चित्रकूट (३) पद्मकूट (४) नलिनकूट (५) एक शैल (६) त्रिकूट (७) वैश्रमण कूट (८) अञ्जन (९) मातञ्जन (१०) सौमनस।

इन में से मालवन्त, चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट और एकशैल ये पाँच पर्वत सीता महानदी के उत्तर तट पर हैं और शेष पाँच पर्वत दक्षिण तट पर हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६८)

७५६- वक्खार पर्वत दस

जम्बू द्वीप के अन्दर मेरु पर्वत के पश्चिम दिशा में सीता महा नदी के दोनों तटों पर दस वक्खार पर्वत हैं। उनके नाम-

(१) विद्युत् प्रभ (२) अंकावती (३) पद्मावती (४) आशीविष (५) सुखावह (६) चन्द्र पर्वत (७) सूर्य्य पर्वत (८) नाग पर्वत (९) देव पर्वत (१०) गन्ध मादन पर्वत।

इनमें से प्रथम पाँच पर्वत सीता महानदी के दक्षिण तट पर हैं और शेष पाँच पर्वत उत्तर तट पर हैं। (ठाणांग, सूत्र ७६८)

७५७- दस प्रकार के कल्पवृक्ष

अकर्म भूमि में होने वाले युगलियों के लिए जो उपभोग रूप हों अर्थात् उनकी आवश्यकताओं को पूरी करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते हैं। उनके दस भेद हैं-

(१) मतङ्गा- शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।
(२) भृताङ्गा- पात्र आदि देने वाले।
(३) त्रुटिताङ्गा- बाजे (वादित्र) देने वाले।
(४) दीपाङ्गा- दीपक का काम देने वाले।
(५) ज्योतिरङ्गा-प्रकाश को ज्योति कहते हैं। सूर्य के समान प्रकाश देने वाले। अग्नि को भी ज्योति कहते हैं। अग्नि का काम देने वाले भी ज्योतिरङ्गा कल्पवृक्ष कहलाते हैं।
(६) चित्राङ्गा- विविध प्रकार के फूल देने वाले।
(७) चित्ररस- विविध प्रकार के भोजन देने वाले।
(८) मण्यङ्गा- आभूषण देने वाले।
(९) गेहाकारा- मकान के आकार परिणित हो जाने वाले अर्थात् मकान की तरह आश्रय देने वाले।
(१०) अणियणा (अनग्ना)- वस्त्र आदि देने वाले।

इन दस प्रकार के कल्पवृक्षों से युगलियों की आवश्यकताएं पूरी होती रहती हैं। अतः ये कल्पवृक्ष कहलाते हैं।

(समवायांग १०) (ठाणांग, सूत्र ७६६) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १७१)

७५८- महा नदियाँ दस

जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत से दक्षिण में दस महा नदियाँ हैं। उन से पाँच नदियाँ तो गङ्गा नदी के अन्दर जाकर मिलती हैं और पाँच नदियाँ सिन्धु नदी में जाकर मिलती हैं। उनके नाम-

(१) यमुना (२) सरयू (३) आवी (४) कोसी (५) मही (६) सिन्धु (७) वित्रत्सा (८) विभासा (६) इरावती (१०) चन्द्रभागा।

(ठाणांग, सूत्र ७१७)

७५६-- महानदियाँ दस

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से उत्तर में दस महानदियाँ हैं। उनके नाम- (१) कृष्णा (२) महाकृष्णा (३) नीला (४) महानीला (५) तीरा (६) महातीरा (७) इन्द्रा (८) इन्द्रसेना (६) वारिसेना (१०) महाभोगा। (ठाणांग, सूत्र ७१७)

७६०-- कर्म और उनके कारण दस

जिनके अधीन होकर जीव संसार में भ्रमण करता है उन्हें कर्म कहते हैं। यहाँ कर्म शब्द से कर्म पुद्गल, कार्य, क्रिया, करणी, व्यापार आदि सभी लिए जाते हैं। इन के दस भेद हैं-

(१) नाम कर्म- गुण न होने पर भी किसी सजीव या निर्जीव वस्तु का नाम कर्म रख देना नामकर्म है। जैसे- किसी बालक का नाम कर्मचन्द रख दिया जाता है। उसमें कर्म के लक्षण और गुण कुछ भी नहीं पाये जाते, फिर भी उसको कर्मचन्द कहते हैं।

(२) स्थापना कर्म- कर्म के गुण तथा लक्षण से शून्य पदार्थ में कर्म की कल्पना करना स्थापना कर्म है। जैसे पत्र या पुस्तक वगैरह में कर्म की स्थापना करना स्थापना कर्म है अथवा अपने पक्ष में आए हुए दूषण को दूर करने के लिए जहाँ अन्य अर्थ की स्थापना कर दी जाती हो उसे भी स्थापना कर्म कहते हैं।

(३) द्रव्य कर्म- इसके दो भेद हैं-

(क) द्रव्य कर्म- कर्म वर्गणा के वे पुद्गल जो बन्ध योग्य हैं, बध्यमान अर्थात् बँध रहे हैं और बद्ध अर्थात् पहले बँधे हुए होने पर भी उदय और उदीरणा में नहीं आए हैं वे द्रव्य कर्म कहलाते हैं।

(ख) नोद्रव्य कर्म- किसान आदि का कर्म नोद्रव्य कर्म कहलाता

है क्योंकि यह क्रिया रूप है। कर्म पुद्गलों के समान द्रव्य रूप नहीं है।
(४) प्रयोग कर्म– वीर्य्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली वीर्य्यशक्ति विशेष प्रयोग कर्म कहलाती है, अथवा प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) योग को प्रयोग कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद हैं। यथा– मन के चार– सत्य मन, असत्य मन, सत्यमृषा मन, असत्यामृषा मन। वचन के चार–सत्य वचन, असत्य वचन, सत्यमृषा वचन और असत्यामृषा वचन। काया के सात भेद–औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण।

जिस प्रकार तपा हुआ तवा अपने ऊपर गिरने वाली जल की बूँदों को सब प्रदेशों से एक साथ खींच लेता है उसी प्रकार आत्मा इन पन्द्रह योगों के सामर्थ्य से अपने सभी प्रदेशों द्वारा कर्म-दलिकों को खींचता है। आत्मा द्वारा इस प्रकार कर्मपुद्गलों को ग्रहण करना और उन्हें कार्मण शरीर रूप में परिणत करना प्रयोग कर्म है।
(५) समुदान कर्म–सामान्य रूप से बंधे हुए आठ कर्मों का देशघाती और सर्वघाती रूप से तथा स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित आदि रूप से विभाग करना समुदान कर्म है।
(६) ईर्यापथिक कर्म–गमनागमन आदि तथा शरीर की हलन चलन आदि क्रिया ईर्या कहलाती है। इस क्रिया से लगने वाला कर्म ईर्यापथिक कर्म कहलाता है। उपशान्त मोह और क्षीण मोह तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक जीव को गति स्थिति आदि के निमित्त से ईर्यापथिकी क्रिया लगती है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती (सयोगी केवली) को शरीर के सूक्ष्म हलन चलन से ईर्यापथिकी क्रिया लगती है किन्तु उस से लगने वाले कर्म-पुद्गलों की स्थिति दो समय की होती है। प्रथम समय में वे बँधते हैं, दूसरे समय में वेदे जाते हैं और तीसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं अर्थात् झड़ जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली तीसरे

समय में उन कर्मों से रहित हो जाते हैं।

(७) आधाकर्म– कर्मबन्ध के निमित्त को आधाकर्म कहते हैं। कर्मबन्ध के निमित्त कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि हैं इस लिए ये आधाकर्म कहे जाते हैं।

(८) तपःकर्म–बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित रूप से बन्धे हुए आठ कर्मों की निर्जरा करने के लिए छः प्रकार का बाह्य तप (अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता) और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप (प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग) का आचरण करना तपःकर्म कहलाता है।

(९) कृतिकर्म– अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि को नमस्कार करना कृतिकर्म कहलाता है।

(१०) भावकर्म– अबाधा काल का उल्लंघन कर स्वयमेव उदय में आए हुए अथवा उदीरणा के द्वारा उदय में लाए गए कर्म पुद्गल जीव को जो फल देते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं।

नोट–बँधे हुए कर्म जब तक फल देने के लिए उदय में नहीं आते उसे अबाधा काल कहते हैं।

(आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्ययन २ उद्देशा १ की टीका)

७६१– सातावेदनीय कर्म बाँधने के दस बोल

(१) प्राणियों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) की अनुकम्पा (दया) करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(२) भूत (वनस्पति) की अनुकम्पा करने से।

(३) जीवों (पञ्चेन्द्रिय प्राणियों) पर अनुकम्पा करने से।

(४) सत्त्वों (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावरों) की अनुकम्पा करने से।

(५) उपरोक्त सभी प्राणियों को किसी प्रकार का दुःख न देने से।

(६) शोक न उपजाने से।
(७) खेद नहीं कराने से (नहीं झुराने-रुलाने से)।
(८) उपरोक्त प्राणियों को वेदना न देने से या उन्हें रुला कर टप टप आँसू न गिरवाने से।
(९) प्राणियों को न पीटने (मारने) से।
(१०) प्राणियों को किसी प्रकार का परिताप उत्पन्न न कराने से जीव सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

(भगवती शतक ७ उद्देशा ६)

७६२- ज्ञान वृद्धि करने वाले नक्षत्र दस

नीचे लिखे दस नक्षत्रों के उदय होने पर विद्यारम्भ या अध्ययन सम्बन्धी कोई काम शुरू करने से ज्ञान की वृद्धि होती है।

मिगसिर अद्दा पुस्सो तिण्णि अ पुव्वा य मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्तो य तहा दस वुड्ढिकराइं नाणस्स॥

(१) मृगशीर्ष (२) आर्द्रा (३) पुष्य (४) पूर्वफाल्गुनी (५) पूर्वभाद्रपदा (६) पूर्वाषाढा (७) मूला (८) अश्लेषा (९) हस्त (१०) चित्रा। (समवायांग १०) (ठाणांग, सूत्र ७८१)

७६३- भद्र कर्म बांधने के दस स्थान

आगामी काल में सुख देने वाले कर्म दस कारणों से बाँधे जाते हैं। यहाँ शुभ कर्म करने से श्रेष्ठ देवगति प्राप्त होती है। वहाँ से चवने के बाद मनुष्य भव में उत्तम कुल की प्राप्ति होती है और फिर मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है। वे दस कारण ये हैं-

(१) अनिदानता- मनुष्य भव में संयम तप आदि क्रियाओं के फलस्वरूप देवेन्द्रादि की ऋद्धि की इच्छा करना निदान (नियाणा) है। निदान करने से मोक्षफल दायक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना रूपी लता (वेल) का विनाश हो जाता है। तपस्या आदि करके इस प्रकार का निदान न करने से

आगामी भव में सुख देने वाले शुभ प्रकृति रूप कर्म बंधते हैं।
(२) दृष्टि सम्पन्नता– सम्यग्दृष्टि होना अर्थात् सच्चे देव, गुरु, और धर्म पर पूर्ण श्रद्धा होना। इससे भी आगामी भव के लिए शुभ कर्म बंधते हैं।
(३) योग वाहिता– योग नाम है समाधि अर्थात् सांसारिक पदार्थों में उत्कण्ठा (राग) का न होना या शास्त्रों का विशेष पठन पाठन करना। इससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।
(४) क्षान्तिक्षमणता– दूसरे के द्वारा दिये गये परिषह, उपसर्ग आदि को समभाव पूर्वक सहन कर लेना। अपने में उसका प्रतीकार करने की अर्थात् बदला लेने की शक्ति होते हुए भी शान्तिपूर्वक उसको सहन कर लेना क्षान्तिक्षमणता कहलाती है। इस से आगामी भव में शुभ कर्मों का बन्ध होता है।
(५) जितेन्द्रियता– अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में करने से आगामी भव में सुखकारी कर्म बंधते हैं।
(६) अमायाविता–माया कपटाई को छोड़ कर सरल भाव रखना अमायावीपन है। इससे शुभ प्रकृति रूप कर्म का बन्ध होता है।
(७) अपार्श्वस्थता–ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विराधना करने वाला पार्श्वस्थ (पासत्था) कहलाता है। इसके दो भेद हैं– सर्व पार्श्वस्थ और देश पार्श्वस्थ।

(क) ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की विराधना करने वाला सर्व पार्श्वस्थ है।

(ख) विना कारण ही (१) शय्यातरपिण्ड (२) अभिहृतपिण्ड (३) नित्यपिण्ड (४) नियतपिण्ड और (५) अग्रपिण्ड को भोगने वाला साधु देशपार्श्वस्थ कहलाता है।

जिस मकान में साधु ठहरे हुए हों उस मकान का स्वामी शय्यातर कहलाता है। उसके घर से आहार पानी आदि लाना

शय्यातरपिण्ड है।

साधु के निमित्त से उनके सामने लाया हुआ आहार अभिहृतपिण्ड कहलाता है।

एक घर से रोजाना गोचरी लाना नित्यपिण्ड कहलाता है।

भिक्षा देने के लिए पहले से निकाला हुआ भोजन अग्रपिण्ड कहलाता है।

'मैं इतना आहार आदि आपको प्रतिदिन देता रहूँगा।' दाता के ऐसा कहने पर उसके घर से रोजाना उतना आहार आदि ले आना नियतपिण्ड कहलाता है।

उपरोक्त पाँचों प्रकार का आहार ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध है। इस प्रकार का आहार ग्रहण करने वाला साधु देशपार्श्वस्थ कहलाता है।

(८) सुश्रामण्यता– मूलगुण और उत्तरगुण से सम्पन्न और पार्श्वस्थता (पासत्थापन) आदि दोषों से रहित संयम का पालन करने वाले साधु श्रमण कहलाते हैं। ऐसे निर्दोष श्रमणत्व से आगामी भव में सुखकारी भद्र कर्म बांधे जाते हैं।

(९) प्रवचन वत्सलता– द्वादशाङ्ग रूप वाणी आगम या प्रवचन कहलाती है। उन प्रवचनों का धारक चतुर्विध संघ होता है। उसका हित करना वत्सलता कहलाती है। इस प्रकार प्रवचन की वत्सलता और प्रवचन के आधार भूत चतुर्विध संघ की वत्सलता करने से जीव आगामी भव में शुभ प्रकृति का बन्ध करता है।

(१०) प्रवचन उद्भावनता– द्वादशाङ्ग रूपी प्रवचन का वर्णवाद करना अर्थात् गुण कीर्तन करना प्रवचनोद्भावनता कहलाती है।

उपरोक्त दस बातों से जीव आगामी भव में भद्रकारी, सुखकारी शुभ प्रकृति रूप कर्म का बन्ध करता है। अतः प्रत्येक प्राणी को इन बोलों की आराधना शुद्ध भाव से करनी चाहिए। (ठाणांग, सूत्र ७५८)

७६४- मन के दस दोष

मन के जिन संकल्प विकल्पों से सामायिक दूषित हो जाती है वे मन के दोष कहलाते हैं-

अविवेक जसोकित्ती लाभत्थी गव्व भय नियाणत्थी।
संसय रोस अविणउ अबहुमाणए दोसा भणियव्वा ॥

(१) अविवेक- सामायिक के सम्बन्ध में विवेक न रखना, कार्य के औचित्य अनौचित्य अथवा समय असमय का ध्यान न रखना अविवेक नाम का दोष है।

(२) यशःकीर्ति- सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा अथवा मेरी प्रतिष्ठा होगी, समाज में मेरा आदर होगा, लोग मुझे धर्मात्मा कहेंगे आदि विचार से सामायिक करना यशःकीर्ति नाम का दूसरा दोष है।

(३) लाभार्थ-धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना अथवा इस विचार से सामायिक करना कि सामायिक करने से व्यापार में अच्छा लाभ होता है लाभार्थ नाम का दोष है।

(४) गर्व-सामायिक के सम्बन्ध में यह अभिमान करना कि मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ। मेरी तरह या मेरे बराबर कौन सामायिक कर सकता है अथवा मैं कुलीन हूँ आदि गर्व करना गर्व नाम का दोष है।

(५) भय-किसी प्रकार के भय के कारण जैसे-राज्य, पंच या लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके बैठ जाना भय नाम का दोष है।

(६) निदान-सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना निदान नाम का दोष है। जैसे यह संकल्प करके सामायिक करना कि मुझे अमुक पदार्थ की प्राप्ति हो या अमुक सुख मिले अथवा सामायिक करके यह चाहना कि यह मैंने जो सामायिक की है उसके फल

स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो निदान दोष है।

(७) संशय (सन्देह)–सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह रखना संशय नाम का दोष है। जैसे यह सोचना कि मैं जो सामायिक करता हूँ मुझे उसका कोई फल मिलेगा या नहीं? अथवा मैंने इतनी सामायिकें की हैं फिर भी मुझे कोई फल नहीं मिला आदि सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह रखना संशय नाम का दोष है।

(८) रोष–(कषाय)– राग द्वेषादि के कारण सामायिक में क्रोध मान माया लोभ करना रोष (कषाय) नाम का दोष है।

(९) अविनय– सामायिक के प्रति विनय भाव न रखना अथवा सामायिक में देव, गुरु, धर्म की असातना करना, उनका विनय न करना अविनय नाम का दोष है।

(१०) अबहुमान– सामायिक के प्रति जो आदरभाव होना चाहिए। आदरभाव के बिना किसी दबाव से या किसी प्रेरणा से बेगारी की तरह सामायिक करना अबहुमान नामक दोष है।

ये दसों दोष मन के द्वारा लगते हैं। इन दस दोषों से बचने पर सामायिक के लिए मन शुद्धि होती है और मन एकाग्र रहता है।

(श्रावक के चार शिक्षा व्रत, सामायिक के ३२ दोषों में से)

७६५– वचन के दस दोष

सामायिक में सामायिक को दूषित करने वाले सावद्य वचन बोलना वचन के दोष कहलाते हैं। वे दस हैं–

कुवयण सहसाकारे सच्छन्द संखेव कलहं च।
विगहा वि हासोऽसुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस॥

(१) कुवचन– सामायिक में कुत्सित वचन बोलना कुवचन नाम का दोष है।

(२) सहसाकार– बिना विचारे सहसा इस तरह बोलना कि

जिससे दूसरे की हानि हो और सत्य भङ्ग हो तथा व्यवहार में अप्रतीति हो वह सहसाकार नाम का दोष है।

(३) सच्छन्द– सामायिक में स्वच्छन्द अर्थात् धर्म विरुद्ध राग-द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत आदि गाना सच्छन्द दोष है।

(४) संक्षेप– सामायिक के पाठ या वाक्य को थोड़ा करके बोलना संक्षेप दोष है।

(५) कलह–सामायिक में कलह उत्पन्न करने वाले वचन बोलना कलह दोष है।

(६) विकथा– धर्म विरुद्ध स्त्री कथा आदि चार विकथा करना विकथा दोष है।

(७)हास्य–सामायिक में हँसना, कौतूहल करना अथवा व्यङ्ग पूर्ण (मजाक या आक्षेप वाले) शब्द बोलना हास्य दोष है।

(८) अशुद्ध – सामायिक का पाठ जल्दी जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे विना बोलना या अशुद्ध बोलना अशुद्ध दोष है।

(९) निरपेक्ष–सामायिक में विना सावधानी रखे अर्थात् विना उपयोग बोलना निरपेक्ष दोष है।

(१०) मुणमुण– सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुन गुन बोलना मुणमुण दोष है।

ये दस दोष वचन सम्बन्धी हैं इन से बचना वचन शुद्धि है।

(श्रावक के चार शिक्षाव्रत, सामायिक के ३२ दोषों में से)

७६६– कुलकर दस गत उत्सर्पिणी काल के

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में गत उत्सर्पिणी काल में दस कुलकर हुए हैं। विशिष्ट बुद्धि वाले और लोक की व्यवस्था करने वाले पुरुष विशेष कुलकर कहलाते हैं। लोक व्यवस्था करने में ये हकार मकार और धिकार आदि दण्डनीति का प्रयोग करते हैं। इसका विशेष विस्तार सातवें बोल में दिया गया है। अतीत उत्सर्पिणी

के दस कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं-

(१) शतंजल (२) शतायु (३) अनन्तसेन (४) अमितसेन (५) तर्कसेन (६) भीमसेन (७) महाभीमसेन (८) दृढरथ (९) दशरथ और (१०) शतरथ। (ठाणांग, सूत्र ७६७)

७६७- कुलकर दस आनेवाली उत्सर्पिणी के

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले दस कुलकरों के नाम-

(१) सीमंकर (२) सीमंधर (३) क्षेमंकर (४) क्षेमंधर (५) विमल वाहन (६) संमुचि (७) प्रतिश्रुत (८) दृढधनुः (९) दश धनुः और (१०) शतधनुः। (ठाणांग, सूत्र ७६७)

७६८- दान दस

अपने अधिकार में रही हुई वस्तु दूसरे को देना दान कहलाता है, अर्थात् उस वस्तु पर से अपना अधिकार हटा कर दूसरे का अधिकार कर देना दान है। दान के दस भेद हैं-

(१) अनुकम्पा दान- किसी दुखी, दीन, अनाथ प्राणी पर अनुकम्पा (दया) करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पा दान है। वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने अनुकम्पा दान का लक्षण करते हुए कहा है-

कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद्दानम्॥

अर्थात्- कृपण (दीन), अनाथ, दरिद्र, दुखी, रोगी, शोकग्रस्त आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करके जो दान दिया जाता है वह अनुकम्पा दान है।

(२) संग्रह दान- संग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिए किसी को कुछ

देना संग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए होता है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं होता।

अभ्युदये व्यसने वा यत् किञ्चिद्दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय॥

अर्थात्–अभ्युदय में या आपत्ति आने पर दूसरे की सहायता प्राप्त करने के लिए जो दान दिया जाता है वह संग्रह (सहायता प्राप्ति) रूप होने से संग्रह दान है। ऐसा दान मोक्ष के लिए नहीं होता।

(३) भयदान–राजा, मंत्री, पुरोहित आदि के भय से अथवा राक्षस एवं पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान है।

राजारक्षपुरोहितमधुमुखमाविल्लदण्डपाशिषु च।
यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्॥

अर्थात्– राजा, राक्षस या रक्षा करने वाले, पुरोहित, मधु मुख अर्थात् दुष्ट पुरुष जो मुँह का मीठा और दिल का काला हो, मायावी, दण्ड अर्थात् सजा वगैरह देने वाले राजपुरुष इत्यादि को भय से बचने के लिए कुछ देना भय दान है।

(४) कारुण्य दान– पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान है।

(५) लज्जादान– लज्जा के कारण जो दान दिया जाता है वह लज्जा दान है।

अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम्॥

अर्थात्– जनसमूह के अन्दर बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मांगने लगता है उस समय मांगने वाले की बात रखने के लिए कुछ दे देने को लज्जादान कहते हैं।

(६) गौरव दान— यश कीर्ति या प्रशंसा प्राप्त करने के लिए गर्व पूर्वक दान देना गौरवदान है।

नटनर्त्तमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्यः।
यद्दीयते यशोऽर्थं गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥

भावार्थ— नट, नाचने वाले, पहलवान, सगे सम्बन्धी या मित्रों को यश प्राप्ति के लिए गर्वपूर्वक जो दान दिया जाता है उसे गौरव दान कहते हैं।

(७) अधर्मदान— अधर्म की पुष्टि करने वाला अथवा जो दान अधर्म का कारण है वह अधर्मदान है—

हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः।
यद्दीयते हि तेषां तज्जानीयादधर्माय ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, परदारगमन और आरम्भ समारम्भ रूप परिग्रह में आसक्त लोगों को जो कुछ दिया जाता है वह अधर्मदान है।

(८) धर्मदान— धर्मकार्यों में दिया गया अथवा धर्म का कारण-भूत दान धर्मदान कहलाता है।

समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय ॥

जिन के लिए तृण, मणि और मोती एक समान हैं ऐसे सुपात्रों को जो दान दिया जाता है वह दान धर्मदान होता है। ऐसा दान कभी व्यर्थ नहीं होता। उसके बराबर कोई दूसरा दान नहीं है। वह दान अनन्त सुख का कारण होता है।

(९) करिष्यतिदान— भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है वह करिष्यतिदान है। प्राकृत में इसका नाम 'काही' दान है।

(१०) कृतदान— पहले किए हुए उपकार के बदले में जो कुछ किया जाता है उसे कृतदान कहते हैं।

शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममानेन ।
अहमपि ददामि किंचित्प्रत्युपकाराय तद्दानम् ।

भावार्थ– इसने मेरा सैंकड़ों बार उपकार किया है। मुझे हजारों का दान दिया है। इसके उपकार का बदला चुकाने के लिए मैं भी कुछ देता हूँ। इस भावना से दिये गये दान को कृतदान या प्रत्युपकार दान कहते हैं। (ठाणांग, सूत्र ७४५)

७६९– सुख दस

सुख दस प्रकार के कहे गये हैं। वे ये हैं–

(१)–आरोग्य–शरीर का स्वस्थ रहना, उस में किसी प्रकार के रोग या पीड़ा का न होना आरोग्य कहलाता है। शरीर का नीरोग (स्वस्थ) रहना सब सुखों में श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जब शरीर नीरोग होगा तब ही आगे के नौ सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। शरीर के आरोग्य बिना दीर्घ आयु, विपुल धन सम्पत्ति, तथा विपुल काम भोग आदि सुख रूप प्रतीत नहीं होते। सुख के साधन होने पर भी ये रोगी को दुःख रूप प्रतीत होते हैं। शरीर के आरोग्य बिना धर्म ध्यान होना तथा संयम सुख और मोक्ष सुख का प्राप्त होना तो असम्भव ही है। इसलिए शास्त्रकारों ने दस सुखों में शरीर की नीरोगता रूप सुख को प्रथम स्थान दिया है। व्यवहार में भी ऐसा कहा जाता है–

'पहला सुख निरोगी काया'

अतः सब सुखों में 'आरोग्य' सुख प्रधान है।

(२) दीर्घ आयु– दीर्घ आयु के साथ यहाँ पर 'शुभ' यह विशेषण और समझना चाहिए। शुभ दीर्घ आयु ही सुखस्वरूप है। अशुभ दीर्घायु तो सुखरूप न होकर दुःख रूप ही होती है। सब सुखों की सामग्री प्राप्त हो किन्तु यदि दीर्घायु न हो तो उन

सुखों का इच्छानुसार अनुभव नहीं किया जा सकता । इसलिए शुभ दीर्घायु का होना द्वितीय सुख है।

(३) आढ्यत्व– आढ्यत्व नाम है विपुल धन सम्पत्ति का होना। धन सम्पत्ति भी सुख का कारण है। इस लिए धन सम्पत्ति का होना तीसरा सुख माना गया है।

(४) काम– पाँच इन्द्रियों के विषयों में से शब्द और रूप काम कहे जाते हैं। यहाँ पर भी शुभ विशेषण समझना चाहिए अर्थात् शुभ शब्द और शुभ रूप ये दोनों सुख का कारण होने से सुख माने गए हैं।

(५) भोग– पाँच इन्द्रियों के विषयों में से गन्ध, रस और स्पर्श भोग कहे जाते हैं। यहाँ भी शुभ गन्ध शुभ रस और शुभ स्पर्श का ही ग्रहण है। इन तीनों चीजों का भोग किया जाता है इस लिए ये भोग कहलाते हैं। ये भी सुख के कारण हैं। कारण में कार्य्य का उपचार करके इन को सुख रूप माना है।

(६) सन्तोष– अल्प इच्छा को सन्तोष कहा जाता है। चित्त की शान्ति और आनन्द का कारण होने से सन्तोष वास्तव में सुख है। जैसे कहा है कि–

आरोग्गसारिअं माणुसत्तणं, सच्चसारिओ धम्मो।
विज्जा निच्छयसारा सुहाइं संतोससाराइं॥

अर्थात्– मनुष्य जन्म का सार आरोग्यता है अर्थात् शरीर की नीरोगता होने पर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयों में से किसी भी पुरुषार्थ की साधना की जा सकती है। धर्म का सार सत्य है। वस्तु का निश्चय होना ही विद्या का सार है और सन्तोष ही सब सुखों का सार है।

(७) अस्तिसुख– जिस समय जिस पदार्थ की आवश्यकता हो उस समय उसी पदार्थ की प्राप्ति होना यह भी एक सुख है

क्योंकि आवश्यकता के समय उसी पदार्थ की प्राप्ति हो जाना बहुत बड़ा सुख है।

(८) शुभ भोग–अनिन्दित (प्रशस्त) भोग शुभ भोग कहलाते हैं। ऐसे शुभ भोगों की प्राप्ति और उन काम भोगादि विषयों में भोग क्रिया का होना भी सुख है। यह सातावेदनीय के उदय से होता है इस लिए सुख माना गया है।

(९) निष्क्रमण–निष्क्रमण नाम दीक्षा (संयम) का है। अविरति रूप जंजाल से निकल कर भगवती दीक्षा को अङ्गीकार करना ही वास्तविक सुख है, क्योंकि सांसारिक झंझटों में फंसा हुआ प्राणी स्वात्म कल्याणार्थ धर्म ध्यान के लिए पूरा समय नही निकाल सकता तथा पूर्ण आत्मशान्ति भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः संयम स्वीकार करना ही वास्तविक सुख है क्योंकि दूसरे सुख तो कभी किसी सामग्री आदि की प्रतिकूलता के कारण दुःख रूप भी हो सकते हैं किन्तु संयम तो सदा सुखकारी ही है। अतः यह सच्चा सुख है। कहा भी है–

नैवास्ति राजराज्यस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य॥

अर्थात्–इन्द्र और नरेन्द्र को जो सुख नहीं है वह सांसारिक झंझटों से रहित निर्ग्रन्थ साधु को है। एक वर्ष के दीक्षित साधु को जो सुख है वह सुख अनुत्तर विमानवासी देवताओं को भी नहीं है। संयम के अतिरिक्त दूसरे आठों सुख केवल दुःख के प्रतीकार मात्र हैं और वे सुख अभिमान के उत्पन्न करने वाले होने से वास्तविक सुख नहीं हैं। वास्तविक सच्चा सुख तो संयम ही है।

(१०) अनाबाध सुख– आबाधा अर्थात् जन्म, जरा (बुढ़ापा), मरण, भूख, प्यास आदि जहाँ न हों उसे अनाबाध सुख कहते हैं। ऐसा सुख मोक्षसुख है। यही सुख वास्तविक एवं सर्वोत्तम सुख

है। इससे अधिक कोई सुख नहीं है। जैसा कि कहा है—

न वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं न वि य सव्व देवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं; अव्वाबाहं उवगयाणं॥

अर्थात्— जो सुख अव्याबाध स्थान (मोक्ष) को प्राप्त सिद्ध भगवान् को है वह सुख देव या मनुष्य किसी को भी नहीं है। अतः मोक्ष सुख सब सुखों में श्रेष्ठ है और चारित्र सुख (संयम सुख) सर्वोत्कृष्ट मोक्ष सुख का साधक है। इस लिए दूसरे आठ सुखों की अपेक्षा चारित्र सुख श्रेष्ठ है किन्तु मोक्ष सुख तो चारित्र सुख से भी बढ़ कर है। अतः सर्व सुखों में मोक्ष सुख ही सर्वोत्कृष्ट एवं परम सुख है। (ठाणांग, सूत्र ७३७)

वन्दे तान् जितमोहसंयमधनान् साधूत्तमान् भूयशः।
येषां सत्कृपया जिनेन्द्रवचसां विद्योतिकेयं कृतिः॥
सिद्धयक्षाङ्कखौ सिते मृगशिरोजाते सुमासे तिथौ।
पञ्चम्यां रविवासरे सुगतिदा पूर्णा वृषोल्लासिनी॥
अयं श्री जैनसिद्धान्त बोल संग्रह नामकः।
ग्रन्थो भूयात् सतां प्रीत्यै धर्ममार्गप्रकाशकः॥

मोहरहित संयम ही जिनका धन है ऐसे उत्तम साधुओं को मैं वन्दना करता हूँ जिनकी परम कृपा से जिन भगवान् के वचनों को प्रकाशित करने वाली, धर्म का विकास करने वाली तथा सुगति को देने वाली यह कृति मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी रविवार सम्वत् १९९८ को सम्पूर्ण हुई।

धर्म के मार्ग को प्रकाशित करने वाला 'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' नामक यह ग्रन्थ सत्पुरुषों के लिए प्रीतिकर हो।

॥ इति श्री जैनसिद्धान्त बोल संग्रहे तृतीयो भागः ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

उपासक दशांग के आनन्दाध्ययन में नीचे लिखा

मे भंते कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थिपरिग्गहियाणि वा वंदित्तए वा नमंसि

अर्थात्– हे भगवन् ! मुझे आज से लेकर अन्य अथवा अन्य यूथिक के द्वारा सन्मानित या गृहीत कल्पता । इस जगह तीन प्रकार के पाठ उपलब्ध होते

(क) अन्न उत्थिय परिग्गहियाणि ।

(ख) अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि चेइया

(ग) अन्न उत्थिपरिग्गहियाणि अरिहंत

विवाद का विषय होने के कारण इस विषय नीचे लिखे अनुसार है—

[क] ' **अन्न उत्थियपरिग्गहियाणि** '

कलकत्ता द्वारा ई० सन् १८६० में प्रकाशित अंग्रेजी में है । इसका अनुवाद और संशोधन डाक्टर ए० एफ् ह्यूर्विजन, फेलो आफ कलकत्ता युनिवर्सिटी, आनरेरी एसिआटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने किया है । उन्हों उल्लेख किया है जिन का नाम A. B. C D. और E. में (ख) पाठ है। C. और E में (ग)।

हार्नले साहेब ने **'चेइयाइं'** और **'अरिहंतचे** प्रक्षिप्त माना है । उनका कहना है– **'देवयाणि'** और सूत्रकार ने द्वितीया के बहुवचन में **'णि'** प्रत्यय लगाया है कि यह शब्द बाद में किसी दूस